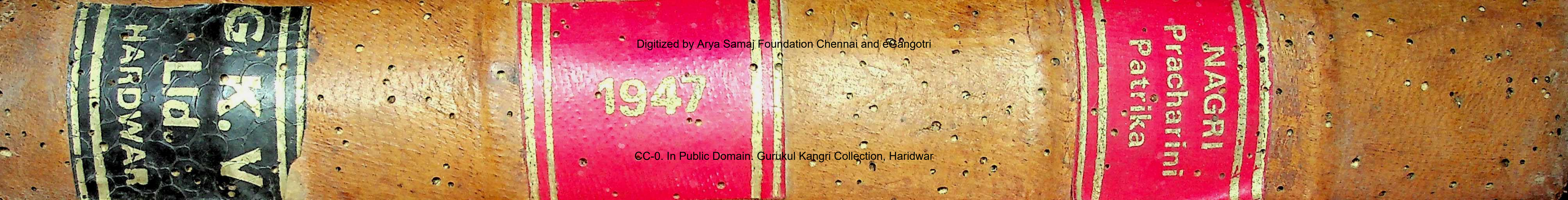

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
११०७२०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

[संवत् २०२३ वि०]

वर्ष ७१ अंक २

संपादकमंडल

डा० संपूर्णानंद
डा० नगेंद्र
श्री करुणापति त्रिपाठी
संयो०, संपादकमंडल

श्री कमलापति त्रिपाठी
श्री शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र'
श्री सुधाकर पांडेय
संयो०; पत्रिका एवं
सह संयो०, संपादकमंडल

काशी नागरी प्रचारिणी सभा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पत्रिका के उद्देश्य

१—नागरी लिपि और हिंदी भाषा का संरक्षण तथा प्रसार।
२—हिंदी साहित्य के विविध अंगों का विवेचन।
३—भारतीय इतिहास और संस्कृति का अनुसंधान।
४—प्राचीन अर्वाचीन शास्त्र, विज्ञान और कला का पर्यालोचन।

सूचना

१—प्रति वर्ष, सौर वैशाख से चैत्र तक पत्रिका के चार अंक प्रकाशित होते हैं।

२—पत्रिका में उपर्युक्त उद्देश्यों के अंतर्गत सभी विषयों पर सप्रमाण और सुविचारित लेख प्रकाशित होते हैं।

३—पत्रिका के लिये प्राप्त लेखों की प्राप्तिस्वीकृति शीघ्र की जाती है और उनकी प्रकाशन संबंधी सूचना एक मास में भेजी जाती है।

४—लेखों की पांडुलिपि कागज के एक ओर लिखी हुई, स्पष्ट एवं पूर्ण होनी चाहिए। लेख में जिन ग्रंथादि का उपयोग या उल्लेख किया गया है, उनका संस्करण और पृष्ठादि सहित स्पष्ट निर्देश होना चाहिए।

५—पत्रिका में समीक्षार्थ पुस्तकों की दो प्रतियाँ आना आवश्यक है। उनकी प्राप्तिस्वीकृति पत्रिका में यथासंभव शीघ्र प्रकाशित होती है। परंतु संभव है, उन सभी की समीक्षाएँ प्रकाश्य न हों।

नागरीप्रचारिणी सभा, काशी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

वर्ष ७१
संवत् २०२३
अंक २

संपादकमंडल

श्री डा० संपूर्णानंद
श्री कमलापति त्रिपाठी
श्री डा० नगेंद्र
श्री शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र'
श्री करुणापति त्रिपाठी
संयोजक, संपादकमंडल

श्री सुधाकर पांडेय
संयोजक पत्रिका एवं
सहसंयोजक, संपादकमंडल

वार्षिक मूल्य १०.००
इस अंक का २.५०

काशी नागरी प्रचारिणी सभा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विषयसूची

१. पूर्वांचलीय रामायणों एवं मानस में सीता
—डा० रमानाथ त्रिपाठी ... १२६

२. काव्यादर्श का रचनाकाल—श्री जयशंकर त्रिपाठी ... १४६

३. हिंदी अंगरेजी कोशकार्य और पारिभाषिक शब्दनिर्माण
—डा० गोपाल शर्मा ... १७२

४. श्वेतांबर वीरचंद्ररचित मातृका शृंगार गाथाकोश
—श्री अगरचंद नाहटा ... १६७

५. जवाहर राय बिलग्रामी—श्री शैलेश जैदी ... २०२

६. पृथ्वीराज - संयोगिता - विवाह : ऐतिहासिक महत्व
—डा० अशोककुमार ... २०७

७. शुद्ध खड़ी बोली का एक प्राचीन रूप
—डा० गोपाल राय २१६

८. जायसी की रचनाएँ और उनका नामकरण
—श्री शहाब सरमदी ... २२३

पौराणिकी

भक्ति सतसई—स्व० पं० किशोरीलाल गोस्वामी
(२२८ से ४३४ दोहे) ... २३१

विमर्श

प्रतापरासो-एक अवलोकन—श्री सौभाग्यसिंह शेखावत ... २४५

विविध

हरियाणा की महिला का पहनावा—श्री विष्णुदत्त भारद्वाज २५४

हाड़ौती बोली का स्वरूप—श्री कन्हैयालाल शर्मा ... २५८

चयन तथा निर्देश २६५

समीक्षा

सवेरा संघर्ष गर्जन—श्री कृष्णदेवप्रसाद गौड़ ... २७३

अस्तंगता ,, ... २७४

वह नन्हा सा आदमी ,, ... २७६

अठारह सूरज के पौधे—श्री विप्र त्रिपाठी ... २७७

गीतों का ताजमहल ,, ... २७६

पड़ोसी देशों में—श्री विश्वनाथ त्रिपाठी ... २७६

कुछ शब्द कुछ रेखाएँ ,, ... २८०

तार सप्तक—श्री क्षणदा ... २८१

स्मृतियों और कृतियों—श्री शंभुनाथ वाजपेयी ... २८६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

110720
Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
110720

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

वर्ष ७१] श्रावण, संवत् २०२३ [अंक २

पूर्वांचलीय रामायणों एवं मानस में सीता

रमानाथ त्रिपाठी

•

हमारे देश की कृषिप्रधान महत् संस्कृति बहुत कुछ नारी की निष्ठा और सहज प्रेम पर आधारित है। हमारी संस्कृति में नारी से जो अपेक्षा की जाती है तथा समाज में उसका जो स्थान है, वह सीता के चरित्र से स्पष्ट है। सीता पतिव्रत की परिभाषा है। वाल्मीकि की सीता कुलीना, तेजोमयी पतिव्रता, स्नेहमयी सरला वधू है।

जीवन में आई हुई घटनाएँ ही व्यक्ति के चरित्र को कसौटी पर कसकर उसके खरेपन को उभारती हैं। सीता के जीवन में मुख्यतया चार प्रसंग आए हैं जहाँ उनके चरित्र का विकास देखा जाता है। १–राम के लिये संकट का अवसर, २–मारीच की पुकार से राम के प्रति आशंका और हरण, ३–अग्नि परीक्षा, ४–निष्कासन।

राम ने दीर्घ वियोग की सूचना देने के लिये सीता को उनके बड़प्पन की याद दिलाकर, उन्हें **कुले महति सम्भूते धर्मज्ञे धर्मचारिणि**[1] कह कर ही वनवास की सूचना दी थी तथा उनसे अयोध्या में रहने के लिये कहा था। सीता प्रीतियुक्त क्रोध प्रकट कर **प्रणयादेव संक्रुद्धा**[2] बोली थी, 'वीर मुझे निःशंक होकर साथ ले चलो, मैंने कोई पाप नहीं किया है। मुझे सभी अवस्थाओं में पति के चरणों की छाया ही हितकर है—

१. वा० रा०, २–२६–२०।
२. वही, २–२७–१।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नय मां वीर विस्रब्धः पापं मयि न विद्यते। २-२७-७
सर्वावस्थागता भर्तुः पादच्छाया विशिष्यते॥ २-२७-८

सीता ने सभी संबंधों के आगे पति का नाता सर्वोपरि माना। पति के सांनिध्य में उनकी सेवा करते हुए वन के अनेक कष्टों को उन्होंने तुच्छ समझा। किंतु जब राम निरंतर उन्हें अयोध्या में रहने की शिक्षा देते रहे तो उन्होंने डरकर काँपते हुए भी प्रेम और अभिमान के साथ राम का उपहास कर कहा[3]—

किं त्वाऽमन्यत वैदेहः पिता मे मिथिलाधिपः।
रामं जामातरं प्राप्य स्त्रियं पुरुषविग्रहम्॥ २-३०-३

(यदि मेरे पिता मिथिलेश यह जानते कि तुम आकारमात्र के पुरुष हो, व्यवहार में स्त्री हो तो वे कभी मेरा विवाह तुम्हारे साथ कर तुमको अपना जामाता न बनाते।)

अनुसूया से उन्होंने कहा था, पाणिग्रहण के समय अग्नि के समीप मेरी माँ ने जो उपदेश दिए थे, वे मुझे याद हैं।[4]

मारीच के मुख से राम की कपट-कातरध्वनि सुनकर पतिव्रता सीता घबड़ा गई थीं। राम संकट में थे, तुरंत सहायता मिलनी चाहिए। किंतु राम की शक्ति के अटल विश्वासी लक्ष्मण हिल नहीं रहे थे, तब व्याकुल मन की असाधारण स्थिति में विवेक का संतुलन खोकर ही सीता बोल पड़ी थीं—तेरा स्वभाव खोटा है, तू मेरे लिये आया है, या छिपकर भरत का भेजा हुआ है। मैं तेरी साध पूरी नहीं होने दूँगी। मैं इंदीवरश्याम एवं कमलनयन राम को छोड़कर किसी क्षुद्रजन को पति बनाने की अपेक्षा प्राण दे दूँगी।[5]

संन्यासी रावण को देखकर सीता ने आदर्श गृहवधू के शील का परिचय देकर उसका स्वागत किया। रावण ने सीता जैसी रूपवती नारी इस महीतल पर नहीं देखी थी—**नैवं रूपा मया नारी दृष्टपूर्वा महीतले।**[6] वह सीता के उन्नत, वृत्ताकार,

३. सा तमुत्तसंविग्ना सीता विपुलवक्षसम्।
प्रणयाच्चाभिमानाच्च परिचिक्षेप राघवम्॥ २-३०-२।
४. पाणिप्रदान काले च यत्पुरा अग्निसन्निधौ।
अनुशिष्टा जनन्यास्मि वाक्यं तदपि मे धृतम्॥ २-११८-८।
५. वा० रा०, ३-४५।
६. वही, ३-४६-२१।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

40720

सटे हुए, कंपित, पीन, तने हुए, सुंदर कोमल और लाल फल के समान स्तनों[7] की चर्चा करता हुआ कह रहा था—'कांते, जिस प्रकार नदी जल के वेग से कूल का हरण करती है, उसी भाँति तू मेरे मन को हर रही है—**मनो हरसि मे कांते नदीकूलमिवाम्भसा।**[8] सीता ने ऐसे संन्यासी का अत्यंत आदर करते हुए परंपरानुसार आसन और अर्घ्य आदि वस्तुएँ प्रदान कीं। वे डर रही थी कि कहीं संन्यासी शाप न दे दे; किंतु ऐसे कुछ अनोखे संन्यासी से उन्हें डर अवश्य लग रहा था, तभी वे वन के उस मार्ग की ओर भी देख रही थीं जिससे राम और लक्ष्मण गए हुए थे।

रावण के वास्तविक रूप को समझ कर सीता ने तेजोदीप्त स्वर में रावण को फटकारा—'तू शृगाल होकर सिंहिनी की कामना करता है तू राम की भार्या को प्राप्त कर मानों प्रज्वलित अग्नि को वस्त्र में बाँधना चाहता है।'

अशोकवन में सीता ने राक्षसियों के फुसलाने धमकाने पर कहा था—मैं निशाचर को बाएँ पैर से भी नहीं छुऊँगी, फिर मैं रावण जैसे विगर्हित की कामना कैसे कर सकती हूँ?

चरणेनापि सव्येन न स्पृशेयं निशाचरम्।
रावणं किं पुनरहं कामयेयं विगर्हितम्॥ ५–२०–८

सीता का पतिव्रत लादा हुआ पतिव्रत नहीं था। रावण बलिष्ठ, सुंदर और प्रतापी राजा था। सीता ने चाहा होता तो वनवासी, असहाय राम को छोड़कर उसे ही स्वीकार कर लिया होता। किंतु अग्नि की निर्धूम-शिखा सी सीता अपने सत्य पर दृढ़ रही।

रावणवध का समाचार प्राप्त कर हर्ष से स्तब्ध रह जानेवाली सीता ने मैले कुचैले रूप में तुरंत ही राम को देखने की अभिलाषा प्रकट की थी, किंतु विभीषण के द्वारा राम का आदेश सुनकर उसने स्नान प्रसाधन किया। उनका विश्वमोहन रूप देखकर वानर रीछ डोले के आसपास एकत्र होकर मार्ग अवरुद्ध करने लगे। विभीषण ने उन्हें बेंत से पीटना प्रारंभ किया। राम ने सीता को पर्दा रहित होकर आने के लिये कहा। लाज के मारे सिकुड़ती हुई सीता आईं और आर्यपुत्र कहकर रो पड़ीं। वे विस्मय, हर्ष और प्रेम पूर्वक राम का तमतमाया हुआ मुख देख रही थीं। प्रिय के मुख से प्यारे वचन सुनने की आशा लगाने वाली मैथिली ने सुना—रावण की गोद में

७. एतावुप चितौ वृत्तौ संहतौ संप्रविलपतौ।
पीनोन्नतमुखौ कान्तौ स्निग्धौ तालफलोपमौ। ३–४६–१९।

८. वा० रा०, ३–४६–२१।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिभ्रष्ट हुई तथा उसकी कुदृष्टि से देखी हुई तुमको मैं बड़े कुल में उत्पन्न होकर कैसे ग्रहण करूँ।

रावणाङ्क परिभ्रष्टा दृष्टा दुष्टेन चक्षुषा।
कथं त्वां पुनरादद्यां कुलं व्यपदिशन् महत्॥ ६-११८-२०

इतना ही नहीं, राम ने यह भी कहा, 'दसों दिशाएँ खुली हैं, जहाँ चाहो चली जाओ। लक्ष्मण, विभीषण, सुग्रीव आदि जिसे चाहो उसे स्वीकार कर लो। मैंने तो रावण का बध इसी लिये किया कि मेरे पवित्र इक्ष्वाकु वंश पर कलंक न रह जाए। मैं तुम्हें स्वीकार नहीं कर सकता।' सीता की वेदना का छोर नहीं था, उन्होंने भी उत्तर दिया–तुम प्राकृत जनों जैसी बातें कर रहे हो। मैं वैसी नहीं हूँ जैसा तुम समझ रहे हो। यदि तुम्हें यही करना था तो हनुमान से पहले ही कहला देते, मैं क्यों प्राणधारण करती।'

अग्निशुद्धा सीता सहजरूप से गृहिणीधर्म पालन कर रही थी। राम सीता के कारण लोकापवाद से डर गए और उन्होंने बेचारी को बनदर्शन के बहाने लक्ष्मण के द्वारा घोर वन में निर्वासित किया। ऐसे महान संकटकाल में भी राम की गर्भस्थ थाती की रक्षा के लिये उन्होंने प्राणत्याग नहीं किया। राम पर उन्होंने दोषारोपण न कर उनके प्रति शुभकामना ही भेजी।

उन्होंने यही कहा––विधाता ने मेरे शरीर को दुःख भोगने के लिये ही बनाया है।

पारस्परिक अंतर

वाल्मीकि की यही तेजस्विनी सीता पूर्वांचलीय तीनों रामायणों में गृहीत हुई, इसी लिये इन ग्रंथों में सीता की तेजपूर्ण उक्तियाँ हैं। मानस में उसकी तेजस्विता तो है किंतु किसी के प्रति भी वे कटु वचन नहीं बोलतीं। उनकी तेजस्विता पतिव्रत की है। राम या लक्ष्मण के प्रति उन्होंने कभी कटुवचन नहीं कहे।

वाल्मीकि की सीता उत्तम कुलवधू है। भाषा रामायणों में वे लक्ष्मी की अवतार भी हैं, इसी लिये वे जगन्माता के रूप में चित्रित हुईं। पूर्वांचलीय रामायणों में सीता के मानवी चरित्र का विकास है। उनमें सीता की आध्यात्मिक गरिमा नहीं है। मानस की सीता के चित्रण में लेखक बहुत सजग है। उसने राम की आद्याशक्ति का चित्रण अधिक पवित्रता के साथ किया है।

मध्ययुगीन नारी अपेक्षाकृत कुछ अधिक 'अबला' हो गई थी। उसका यह रूप ही आलोच्य रामायणों में है।

इसके अतिरिक्त प्रत्येक लेखक की सीता की अपनी बिशिष्टता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

असमिया रामायण की सीता

इस रामायण की सीता पर वाल्मीकि की सीता की छाप ही गहरी है। सीता को अपने दीर्घबाहु और महावीर सुस्वामी पर गर्व है। सीता की अभिलाषा है कि जन्म जन्म में राम उनके स्वामी हों और कौशल्या सास हों।[९]

सीता ने राम के अभिषेक का समाचार ज्ञात कर अतीव हर्ष का अनुभव किया था। किंतु गोधूलि के मलिन सूर्य की तरह राम को श्रीहीन देखकर उन्हें अत्यंत चिंता हुई। वे राम की प्रदक्षिणा कर हाथ जोड़कर उनके पीछे खड़ी हो गई। राम से दुःखद समाचार ज्ञात कर वे भूमि पर पछाड़ खाकर गिर पड़ीं। अत्यंत भयभीत होकर उन्होंने राम के वस्त्रांचल का छोर पकड़कर गिड़गिड़ाकर कहा, 'मत जाओ प्रभु'—

न याइबा प्रभु, बुलिया जानकी, आंचलंत धरिलंत।—छं० १८२५

सीता ने राम के प्रति कटु वचन नहीं कहे। माधवकंदली ने सीता को संयमित किया है, किंतु शंकरदेव ने सीता को उत्तरकांड में अत्युग्र दिखाया है। यहाँ सीता ने दीन होकर पूछा—क्या मुझे शारीरिक सौंदर्य की दृष्टि से हीन देखा है, किस कारण प्रभु मुझे उपेक्षित कर जा रहे हैं।

कमन अंगत मोक हीन देखिलाहा।
कि कारणे मोक प्रभु उपेक्षिया याहा॥ १८४१

सीता ने अपना तेज केवल इस रूप में प्रकट किया है—तुम्हारे छोड़ जाने पर मेरा जीवन निष्फल है, या तो मैं कटार का आश्रय लूँगी या विषपान कर लूँगी।[१०] प्रिय के सांनिध्य में उन्होंने हिंस्र पशुओं के भय की भी परवा नहीं की। राम के साथ वनसौंदर्य देखने की अभिलाषा से भी वे राम के साथ जाने का हठ करने लगीं।

लक्ष्मण से बोलते समय अवश्य ही सीता उग्र हो गई थीं—तेरा शरीर बाघ का है और मुँह हरिण का। तेरे मुख में अमृत है और तेरा चित्त विषघट है। रे चंडाल, भरत की घूस खाकर और चाटुकारिता कर राम के साथ आया है। स्वामी के बिना प्राण दे दूँगी, किंतु परपुरुष को चरण से भी नहीं छुऊँगी। तू इतर होकर मेरी कामना करता है—३१०७-१२। सीता के उग्र पतिव्रत की प्रतिक्रिया स्वरूप ही ये वचन उन्मादग्रस्त अवस्था में कहे गए हैं, अन्यथा यही सीता

९. शुनियो गोसानी बोलो सीता परबासू।
जन्मे जन्मे राम स्वामी तुमि हैबा शाशु॥—१६४३

१०. तुम एरि गैले मोरि जीवन निष्फल।
कटारत मर नुहि भुंजिबो गरल॥—१८६२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रावण को धमकाकर कहती है कि लक्ष्मण के बाणों की चोट से तू प्राण त्यागेगा। अयोध्या जाने पर भी उन्होंने लक्ष्मण के प्रति सद्भाव प्रकट कर कहा था—देवर के प्रसाद से सभी आपत्तियों से उद्धार हो गई—

आपद तरिलो सबे देवर प्रसादे।–६६५५।

सीता ने रावण को गधा बताकर कहा था, सिंह को छोड़कर तेरा भजन क्यों करूँ--**गाधक भजिबो केन सिंहक एरिया।**[11] तू ज्वलंत अग्नि को वस्त्र में बाँधना चाहता है--**ज्वलंत अग्निक बेटा बस्त्रे बंधिनेस।**[12] उन्होंने राम के प्रति अपनी दृढ़ निष्ठा प्रकट कर कहा, मैं परपुरुष की छाया चरणों से भी नहीं छुऊँगी—**चरणे न छुइवो परपुरुषर छाया।**[13] मुझे काम भाव से देखने से तेरी आँखें भी न निकल पड़ीं। राम की भार्या से लाघव बचन बोलने से तेरी जीभ खिसक कर न गिर गई--

मोक काम भावे, चाहंते रावण, चक्षुयो बाज न भैलो।
रामर भार्य्याक लाघव बोलंते जिह्वायो खसि न गैल।। ४१७६

राक्षसियों से सताए जाने पर उन्होंने रावण के ऐश्वर्य की उपेक्षा कर कहा—रावण भले ही त्रैलोक्य का राजा हो तथापि उसकी छाया पर पैर नहीं रखूँगी।

त्रैलोक्यर राजा होबे यद्यपि रावण।
तथापि छायात तार नेदिबो चरण।। ४२१६

कुलवधू सीता को वनप्रवास के समय चीर पहनना नहीं आया था और वेचारी राम का मुँह देखने लगीं थीं। गंगातीर पर लक्ष्मण द्वारा निर्मित तृणशय्या पर राम के पास बैठने में वे लजा गई थीं। अशोक वन में इंद्र द्वारा परमान्न देने पर उसके तीन भाग कर दो भाग राम लक्ष्मण को समर्पित कर तब उन्होंने ग्रहण किया था। रावण से बात करते समय वे पीठ दे लेती थीं।

रावणक लाजे, भये पिठि दिया, सीताये दिला उत्तर। ४१३७

हनुमान से भेंट होने पर उन्होंने राम की कुशल के साथ ही उनके शयन, स्नान और भोजन के विषय में भी जिज्ञासा की—

सार करि कथा मोत कह हनुमंत।
मोहोर कि स्वामी राम कुशले आछंत।।

११. अ० रा०, ३१६१।
१२. वही, ३१३५।
१३. वही, ३१६२।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किमन शयन स्नान भोजन करंत।
किबा चिंता करि मोक प्रभु सुमिरंत ॥[14]

लंका से वे हनुमान की पीठ पर जाने के लिये तयार नहीं हुई। मुझे सारा जगत सती मानता है। परपुरुष का अंग कैसे छुऊँ। यदि कहो कि रावण हर कर ले आया तो मैं पराधीन स्त्री जाति की हूँ, जो स्वतंत्र नहीं है—

मइ शांतो कन्या हेन जानय जगते।
पर पुरुषर अंग छुइबो केन मते॥
बुलिब रावण यिटो आनिलेक हरि।
स्त्री जाति पराधीन नोहे स्वतंतरी ॥[15]

अग्निपरीक्षा के समय सीता की दयनीय स्थिति का मार्मिक चित्रण है। उनके डोले का पर्दा हटा दिया गया, डर के कारण सीता के नेत्रों से आँसू झरने लगे। अलंकार की रुनझुन के साथ वे किसी ओर न देखती हुई और अपने शरीर को छिपाती हुई राम के पास पहुँचीं। लाज, भय को छोड़कर स्वामी को अत्यधिक स्नेह से देखने लगीं। अपने को शुद्ध जानकर धैर्य धारण किया। चिरकाल से देखने की अभिलाषा लेकर वे राम की ओर कटाक्ष से देखती हुई एक ओर खड़ी रहीं।[16]

राम ने महाक्रोध प्रकट कर कटु वचन कहे। सीता ने धीरे धीरे कहा—मैंने उत्तम कुल में जन्म लिया, पिता ने महत् कुल में ब्याह दिया। तुम मुझे तुच्छ नारी के समान देखते हो और नट की नारी के समान अन्य को दे देना चाहते हो। पापिष्ठ रावण मुझे हर लाया। मैं पराधीन स्त्री जाति हूँ जो स्वतंत्र नहीं है।[17] तुम जैसी शंका करते हो, मैं वैसी नहीं हूँ। देवता, धर्म और पृथ्वी को मैं साक्षी और प्रमाण कर कह रही हूँ।'

१४. अ० रा०, ४२८२-३।
१५. वही, ४३००-१।
१६. वही, ६४६२-६४७२।
१७. उत्तमकुलत आमि जनम लभिलों।
महत कुलत मोक बापे बिहा दिला॥ ६४८२
आमाक इतर नारी सम देखिलाहा।
नटर नटिनी येन आनक दिलाहा॥
पापिष्ठ रावण मोक आनिलेक हरि।
तिरी जाति पराधीन नहीं स्वतंतरी॥ ३४८३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तुमि येन शंकि आमिं नहों हेन ठान।
देव धर्म साक्षी हुइबा पृथिबी प्रमाण ॥ ६४८४

सत्य ही पुरुष कितना कठोर होता है, वह पत्नी के एक दिन के भी गुणों का स्मरण नहीं करता, ऐसा निर्दय हो जाता है। सीता का यह कथन कितना वेदनासिक्त है—

न सुमिरा मोर एक दिवसर गुण।
निर्दय पुरुष जाति किनों निदारुण ॥ ६४८६

उत्तरकांड शंकरदेव ने लिखा। शंकरदेव ने पतिपरित्यक्ता अभागिनी नारी की व्यथा पहचानी है। उन्होंने कंदली की सीता से साम्य रखते हुए भी उनकी प्रतिक्रिया एवं उनके सात्विक रोष का वर्णन किया है। सीता का यह निःसहाय किंतु तेजोमय रूप पाठकों को रुला देता है। वे राम के प्रति अत्यधिक कटु हो गई हैं। उनकी कटुता बिल्कुल स्वाभाविक है। ऐसा मार्मिक वर्णन तो वाल्मीकि अथवा अन्य पूर्वांचलीय रामकथाकार भी नहीं कर सके हैं।

लक्ष्मण ने जब उन्हें घोर वन में पहुँचाकर बताया कि वे राम की आज्ञा से निर्वासिता हुई हैं तो उन्होंने रोते हुए लक्ष्मण को सांत्वना बँधाई। किंतु वे स्वयं भी तो अकुला गईं—ऐसे घोर वन में एक अबला नारी गर्भावस्था में कहाँ जाए, किस दिशा में जाए—

कौन दिशे यात्रों एबे न पात्रों उद्दिस ॥ ६७१६

राम के भेजे हुए चार जन सुषेण, हनुमान, विभीषण और शत्रुघ्न सीता को वाल्मीकि आश्रम से लेने गए। सीता उनके साथ जाने को तयार नहीं हुईं। अयोध्या जाकर सुख भोग की उनकी इच्छा नहीं रह गई थी। वे बोलीं—अब मैं फिर यदि राघव की गृहिणी कहलाऊँ तो मुझसे बढ़कर निर्लज्ज नारी कौन होगी? मुझे मारने के लिये गर्भावस्था में त्याग कर अब राम किस साहस से मुझे ग्रहण करेंगे। दुर्जनों के कहने से उन्होंने मुझे निकाल दिया, मैं ऐसे स्वामी राम को अपना यम समझती हूँ।[१८]

ऋषि वाल्मीकि के वचनों का वे उल्लंघन न कर सकीं। उनके कहने से सीता लाज और अपमान से संकुचित होती हुई उनके पीछे पीछे सिर झुकाए और किसी ओर भी न देखती हुई चलीं। वाल्मीकि ने भरी सभा में कहा—मैं बाँह उठाकर समाज में शपथ कर रहा हूँ। मैंने करोड़ों जन्मों में जो भी सत्कर्म किए तथा इस जन्म में जो भी तप धर्म किए हैं वे सब नष्ट हो जायँ, यदि सीता दोषी हो।

१८. असम०, ६६६४-६।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वाल्मीकि की शपथ से राम संतुष्ट हुए किंतु सीता का क्रोध न गया। क्रोध तथा अपमान से उनका चित्त स्थिर नहीं था – **कोपे अपमाने आति चित्त नुहि थिर**[19], तभी वे कटु शब्द कह गईं--छल पूर्वक मुझे वन भेजा, गर्भ के दो पुत्रों को मारना चाहा, स्वामी के गुणवर्णन करते समय मेरा शरीर जलता है। ऐसे यम सदृश राम का मुख मैं कैसे देखूँ। दुर्जनों के कहने से मुझे वनवास दिया।[20]

सीता ने अगले जन्म में जनक, दशरथ, कौशल्या, भालू बंदर और लक्ष्मणादि भाइयों की क्रमशः पिता, श्वसुर, सास, पुत्रतुल्य सहायक और देवर होने की कामना की, साथ ही राम को पतिरूप में पाने की भी कामना की। पातालप्रवेश के पूर्व राम के प्रति शोक मोह से भर कर सीता ने राम की तीन चार परिक्रमा की, उनके चरणों की धूलि मस्तक पर मल कर कहा–दुःखी हृदय से मैंने जो कुछ कहा उसके लिये मुझे क्षमा करना। यह मेरा दुर्भाग्य ही है कि इस जन्म में तुम्हारे चरणों की सेवा न कर सकी।

हृदय खेदत, यि किछु बुलिलो इ दोष क्षमा आमाक।
तोमार चरण सेविबे न पाइलो मोरे से कर्म विपाक॥ ७०६३

अपने दोनों पुत्रों को झगड़ा न करने का उपदेश तथा अपनी आयु देकर उन्हें चिरंजीवी होने का आशीर्वाद प्रदान कर दुखिया सीता पातालप्रवेश कर गईं।

जयंत प्रसंग में असमिया लेखक सीता को मा (२४६३) कहता तो है किंतु सर्वत्र सीता के मोहक रूप का प्रभाव दिखाना ही लेखक का अभीष्ट है।

बंगला रामायण की सीता

इस ग्रंथ की सीता का पतिव्रत विवाह के समय से ही ज्ञात होने लगा था। उनके मन में राम के प्रति पूज्य भाव का उदय 'बासरघर' की प्रथा के समय से ही देखा जाता है, जब कि सखियों के परिहास स्वरूप राम उन्हें अँधेरे में हाथ पकड़ कर उठाते हैं। सीता चूड़ियाँ बजाकर संकेत करती हैं, हाथ यहाँ हैं। उन्हें भय है कि पति का हाथ कहीं उनके पैर पर न पड़ जाय।[21]

राम के बनवास का समाचार ज्ञात कर सीता ने साथ चलने का अनुरोध कर कहा– **स्वामी बिना स्त्रीलोकेर आर नाहि गति**—स्वामी के बिना स्त्री की अन्य

१९. वही, ७०७४।
२०. वही, ७०५९, ७०६०-६२, ६६।
२१. बं० रा०, पृ० ८७।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गति नहीं है। प्राणनाथ अकेले क्यों वन जायँ, दासी साथ चलेगी। तुम्हारे मुख को देखकर वन के सैकड़ों दुःखों का भी मुझे अनुभव नहीं होगा। राम ने साथ लेना स्वीकार नहीं किया, तब सीता कुपित होकर बोलीं—पंडित होकर निर्बोध की तरह बोलते हो। पिता ने क्यों ऐसे को मुझे दिया जो अपनी स्त्री की रक्षा नहीं कर सकता, इसे कौन ऐसा धीर पुरुष है जो वीर कहे।

पंडित हइया बल निर्बोधर प्राय।
केन हेन जने पिता दिलेन आमाय॥
निज नारी राखिते ये करे भय मने।
देख तारे बीर बले कोन धीर जने॥ पृ० १०६

अनुसूया से बात करते समय उन्होंने दूर्वादलश्याम राम को ही अपनी समस्त संपत्ति बताते हुए उनसे आशीर्वाद माँगा था कि इन्हीं राम में मेरी गति रहे।[२२]

यहाँ भी सीता ने लक्ष्मण को सिर पीटकर गाली देते हुए कटु वचन कहे हैं—'सौतेला भाई कभी अपना नहीं होता। लगता है तुम्हारा मन मुझमें है। भरत ने राज्य छीन लिया, तुम नारी ले लो। भरत के साथ तुम्हारी साँठगाँठ हैं। अन्य पुरुष की ओर यदि मेरा मन गया तो गले में कटार मारकर प्राण दे दूँगी।'[२३] क्रोध के कारण ही सीता ने ऐसा कहा था। रावण के सत्यरूप का दर्शन कर उन्होंने लक्ष्मण के विक्रम पर अगाध विश्वास प्रकट कर पश्चाताप भी किया है कि हाय, मैंने लक्ष्मण को क्यों विदा किया?

रावण को दुराचारी, पापिष्ठ और दुर्जन कह कर उन्होंने डाँटा था। रावण द्वारा पैरों पर गिर कर अनुनय करने पर उन्होंने स्पष्ट कह दिया था—'मैं अधार्मिक नहीं हूँ, राम की पत्नी हूँ। मैं जनकराज की कन्या, कुलनारी हूँ। राम मेरे प्राणनाथ हैं, राम मेरे देवता हैं। राम को छोड़कर सीता और किसी को नहीं जानती।'

अधार्मिको नहि आमि रामेर सुंदरी।
जनक राजार कन्या आमि कुलनारी॥ पृ० २२६
राम प्राणनाथ मोर राम से देबता।
राम बिना अन्य जने नहि जाने सीता॥ पृ० २२७

राम की यह कुल नारी जिसे राम राज्यलक्ष्मी[२४] मानते थे, राम के विरह में अस्थिचर्मसार रह गई थी। खर से युद्ध में आहत राम के घावों को देखकर उसके

२२. बं० रा०, पृ० १३३।
२३. वही, पृ० १५०।
२४. वही, पृ० १५८।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नेत्रों से झर-झर आँसू बहने लगे थे! तब उसने कैकेयी के अनर्थ का स्मरण मात्र किया था, उसके प्रति कोई दुर्भाव प्रकट नहीं किया। रावण द्वारा अपहृता होकर समुद्र पार करते समय यह भीरु वधू समुद्र का विस्तार देखकर मूर्छित हो गई थी। इंद्र द्वारा भेजे गए परमान्न को तब ग्रहण किया जब भारतीय पत्नी की प्रथा के अनुसार राम को भोग लगा दिया। रावण को देखकर ही सीता अपने मैले वस्त्रों से शरीर को छिपाने लग जाती थीं।

पतिव्रत से तेजोमयी सीता अग्निपरीक्षा के समय मध्यकालीन छुईमुई नारी के समान ही आती हैं। राम द्वारा उपेक्षित होने पर उन्होंने कटुता प्रकट नहीं की। अपनी पवित्रता की सफाई दी—'प्रभु मेरे स्वभाव को अच्छी प्रकार जानते हो, फिर जानबूझ कर मेरी दुर्गति क्यों करते हो। मैं बाल्यकाल में खेलते समय भी पुरुष शिशुओं का स्पर्श नहीं करती थी। मैं दुष्टा नारी नहीं हूँ जो दूसरे को दान कर दो। सभा के मध्य मेरा इतना अपमान क्यों करते हो।

भाल मते जान प्रभु आमार प्रकृति।
जानिया शुनिया केन कर दुर्गति॥
बाल्यकाले खेलिताम बालक मिशाले।
स्पर्श नाहि करिताम पुरुष छाओयाले॥
दुष्टा नारी नहि आमि परे कर दान।
सभा विद्यमाने कर एत अपमान॥[२५]

'यदि यही करना था तो हनुमान से पहले ही कहला दिया होता, मैं प्राण त्याग देती।' राम के प्रति पूर्ण भक्ति का भाव रखकर सीता ने राम की सात बार और अग्नि की तीन बार परिक्रमा की और चिता पर बैठ गईं। अग्नि ने उन्हें राम को सौंपते हुए कहा—आज सती सीता का स्पर्श कर मेरा जीवन सफल हो गया।[२६]

बेचारी भोली सीता लक्ष्मण के साथ वन भेजी गईं। मार्ग के अपशकुन देखकर वे राम और कौशल्या के कुशल के लिये चिंतित हो उठी थीं। आँसू बहाते लक्ष्मण से संपूर्ण समाचार ज्ञात कर भी निरपराधिनी सीता ने जन्म-जन्मांतर में राम को ही पतिरूप में प्राप्त करने की कामना की।[२७]

२५. बं० रा०, पृ० ४४०–४४१।
२६. आजि हैते राम मोर सफल जीवन।
करिलाम आजि सती सीता परशन ॥४४३॥
२७. राम हेन स्वामी हउक जन्म-जन्मान्तारे। पृ० ५२६।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उनके दो पुत्रों का युद्ध रामसैन्य से हो रहा था। सीता को यह ज्ञात न था। सीता ने माता, पतिव्रता और क्षत्राणी के गुणों का एक साथ परिचय देते हुए अपने पुत्रों की मंगलकामना की—'यदि मैं काय-मनो-वाक्य से सती होऊँ तो तुम युद्ध में अप्रतिहत होओ।'[२८]

वस्तुस्थति का परिचय पाकर सीता मणिहारा भुजंगिनी के समान दौड़ पड़ी थीं। उन्हें चिंता थी कि अपने ही पुत्रों से आहत प्रभु का स्पर्श कुत्ते और सियार न करने पाएँ। उन्होंने सिर पीटकर अपने पुत्रों को धिक्कारा।[२९]

बारबार परीक्षा देने के लिये बुलाए जाने से सीता को क्षोभ हुआ, उन्होंने कहा—आज से तुम्हारा लज्जा-दुःख दूर हो जायगा। अब तुम जानकी का मुख नहीं देख सकोगे। निरंतर मुझे अपयश दे रहे हो, बारबार सभा में परीक्षा देने के लिये बुलाते हो।

सीता को क्षोभ है किंतु असमिया० के उत्तरकांड के लेखक शंकरदेव की सीता की कटुता उनमें नहीं है। वे जन्म जन्म में राम को ही पतिरूप में प्राप्त करने की कामना लेकर तथा अन्य किसी जन्म में ऐसी छीछालेदर न करने का अनुरोध कर राम की ओर देखती हुई पाताल में समा गईं। उस समय उन्होंने दोनों शिशुओं की ओर भी नहीं देखा—

जन्मे जन्मे प्रभु मोर तुमि हओ पति।
आर कोन जन्मे मोर करो ना दुर्गति॥
नाहि चाहिलेन सीता उभय छाओयाले।
श्रीरामे निरखिया प्रवेशे पाताले॥[३०]

बंगाली लेखक ने सीता को लक्ष्मी का अवतार माना है। किंतु स्वयं सीता अपनी शक्ति से अपरिचित हैं। उनमें मानस की सीता जैसी अलौकिता नहीं है। उन्हें साधारण मानवी के रूप में प्रस्तुत किया गया है। परशुराम प्रदत्त धनु को चढ़ाते समय वे राम से प्रसन्न नहीं हैं। उन्हें भय है, इस धनुष के चढ़ाने से राम को और एक नारी न मिल जाय। सीता को सौतिया डाह होता है। उड़िया की सीता को भी यही डाह होता है। बँगला की सीता मध्यकालीन उच्च जमींदार की कुलीना कन्या जैसी प्रतीत होती है।

२८. काय मनो वाक्ये यदि आमि हइ सती।
तो सबार युद्धे कारो नाहि अव्याहति॥ पृ० ५५८।

२९. बं० रा०, पृ० ५६५–६६।

३०. बं० रा० पृ० ५७३।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उड़िया रामायण की सीता

अन्य पूर्वांचलीय रामायणों की सीता के समान उड़िया रामायण की सीता के समक्ष भी वे परिस्थितियाँ आई हैं, जहाँ उन्होंने अपनी तेजस्विता का परिचय देकर कुछ कटु वचन कहे हैं। राम के प्रति कटु वचनों को कुछ संयमित किया गया है। उड़िया की सीता में कुछ मौलिकता और यथार्थता भी है। उनका पत्नीरूप विशेषतः पठनीय है।

आरंभ में सीता ने स्वयंवर के समय मन ही मन ब्रह्मा से जो विनय की है उससे वे महती नारी प्रतीत नहीं होतीं। वे कहती हैं– 'ब्रह्मा, मुझे निराश न करना। मेरे युवा तन ने बहुत दुःख भोगा है।[31] बंगला सीता के समान उन्हें भी उस समय सौतिया डाह हुआ है, जब राम परशुराम के दिए हुए धनुष पर प्रत्यंचा चढ़ाते हैं।[32] उनके चरित्र में साधारण नारीत्व भी देखा जाता है। वन-पथ पर चलते चलते वे शवर-जाति की स्त्रियों से बात करने लगती हैं और राम लक्ष्मण बहुत आगे निकल जाते हैं। ऐसी नारी सुलभ मनोवृत्ति दिखाने के लिये राम उन्हें रोकते हैं।[33]

अन्य स्थलों पर सीता लज्जाशीला, चतुर पत्नी, कुलवधू, कुशल गृहिणी और दृढ़ पतिव्रता के रूप में दिखती हैं।

उनमें लज्जाभाव था। धनुभंग के पश्चात् राम की वधू हो जाने पर वे अपने पिता के सामने लजा गई थीं—**पितांकु देखिण सीता लाज लाज होइ**।[34] रावण को संन्यासी जानकर वे कुटिया में छिपकर लजा लजा कर बोली थीं –मेरे स्वामी घर में नहीं हैं, अन्यथा पूजा करती।[35]

राजा लोग यौवन ढल जाने पर अपनी ज्येष्ठा रानियों की उपेक्षा कर नई नवेली राजकुमारियों को ग्रहण करते रहते थे। चतुर सीता ने अपने क्षणिक यौवन और पुरुष की चंचल मनोवृत्ति से भलीभाँति परिचित होकर मधुशय्या के दिन राम से प्रतिज्ञा करा ली थी कि वे एक पत्नीव्रत का पालन करेंगे।[36]

३१. उड़िया०, १–५१।
३२. वही, २–१५।
३३. वही, २–५५।
३४. वही, १–१५५।
३५. वही, ३–३८।
३६. वही, १–२०३।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सीता अपने को राम की जन्मजन्मांतर की दासी मानती थीं—**जन्म जन्मान्तरे मुँ अठइ तोर दासी।**[३७] वे राम के बिना एक क्षण के लिये नहीं रह सकती थीं। राम के अंगों के लिये वे अपने को भस्म के समान मानती थीं।

मुहूर्तक निमिषक रहि ये न पाइ।
ए तुम्हर अंगर मुँ होइ थाइ छाइ॥ २—४०

राम का बनवास सुनकर साध्वी सीता साथ जाने को तैयार हुई। उन्होंने उपर्युक्त वचनों के साथ ही कहा—जिस दिन तुमने शिवधनुभंग किया, उसी दिन से तुम मेरे प्राणों को आकृष्ट कर मेरे हृदय में बसे हो।[३८] राम ने वन के कष्टों का वर्णन कर उन्हें छोड़ जाना चाहा तो उन्होंने तड़प कर कहा—पिता ने मुझे तुम्हें समर्पित किया है, मैं जन्म जन्म में तुम्हारे चरणों की दासी हूँ, मैं किसका मुँह देखकर रहूँगी। भली प्रकार जान लो, मैं निश्चय ही प्राण दे दूँगी।[३९]

वन के मध्य वे आदर्श गृहिणी देखी जाती हैं। सीता रसोई बनाकर और राम को स्नेहपूर्वक खिलाकर उन्हीं की जूठी पत्तल में खाती थीं। वे राम के चरण दबाया करतीं—**सीता श्रीरामङ्कर ये चापंति चरण।**[४०] हाथी द्वारा तोड़ी गई लकड़ियों को वन्यलता में बाँधकर नाव बनाई गई थी। उसमें बैठीं तो डर गईं। राम ने सहारा देकर गोद में बिठाया। वटवृक्ष के नीचे स्थित होकर भीरु कुलवधू सीता ने मंगलकामनाएँ की हैं। सीता ने वर माँगा—'मेरे स्वामी त्रिभुवन के राजा हों। मैं कभी विधवा न होऊँ, सदा रूपवती रहूँ।' उन्होंने दशरथ, जनक और अयोध्या के कल्याण की कामना की। राम सुन सुन कर हँस दिए।[४१] चित्रकूट में राम की भीरु प्रिया ने अनेक केलियों से उन्हें प्रसन्न किया। राम के साथ जल के छींटे फेंककर उन्होंने जलक्रीड़ा की, फिर खिलखिला कर वे बाहर निकल कर गेरू की शिला पर आ बैठीं। भीगी साड़ी के स्पर्श से भींगे हुए गेरू से राम ने उनके माथे पर बिंदी लगा दी। सामने बंदर को देख सीता डर कर राम से लिपट गईं और गेरू राम के अंगों में लग गया। दोनों हँस पड़े।

३७. उड़िया०, १–२०४।
३८. वही, २–४०।
३९. वही, २–४१।
४०. वही, २–५८ और ३–२१।
४१. वही, २–५७।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उड़िया० की सीता ने भी लक्ष्मण पर संदेह किया था—तुम मुझे भरत की गृहिणी बनाने के लिये आए हो और कपटपूर्वक नियम पाल रहे हो। तुम चांडाल और कुटिल हो।

रावण का प्रस्ताव सुनकर तेजस्विनी पतिव्रता सीता पहले तो डरकर काँप गईं, फिर कड़ककर बोलीं—सिंह की पत्नी को शृगाल नहीं हर सकता, तू भाग जा। रे चांडाल, पुरुषहीन घर में आकर तू असंस्कार वचन बोल रहा है। राम के बाण से तेरी मृत्यु होगी—

पुरुष नाहिं मोहर घरे तु पशिलु॥
असंस्कार वचन कहिलु कहु मोते।
आज रामचंद्र बाणे मरिबु नियते॥ ३-४०, ४१

हनुमान ने विरहिणी सीता को रामनाम की माला जपते देखा। वे कपाल पर दोनों हाथ रखकर दृष्टि नीचे किए रहतीं। उन बिम्बोष्ठी सीता का मुख दुःख से सूख गया था।[४२]

हनुमान ने सीता को पीठ पर बिठाकर उद्धार करने का प्रस्ताव किया था। मानिनी सीता ने इन कारणों से यह प्रस्ताव स्वीकार नहीं किया। १. इससे रावण जीता रहेगा, और स्वामी की प्रतिज्ञा पूरी नहीं होगी, २. वह चुरा लाया, तुम भी चुराओगे (यह अनीति है), ३. तुम छोटे हो (हनुमान ने अपना विराट् रूप दिखाया, तब सीता ने कहा), ४. जिस समय तुम लेकर चलोगे राक्षस पीछा करेंगे, ५. समुद्र देखकर मैं डर जाऊँगी, ६. परपुरुष का स्पर्श नहीं कर सकती, तब बेबसी थी, रावण बलात् हर लाया था।[४३]

अग्निपरीक्षा के समय राम ने सीता से वही व्यवहार किया जो वाल्मीकि के राम ने किया। वह उग्रता नहीं है, किंतु वचन वही हैं। सीता ने भी कहा—मुझे नटनारी समझकर बोल रहे हो। मैं दोनों कुलों में पवित्र हूँ। लक्ष्मण ने चिता तैयार कर दी, वे अपने चरित्र की दुहाई देकर अग्नि में इस प्रकार प्रवेश कर गईं जैसे कोई बहते पानी में चलता है।[४४]

४२. स्फटिकर जथामालि गोटि घेनिथाइ।
सर्वदा तहिं रे तारे नाम को जपइ।
कपालरे बेनि हस्त मेदिनीकि दृष्टि।
दुःखेण मुख शुखाइ अछि बिंब ओष्ठी॥ ५-८।

४३. उड़िया०, ५-२४।

४४. वही, ६-१११।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वन में अकेला छोड़ने पर सीता ने विलाप तो किया किंतु परिवार के सभी लोगों की चिंता भी की। लक्ष्मण से कहा—राम के नित्यकर्म ठीक से करा देना।[४५]

आश्रम से अयोध्या लौटते समय वे हाथ जोड़े हुए एवं अभिमान से सिर झुकाए हुए आईं।

करपत्र योड़ि ये आसइ देबी सती।
अभिमान भरे ये अछइ मुख पोति ॥ ७–१७८

उन्होंने अपमान न सहकर तथा अपना जीवन निस्सार समझ कर कहा—'श्री राम को छोड़ कर यदि मेरा मन और किसी में स्थिर हो, तो हे पृथ्वी तुम शीघ्र विदीर्ण हो जाओ। इस संसार का दुःख मैं सह नहीं पा रही हूँ।' इतना कहकर वैदेही राम का मुख न देखती हुई रो पड़ी।[४६]

उड़िया रामायण की सीता को भी कमला का अवतार मानकर जगन्माता कहा गया है किंतु सीता स्वयं याद नहीं रखतीं कि वे जगन्माता हैं।

त्रैलोक्यर ठाकुराणी जगतर आइ। ३–४३

उड़िया रामायण लेखक ने देवताओं के विराट् परिवार में सीता को हिंदू संयुक्त परिवार की आदर्श गृहिणी के रूप में भी चित्रित किया है।

मानस की सीता

संस्कृत नाट्यकारों के अनुसार तुलसीदास ने भी सीता का पूर्वराग दिखाया है। प्रण को पूर्ण करनेवाले व्यक्ति से ही सीता का विवाह हो सकता था, अतएव सीता का पूर्वराग मर्यादा की दृष्टि से अनुचित था, किंतु तुलसी के समय तक राम और सीता के संबंध में अवतारवादवाली धारणा बद्धमूल हो चुकी थी। अतएव विवाह के पूर्व का यह आकर्षण 'प्रीति पुरातन'[४७] के कारण था। यह दृष्टिकोण सामने रखने पर फिर हम सीता के पवित्र प्रेयसी रूप के ही दर्शन करते हैं। प्रेयसी रूप में भी उन्होंने कहीं शील संकोच का परित्याग नहीं किया। स्वयंवर स्थल पर माला लिए हुए सीता के भावसंघर्ष का बड़ा ही मनोरम चित्रण हुआ है।

४५. वही, ७-११७-११८।

४६. श्रीरामहु मन येबे आने मोर थाइ।
दुइखंड होइ फाटि याउ बेगे मही॥
सहि न पारइ मुहिं ए संसारर दुःख।
कांदंति बइदेही न चाहि राममुख॥ ७-१८०।

४७. प्रीति पुरातन लखइ न कोई।—१-२२८-८।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कुलवधू के शील और लज्जागुणों से युक्त सीता की अत्यंत पवित्र मूर्ति तुलसी ने गढ़ी है। राम के ऊपर आनेवाली विपत्ति को ज्ञात कर वे व्याकुल होकर सास के पास दौड़ गईं। मर्यादावश वे सास के समक्ष कुछ कह सकती नहीं। वे सास के चरणों में प्रणाम कर सिर झुकाकर बैठ गईं। नमित मुख सीता अनेक प्रकार की चिंताएँ करती हुई अपने चरण नखों से धरती कुरेदने लगीं। उस समय उनके नूपुर मधुर ध्वनि कर रहे थे।[४८] राम उन्हें यहीं छोड़ जायँगे ऐसा सोचकर उनके नेत्रों में पानी भर आया, वे निरुत्तर हो गईं। विपत्ति के समय मर्यादा नहीं रहती। सीता ने सास के पैर छूकर अविनय के लिये क्षमा माँगकर ही राम से अनुरोध किया कि वे उन्हें साथ ले चलें।

शीलमयी कुलवधू के गुण के साथ ही पतिव्रता का गुण भी उनमें जुड़ा हुआ है। उन्होंने राम के साथ अपने संबंध की स्पष्ट घोषणा इन शब्दों में की —

जिय बिनु देह नदी बिनु बारी।
तैसिअ नाथ पुरुष बिनु नारी॥ २-६४-७

उन्होंने राम से कहा था—क्षण क्षण आपके चरणकमल देखकर मुझे मार्ग में थकावट नहीं होगी। मैं आपके पैर धोकर पेड़ों की छाया में बैठकर आपको पंखा झला करूँगी। पसीने की बूँदों से शोभित आपके श्याम शरीर को देखकर दुःख के लिये मुझे अवकाश ही कहाँ मिलेगा।[४९] कहीं भी राम के प्रति कोप या अभिमान नहीं दिखाई पड़ता।

पति के प्रति सीता के मन में इतना अधिक पूज्य भाव था कि मार्ग में चलते समय वे राम के चरण चिह्नों तक पर अपने पैर नहीं पड़ने देती थीं।[५०]

४८. मानस, २-५७-१-५।
४९. मोहि मग चलत न होइहि हारी।
छिनु छिनु चरन सरोज निहारी॥ २-६६-१।
पाय पंखारि बैठि तरु छाहीं।
करिहउँ बाउ मुदित मनमाहीं॥ २-६६-३।
श्रम कन सहित श्याम तनु देखे।
कहँ दुख समउ प्रानपति पेखे॥ २-६६-४।
५०. प्रभु पद रेख बीच बिच सीता।
धरति चरन मग चलति सभीता॥ २-१२२-३।
३ (७१-२)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर्णकुटी में प्रियतम के साथ रहते समय मुग्ध चकोरी के समान वे पति का मुखचंद्र देखकर सुख का अनुभव करती थीं। वन के जीव जंतुओं को उन्होंने अपना कुटुंबी बना लिया था।[५१]

वन से लौट आने पर भी सीता सदा राम के अनुकूल रहीं। घर में अनेक दास दासियों के होते हुए भी वे राम की सेवा स्वयं ही किया करती थीं। राम के साथ ही सासों की भी सेवा वे स्वयं ही करती थीं।[५२]

सीता के पतिव्रत में तेजस्विता भी थी। रावण को अपने भयावह सत्य रूप में देखकर पहले तो वे डर गईं, किंतु तुरंत ही धैर्य धारण कर ओजपूर्ण वाणी में बोलीं—खड़ा रह दुष्ट, मेरे स्वामी आ गए।

· आइ गयउ प्रभु रहु खल ठाढ़ा। ३-२७-१४।

उसके बारबार प्रलोभन देने और धमकाने पर भी सीता विचलित नहीं हुई। तिनके की ओट से ही वे रावण से बात करती थीं। उन्होंने अपना निश्चय रावण पर प्रकट कर दिया था—या तो इस कंठ पर प्रभु की श्यामल बाँह होगी या तेरी भयंकर चंद्रहास तलवार।

अपरिचित हनुमान जब निकट आए तो सीता पीठ देकर बैठ गई थीं। कुलवधू सुलभ उनकी यह भीरुता भी बड़ी प्रिय तो लगती ही है साथ ही पतिव्रत के दृढ़ भाव को भी प्रकट करती हैं।[५३]

अग्निपरीक्षा के समय उन्होंने आत्मविश्वास से भरी ओजस्वी वाणी में कहा था—

जौं मन बच क्रम मम उर माहीं।
तजि रघुबीर आन गति नाहीं॥
तौ कृसानु सब कै गति जाना।
मो कहुँ होउ श्रीखंड समाना॥ ६-१०८-७,८।

परिवार के अन्य लोगों के प्रति भी सीता का सद्भाव देखा जाता है। भरत की चिंता के कारण दुःस्वप्न देखकर वे व्याकुल होती हैं। लक्ष्मण को तो उनके स्नेह की छाया में इतना सुख मिला था कि उन्हें कभी स्वप्न में भी अपने माता-पिता आदि की सुधि नहीं आई। चित्रकूट में अपने पिता और माता को देखकर वे

५१. मानस, २-१६-१-३।
५२. वही, ७-२३-३-८।
५३, वही, ५-१२-८।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इतनी अधिक प्रेमविह्वल हो गई थीं कि अपने को सँभाल न सकी थीं।[५४] । जनक ने भी गद्गद् स्वर से कहा था—'पुत्रि पवित्र किए कुल दोऊ।'[५५] सीता अपनी माता से मिलने उनके शिविर में गईं। रात्रिकाल में वे गंभीर धर्मसंकट में पड़ गईं। सासों की सेवा छोड़कर वे माता के पास कैसे रहें। पिता माता, पुत्री के शील संकोच से बहुत ही प्रसन्न हुए थे।

राजा दशरथ ने जानकी को बहू न समझकर पुत्री माना था। राम से भी अधिक चिंता उन्हें बहू की थी। मरते मरते वे यही चाहते रहे कि सीता तो कम से कम लौट आती।

तुलसीदास ने राम की तुलना में सीता के चरित्र में सहज मानवीय गुणों का चित्रण किया है। सीता मानवी रूप में प्रस्तुत हुई हैं, लक्ष्मी या आद्याशक्ति होने का उन्हें स्वयं ही ज्ञान नहीं रहता। फिर भी एक दो ऐसे स्थल आए हैं जिनके कारण उनका सहज मानवीय रूप उभर नहीं पाता—

१. चित्रकूट में वे अनेक रूप धारण कर सासों की सेवा करती हैं।[५६] यहाँ सीता की अलौकिकता प्रकट है।

२. राम की आज्ञा से सीता अग्नि में समा गई थीं और जिस सीता का हरण हुआ, वह माया सीता थी। इस प्रसंग से वियोगिनी सीता का चरित्र उभर नहीं पाता। वह लक्ष्मण को मारीच की पुकार पर 'मर्म वचन' बोलकर रह जाती है। मर्म वचन क्या थे, नहीं बताए गए। अग्निपरीक्षा की अन्य रामायणों जैसी स्थिति भी नहीं आ पाती।

३. तुलसी ने सीता परित्याग और पाताल प्रवेश वाली घटनाएँ नहीं दिखाईं जिससे भी सीता की व्यथा और उनके धैर्य, त्याग, सहनशीलता आदि गुणों पर प्रकाश नही पड़ सका। यद्यपि यह प्रसंग प्रक्षिप्त माना जाता है किंतु तुलसी ने उसे प्रक्षिप्त नहीं माना है, क्योंकि उनके अन्य ग्रंथों में संकेत रूप से इस घटना का वर्णन है।

५४. मानस, २ - ११६।
५५. वही, २–२८६–१।
५६. सीय सासु प्रति वेष बनाई। सादर करइ सरिस सेवकाई।
लखा न मरमु राम बिनु काहूँ। माया सब सिय माया माहूँ॥
२–२५१–२, ३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गंगा तो केवल तीन स्थानों हरिद्वार, प्रयाग और गंगासागर में पवित्र मानी जाती है, किंतु सीता की कीर्ति ने अनेक संत-समाज रूपी तीर्थ बना दिए हैं—

जिति सुरसरि कीरति सरि तोरी।
गवनु कीन्ह विधि अंड करोरी॥
गंग अवनि थल तीनि बड़ेरे।
एहिं किए साधु समाज घनेरे॥ २-२८६-३,४

जनक का यह कथन सर्वथा सत्य है।

*

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

काव्यादर्श का रचनाकाल

जयशंकर त्रिपाठी

भारतीय काव्यसास्त्र में आचार्य दंडी का 'काव्यादर्श' काव्यशास्त्र की ऐतिहासिक सीमारेखा जैसी रचना है। इसमें काव्य के भेद, वाणी के मार्ग, गुण और अलंकारों की व्याख्या है। किंतु दंडी की मौलिकता केवल वैदर्भ तथा गौड मार्ग और उनके दस गुणों के विवेचन में है। यह विवेचन काव्यशास्त्र के इतिहास और विकास की कुंजी है। दंडी ने जिस रूप में मार्ग और गुणों की स्थापना की है, वह शास्त्रीय आडंबर से शून्य है और कवियों की वाणी की सहज स्थिति का आकलन है। उनके परवर्ती किसी भी आचार्य ने इस व्याख्या की मूल प्रकृति को उद्घाटित करने की चेष्टा नहीं की। वामन और कुंतक द्वारा किया गया रीति, गुण तथा मार्ग का विवेचन शास्त्रीय महिमा से मंडित हो गया है। उसका मेल दंडी के मार्ग और गुणों की स्थापना से नहीं होता। इस दृष्टि से भी दंडी सदा नवीन और मौलिक ही बने रहे।

काव्यशास्त्र के क्षेत्र में दंडी का आगमन तब हुआ जब गुण और मार्ग के स्वरूप के संबंध में दाक्षिणात्य और पौरस्त्य कवि अथवा काव्य के आलोचक भावक अपनी अलग अलग मान्यता प्रस्तुत कर रहे थे। इन मान्यताओं पर विदग्धगोष्ठियों में चर्चाएँ हुआ करती थीं। कवित्वज्ञान की सार्थकता इन विदग्धगोष्ठियों के लिये ही थीं—**विदग्धगोष्ठीषु विहर्तुमीशते**।[1] दंडी के सामने काव्यचर्चा का मुख्य विषय था—वैदर्भ तथा गौड़ मार्ग और उनके गुणों का स्वरूप। वैदर्भ की दूसरी संज्ञा दाक्षिणात्य थी तथा गौड की पौरस्त्य अथवा अदाक्षिणात्य। गुण दस थे जो समग्र रूप से, जैसा कि वे दंडी को इष्ट थे, वैदर्भ मार्ग में ही पाए जाते थे। गौड मार्ग के कवियों द्वारा सभी गुणों का प्रयोग नहीं होता था और जिन गुणों का प्रयोग वे करते भी थे, उनमें कुछ का स्वरूप वैदर्भ अभिमत गुणों से भिन्न था। ऐसी समताओं और विषमताओं का उल्लेख दंडी ने स्पष्ट शब्दों में किया है—'दोनों मार्ग ऐसे प्रयोगों की

१. काव्यादर्श, १।१०५।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रशंसा नहीं करते'[२]; 'इसलिये ऐसे अनुप्रास का प्रयोग दाक्षिणात्य नहीं करते'[3]; 'समासबहुल ओज यद्यपि गद्य का जीवित है तो भी अदाक्षिणात्य पद्यमें भी ऐसे ओज के प्रयोग के प्रति अत्यंत अभिरुचि रखते हैं'।[४] इन उद्धरणों से यह पता चलता है कि उस समय गुण और मार्ग को लेकर अपनी अपनी मान्यताओं में काव्यविदग्ध कितने दत्तचित्त थे। ऐसे काव्यविदग्धों का आचार्यत्व दंडी ने किया।

एक दूसरा प्रश्न भी सामने आता है। दंडी के सामने काव्य के व्याख्यान को लेकर गूढ़ और नई समस्या क्या थी, जिसे सुलझाकर वे अपने पूर्ववर्ती आचार्यों को क्रांत कर सदा के लिये उदित हो गए। क्या वह समस्या गुण ही है, अलंकार नहीं? वस्तुतः वह समस्या गुणों के स्वरूप निर्धारण की थी, अलंकारों का विवेचन बहुत पुराना पड़ गया था। उसके प्रकारों, प्रयोगों, भेद विभेदों को लेकर दंडी के पूर्व एक सीमा तक पर्याप्त विवेचन प्रस्तुत हो चुके थे। अलंकारों का संप्रदायगत लक्षण और विभाजन नहीं था, जैसा कि गुणों के संबंध में मान्यताओं का विभाग था। अलंकार-विवेचन दक्षिण अथवा पूर्व सभी के लिये पुराना, परिचित एवं निर्विवाद था। वह कवियों के लिये इतना सामान्य हो गया था कि अलंकारप्रयोग की नई नई उद्भावनाएँ निःसंशय की जाती थीं। दंडी ने ऐसा ही उल्लेख किया है—'काव्य के शोभाकर धर्मों को अलंकार कहते हैं, उन धर्मों के नए नए प्रयोग आज भी कल्पित किए जाते हैं इसलिये समग्र रूप से उनका व्याख्यान कौन कर सकता है? किंतु पूर्व के आचार्यों ने उन कल्पनाप्रकारों की मूल मान्यताओं का निर्देश किया है, उन प्रयोगों और मान्यताओं को विस्तार से प्रस्तुत करने के लिये मेरा यह परिश्रम है'।[५] इस कथन में 'ते चाद्यापि बिकल्प्यन्ते', 'पूर्वाचार्यैः प्रदर्शितम्' उल्लेखों से अलंकारविवेचन की दंडी से पूर्ववर्तिता स्पष्ट है।

दूसरी ओर गुणों के प्रसंग में दंडी ने पूर्वाचार्यों का नाम नहीं लिया है और दाक्षिणात्य-पौरस्त्य संप्रदायों का समकालिक रूप में उल्लेख किया है। इससे सिद्ध है

२. एवमादि न शंसन्ति मार्गयोरुभयोरपि।—वही, १।९७।

३. अतो नैवमनुप्रासं दाक्षिणात्याः प्रयुञ्जते।—वही, १।६०।

४. ओजः समासभूयस्त्वमेतद्गद्यस्य जीवितम्।
पद्येऽप्यदाक्षिणात्यानामिदमेकं परायणम्॥ —वही, १।८०।

५. काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलङ्कारान् प्रचक्षते।
ते चाद्यापि विकल्पन्ते कस्तान् कार्त्स्न्येन वक्ष्यति॥
किन्तु बीजं विकल्पानां पूर्वाचार्यैः प्रदर्शितम्।
तदेवपरिसंस्कर्तुमयमस्मत्परिश्रमः ॥—वही, २।१-२।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कि गुणों की मान्यता और उनके स्वरूपनिरूपण की समस्या सामयिक थी। उसको लेकर ही दंडी ने अपने समय के एक लंबे क्षेत्र के, जो विदर्भ से गौड़ तक फैला था, कवियों की रचनाविषयक मान्यताओं का मार्गदर्शन किया। काव्य के संबंध में गुण जैसे नए सिद्धांत का प्रतिपादन कर जो प्रकारांतर से सौशब्द्य (सुष्ठु शब्दों का प्रयोग) काव्य था, दंडी ने उसे भाव और अर्थ मूलक अलंकारसिद्धांत के समानांतर खड़ा किया। यह उस युग के काव्यविदग्धों का अभिमत था। दंडी द्वारा उसकी स्थापना काव्य जगत् की नई घटना थी। इसके लिये ही दंडी एक सर्वमान्य आचार्य के रूप में प्रतिष्ठित हो गए और उनका लक्षणग्रंथ 'काव्यादर्श' अपने पूर्ववर्ती ग्रंथों को तिरोहित कर काव्यशास्त्र के इतिहास की युगांतरकारी रचना बन गया।

यह घटना कब घटित हुई होगी? इस प्रश्न का संबंध काव्यशास्त्र के आविर्भाव और 'काव्यादर्श' के रचनाकाल से है। यहाँ इतना स्पष्ट कहा जा सकता है कि काव्य में अलंकार की तुलना में शब्द सौष्ठव प्रस्तुत करनेवाले प्रकारों का प्रयोग, जो गुण के पूर्वरूप थे, विक्रम की तीसरी शती से आरंभ हो गया था। उपमा, रूपक, दीपक आदि अलंकारों के स्थान पर शब्दसौष्ठव के ऐसे प्रकारों द्वारा काव्य के अलंकृत होने का उल्लेख विक्रमाब्द २०७ (शक ७२) के रुद्रदामन् के गिरनार शिलालेख में हुआ है।[६] इस काल के लगभग से ही शब्दकाव्य के प्रकार-गुणों की स्थापना के प्रति काव्यविदग्धों ने अपने विचारों का उन्नयन आरंभ किया होगा, जिसका प्रौढ़ निर्धारण दंडी ने किया। इसमें एक से दो शताब्दी तक का समय लग सकता है।

साथ ही इस घटना का काल अवश्य ही उसके पूर्व होगा, जब काव्य का महत्व बहुत ही व्यापक हो गया और भामह के शब्दों में काव्य धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की विचक्षणता का मूल एवं आनंद और कीर्ति का कारण बना।[७] क्योंकि दंडी के सामने काव्य केवल विदग्ध गोष्ठी का आनंद था, वह सभी शास्त्रों को आक्रांत कर इस प्रकार जीवन की सभी उपलब्धियों को देनेवाला नहीं था; यहाँ तक कि काव्य से अर्थलाभ का संकेत भी दंडी ने नहीं किया है। 'विदग्धगोष्ठी के आनंद के

६. स्फुट-लघु-मधुर-चित्र-कान्त-शब्द-समयोदारालंकृत-गद्य-पद्य [काव्यविधान प्रवीणे] न··· ।—हिस्टारिकल ऐंड लिटरेरी इंस्क्रिप्शंस, पृ० ६४।

७. धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च।
प्रीतिं करोति कीर्तिं च साधुकाव्य-निबन्धनम्॥
—काव्यालंकार (भामह), १।२।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साथ वहाँ श्रेष्ठ काव्य को प्रस्तुत करने के कारण कवि को कीर्ति अवश्य मिलती थी।[८] साथ ही दंडी के काव्यं का दूसरा प्रयोजनं काव्य के निबंधन में आदि काल के यशस्वी राजाओं की कीर्ति की सुरक्षा थी।[९] राजचरित का यह काव्यनिबंधन अर्थ के लोभ से नहीं होता था, जिसकी चर्चा भामह और रुद्रट ने की है, सही इतिहास लिखने के लिये था। दंडी के सीमित काव्यप्रयोजनों ने भामह युग से विस्तार प्राप्त किया और कवियों को विदग्धगोष्ठियों से हटाकर अर्थलोभ से राजसभा में पहुँचाया। वहाँ वे राजा के झूठे यश के लिये काव्य का दुरुपयोग करने लगे।[१०]

अतः भारतीय काव्यशास्त्र के इतिहास में अर्थमूलक अलंकार उद्भावना के विरुद्ध सौशब्द्य काव्य की जोरदार भाषाक्रांति का, जो गुण और मार्ग के रूप में परिणमित हुई, ऐतिहासिक अभिलेख जैसा है दंडी का 'काव्यादर्श'। इसमें उस युग के विदर्भ के (अर्थात् दाक्षिणात्य) कवियों की काव्यमान्यताओं का आकलन हुआ है, जो बाद में औदीच्य (काश्मीरक) आचार्यों द्वारा नई मान्यताएँ प्रस्तुत किए जाने पर चर्चा का विषय न रहीं। उनकी व्याख्या का किंचित् स्पर्श केवल भोजराज (११वीं शती ई०) ने किया।

इस प्रकार दंडी और उनके 'काव्यादर्श' का स्थान भारतीय काव्यशास्त्र के इतिहास के आरंभिक पृष्ठों में ही है। उनके साथ 'काव्यालंकार' के कर्ता भामह की भी गिनती की जाती है। परंतु दंडी का समय अब तक बड़ा विवादास्पद माना जाता है। कुछ विद्वान् 'काव्यादर्श' को भामह की परवर्ती रचना मानकर उसके समय संबंधी आकलन को और भी उलझाये हुए हैं।

डा० सुशीलकुमार डे के शब्दों में 'अलंकार साहित्य के कालक्रम में 'काव्यादर्श' के रचयिता दंडिन् का कालनिर्णय एक अत्यंत कठिन समस्या है।'[११] यह कठिन समस्या कई रूपों में हमारे सामने आती हैं—

८. तदस्ततन्द्रैरनिशं सरस्वती श्रमादुपास्या खलु कीर्तिमीप्सुभिः।
कृशे कवित्वेऽपि जनाः कृतश्रमा विदग्ध गोष्ठीषु विहर्तुमीशते॥
—काव्यादर्श, १।१०५।

९. आदिराजयशोबिम्बमादर्शं प्राप्य वाङ्मयम्।
तेषामसन्निधातेऽपि नस्वयं पश्य नश्यति॥ —वही, १।५

१०. काव्यालंकार (भामह), १।२; काव्यालंकार (रुद्रट), १।५,८,१०।

११. हिस्टरी आव् संस्कृत पोएटिक्स, खंड १, पृ० ५७।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क–दंडी और भामह में प्रथम आचार्य कौन है ?

ख–सूक्तिसंग्रहों में राजशेखर की एक उक्ति दंडीकृत प्रबंधों की तीन संख्या के संबंध में मिलती है, वे तीन प्रबंध कौन से हैं ?

ग–क्या 'काव्यादर्श' और 'दशकुमारचरित' के रचयिता एक ही दंडी हैं ?

घ–काव्यादर्श के द्वितीय परिच्छेद की २७९वीं कारिका में समकालिक राजा रातवर्मा का नाम आया है, यह राजा कौन है और इसका समय क्या है ?

ङ–कवयित्री विज्जका ने दंडी को उपालंभ दिया है कि उन्होंने कुवलयदल के समान श्यामाभ साक्षात् सरस्वती विज्जका को न जानते हुए सरस्वती को शुक्लवर्णा क्यों कहा ? इस विज्जका का समय क्या है ? और क्या 'कौमुदीमहोत्सव' नाटक की कर्त्री विज्जका है ?

च–प्राकृत महाकाव्य 'सेतुबंध' का रचयिता प्रवरसेन है। परंतु वाकाटक सम्राट् दो प्रवरसेनों में वह कौनसा है ? दंडी ने 'सेतुबंध' की सूक्तियों की बड़ी प्रशंसा की है। 'सेतुबंध' का रचनाकाल दंडी के काल निर्धारण की पूर्व सीमा है।

उक्त समस्याओं के साथ साथ यहाँ 'काव्यादर्श' के रचनाकाल पर विचार अभीष्ट है—

दंडी और भामह में पूर्ववर्ती कौन ?

दंडी के 'काव्यदार्श' और भामह के काव्यालंकार में निरूपित विषयों के साम्य और कहीं एक दूसरे के मत का खंडन देखकर इनके काल के संबंध में धारणा व्यक्त करनेवाले विद्वानों के तीन वर्ग हैं—

१. वे विद्वान् जो दंडी को पूर्व मानते हैं – काव्यालंकार (रुद्रट) के टीकाकार नमिसाधु (११वीं शती ई०), श्री एम० टी० नरसिंह आयंगर (जर्नल आव् रायल एशियाटिक सोसायटी आव् ग्रेट ब्रिटेन, सन् १९०५), प्रो०ए०बी० कीथ (हिस्टरी आव् संस्कृत लिटरेचर)।

२. वे विद्वान् जो भामह को पूर्ववर्ती मानते हैं—'काव्यादर्श' की हृदयंगमा टीका लिखनेवाले तरुणवाचस्पति (१२वीं शती ई०), श्री के० जी० त्रिवेदी (प्रतापरुद्र-यशोभूषण की भूमिका) डा० जैकोबी, प्रो० रंगाचार्य ('काव्यादर्श' की भूमिका), श्री गणपतिशास्त्री ('स्वप्नवासवदत्तम्' की भूमिका), प्रो० पाठक ('कविराजामार्ग' की भूमिका); डा० सुशीलकुमार डे (हिस्टरी आव् संस्कृत पोएटिक्स)।

बाद में प्रोफेसर पाठक ने अपना मत बदल दिया और दंडी को पूर्ववर्ती माना।

३. वे जो दंडी और भामह को समकालिक मानते हैं—महामहोपाध्याय पांडुरंग वामन काणे (हिस्टरी आफ संस्कृत पोएटिक्स)।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रायः यह कहा जाता है कि अमुक स्थल पर भामह दंडी की आलोचना कर रहे हैं अथवा दंडी भामह की आलोचना कर रहे हैं, किंतु न तो भामह ने दंडी का नाम लिया है और न दंडी ने भामह का। यह भी सत्य है कि एक ही प्रसंग में और एक ही उदाहरण के संबंध में दोनों ग्रंथों में परस्पर विरुद्ध बातें कही गई हैं। अतः इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि यह वैमत्य दंडी और भामह का नहीं था, वरंच दो संप्रदायों के अपने अपने सिद्धांतों और मान्यताओं का था, जिनका उल्लेख दंडी ने गुण निरूपण के प्रसंग में दाक्षिणात्य और अदाक्षिणात्य (पौरस्त्य) के नाम से किया है एवं उनकी मान्यता के स्वरूपों की भिन्नताओं को भी स्पष्ट किया है। दंडी के सामने दाक्षिणात्य काव्यसंप्रदाय की मान्यताएँ बहुत ऊँची उठ चुकी थीं, पीछे अदाक्षिणात्यों (पौरस्त्यों) का भी विस्तार हुआ और बाद में वह औदीच्य के रूप में परिवर्तित हो गया। औदीच्य आचार्यों में भामह के बाद से ही साहित्यचर्चा का उत्थान इतने वेग से हुआ कि पुनः दाक्षिणात्य काव्यसंप्रदाय की ख्याति ही धुँधली हो गई।

यदि हम इस तथ्य को स्वीकार करते हैं कि जहाँ कहीं दंडी-भामह का जो विरोध है वह काव्यसंप्रदायों की मान्यता का है तो दंडी के दाक्षिणात्य संप्रदाय की पूर्ववर्तिता और भामह की परिस्थिति अपने आप सिद्ध है, क्योंकि वैदर्भमार्ग के प्रतिष्ठापक दाक्षिणात्यों का काव्य जगत् में अभ्युदय पहले हुआ है। यह न केवल दंडी के काव्यादर्श से सिद्ध है, जिसमें वैदर्भ मार्ग के गुणों की संख्या दस है और गौड मार्ग में उससे कम गुण पाए जाते हैं, वरंच भामह का काव्यालंकार भी इसका संकेत देता है कि उनके सामने वैदर्भ मार्ग अधिक प्रसिद्ध एवं प्रशंसित था—**वैदर्भमन्यदस्तीति मन्यन्ते सुधियोऽपरे** (१।३०) जो उनको स्वीकार नहीं था और इसी लिये अपने विरोध के फलस्वरूप वे गौड मार्ग को भी कम अच्छा नहीं समझते थे—**गौडीयमपि साधीयो वैदर्भमिति नान्यथा** (१।३५)।

भामह ने गौडीय काव्य को ऊँचा उठाने के लिये उसमें जिन वैशिष्ट्यों के समावेश की सलाह दी है, वे वैशिष्ट्य वस्तुतः दंडी के सामने वैदर्भ काव्य में ही पाए जाते थे, जैसे—अग्राम्यता, अनाकुलता (वर्णों के जटिल बंध का अभाव), अर्थ की संभावित कल्पना जो लोकसीमा को न लाँघ जाय।[१२] और दूसरी ओर गौडमार्गी कवि आकुल वर्णबंध, अनुप्रास का आडंबर, अर्थ में लोकसीमा का अतिक्रमण ही पसंद करते थे।[१३] केवल अग्राम्यता के संबंध में वैदर्भ और गौड एकमत थे।[१४]

१२. काव्यादर्श, १।६०, ८३, ८५।

१३. वही, १।५०, ५४, ६२।

१४. वही, १।६७।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भामह ने निष्पक्ष होकर गौडीय कवियों को तीनों दोषों से मुक्त होने की सलाह दी—'यदि गौडीय काव्य भी अलंकारवान्, ग्राम्यतारहित न्याय्य (लोकसंभावित) अर्थ से युक्त और अनाकुल है तो अच्छा है। एवं इन विशेषताओं से रहित होने पर वैदर्भ भी अच्छा काव्य नहीं है।'[१५] वैदर्भ काव्य में इन विशेषताओं के अतिरिक्त श्रुत्यनुप्रास और सुकुमार बंध के प्रयोग भी विशिष्ट अभिज्ञान थे जिनकी चर्चा दंडी ने माधुर्य (१।५२) और सुकुमार (१।६९) गुणों के प्रसंग में की है। भामह ने इन विशेषताओं से युक्त वैदर्भ काव्य को केवल श्रुतिपेशल संगीत माना है, काव्य नहीं—
प्रसन्नमृजु कोमलम्। भिन्न गेयमिवेदं तु केवलं श्रुतिपेशलम् (१।३४)।

ऊपर के कथन से यह स्पष्ट है कि दंडी ने गौडकाव्य में जिन अभावों की ओर निर्देश किया था, भामह ने उनको स्वीकार किया और उन अभावों को दूर कर गौडीय काव्य के रूप में सच्चे काव्य का अभिज्ञान प्रस्तुत किया। अपने श्रुत्यनुप्रास तथा कोमलबंध के लिये जो वैदर्भ काव्य दंडी द्वारा प्रशंसित हुआ था, भामह ने इन्हीं विशेषताओं के कारण उसे संगीत (गेयमिवेदम्) कह दिया और काव्य नहीं माना। भामह की मनोवृत्ति स्पष्ट है—ये काव्य के क्षेत्र में दाक्षिणात्यों (वैदर्भों) की प्रशंसा और मान्यता का तिरस्कार करना चाहते हैं। गौड कवियों को उनकी तुलना में ऊँचा उठाना चाहते हैं। नहीं तो जहाँ उन्होंने **गौडीयमपि साधीयः** कहा, वहाँ 'वैदर्भमपि साधीयः' कह सकते थे। काव्यविद्या के क्षेत्र में वैदर्भों के प्रतिनिधित्व को समाप्त करने जैसा उनका संकल्प है। दंडी अपने काव्यादर्श में वैदर्भ काव्य के प्रति इतने पक्षारूढ़ नहीं हैं, जितने भामह गौडीय काव्य के प्रति। दंडी ने दोनों मार्गों की समानताओं का भी उल्लेख किया है, उनके समाधिगुण का अनुसरण सभी कवि करते हैं न कि केवल वैदर्भ कवि। अर्थात् भामह ने गौड मार्गों के संबंध में दंडी की मान्यताओं की आलोचना की है और दंडी उनके पूर्ववर्ती हैं।

इसी प्रकार भामह द्वारा दाक्षिणात्य काव्यसंप्रदाय की मान्यताओं की आलोचना के अन्य प्रसंग भी हैं, जो दंडी के 'काव्यादर्श' में उसी रूप में निबद्ध हैं। उनमें से कुछ मुख्य प्रसंग ये हैं—

१. दंडी ने स्वभावोक्ति को आदि और अत्यंत प्रसिद्ध अलंकार माना है—

स्वभावोक्तिश्च जातिश्चेत्याद्या सालंकृतिर्यथा॥ (२।८)
शास्त्रेष्वस्यैव साम्राज्यं काव्येष्वप्येतदीप्सितम्॥ (२।१३)

१५. अलङ्कारवदग्राम्यमर्थ्यं न्याय्यमनाकुलम्।
गौडीयमपि साधीयो वैदर्भमिति नान्यथा॥—काव्य० (भामह) १।३५।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दंडी की इस मान्यता की उपेक्षा करते हुए भामह ने कहा है—कुछ लोग स्वभावोक्ति को भी अलंकार कहते हैं—

स्वभावोक्तिरलङ्कार इति केचित्प्रचक्षते। (२।९३)

२. दंडी का कांति गुण वार्ता काव्य में व्यवहृत होता है (१।८५) और गतोऽस्तमर्को भातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिणः। (२।२४४) उनके कारक हेतु अलंकार का उदाहरण है।

भामह ने एक ही साथ न वार्ता को काव्य माना है और न उक्त उदाहरण में कोई अलंकारिता—(क्योंकि उनकी दृष्टि में वह वक्रोक्तिहीन उक्ति है और दंडी की मान्यता में वह स्वभावोक्ति से अनुप्राणित है)—

हेतुश्च सूक्ष्मो लेशोऽथ नालङ्कारतया मतः।
समुदायाभिधानस्य वक्रोक्त्यनभिधानतः॥
गतोऽस्तमर्को भातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिणः।
इत्येवमादि किं काव्यं वार्त्तामेनां प्रचक्षते॥
(२।८६,८७)

३. उत्प्रेक्षा दाक्षिणात्यों का प्रिय अलंकार है। दंडी ने न केवल उसका निरूपण किया है, वरंच ऐसे स्थलों पर जहाँ उपमा की भ्रांति हो सकती है उन्होंने उपमा-उत्प्रेक्षा की सीमा रेखाओं को स्पष्ट कर दिया है। (२।२२६–२३३)।

भामह ने संभवतः दंडी के इसी निरूपण से उत्प्रेक्षा को अलंकार स्वीकार कर लिया है क्योंकि भामह के पूर्ववर्ती मेधावी ने, जिनके मतों का उन्होंने संमान के साथ उल्लेख किया है, उत्प्रेक्षा की चर्चा नहीं की है—

संख्यानमिति मेधावी नोत्प्रेक्षाभिहिता क्वचित्। (२।८८)

४. दंडी ने उपमा के चार दोषों की ओर निर्देश किया है—

न लिंगवचने भिन्ने न हीनाधिकतापि वा।
उपमादूषणायालं यत्रोद्वेगो न धीमताम्॥ (२।५१)

और मेधावी ने सात दोषों की ओर। भामह मेधावी के मत को उद्धृत करते हैं—

हीनताऽसम्भवो लिंगवचोभेदो विपर्ययः।
उपमानाधिकत्वं च तेनासदृशतापि च॥
त एत उपमादोषाः सप्त मेधाविनोदिताः। (२।३९-४०)

जब कि स्थिति यह है कि दंडी के जैसा उपमा का विस्तृत निरूपण किसी ने किया ही नहीं। अतः मेधावी जो उपमा के सात दोषों की खोज करते हैं, चार दोषों की ओर निर्देश करनेवाले दंडी के परवर्ती हैं और भामह मेधावी के परवर्ती हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि काव्यालंकार (रुद्रट) के टीकाकार नमि साधु (११वीं शती ई०)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ने इन आचार्यों का जो क्रमोल्लेख किया है वह बहुत सही है—**ननु दण्डि मेधावि रुद्र - भामहादिकृतानि सन्त्येवालंकारशास्त्राणि तत्किमर्थमिदं पुनरिति पौनरुक्त्यदोषं क्रियाविशेषणेन निरस्यन्नाह यथायुक्तीति** (१।२)। अतः दंडी सर्वप्रथम आचार्य हैं।

५. दाक्षिणात्य काव्यसंप्रदाय की मान्यताएँ गौडों से होकर औदीच्यों में पहुँची हैं। कारण, पाटलिपुत्र गुप्तसाम्राज्य की राजधानी था। किसी समय राजधानी होने के कारण ही उज्जयिनी तथा पाटलिपुत्र में काव्यकारों एवं शास्त्रकारों की शिक्षा होती थी।[१६] वैदर्भों का केंद्र उज्जयिनी है और गौडों का पाटलिपुत्र। गौडीय कवि सर्वथा वैदर्भों के अनुगामी नहीं होते थे। उन्होंने दंडी के निरूपित उपमा अलंकार के समस्त भेदों को नहीं, कुछ को ही स्वीकार किया। जिनको स्वीकार किया उनकी ही चर्चा पांचाल (औदीच्य) काव्यगोष्ठियों में हुई। भामह को दंडी की मान्यताएँ गौडों के माध्यम से मिली हैं। इसी लिये उन्होंने दंडी के निरूपित उपमाभेदों में चार का ही नाम-निर्देश-पूर्वक खंडन किया है—

यदुक्तं त्रिप्रकारत्वं तस्याः कैश्चिन्महात्मभिः।
निन्दा प्रशंसा चिख्यासा भेदादत्राभिधीयते।
सामान्यगुण निर्देशात्त्रयमप्युदितं ननु।
मालोपमादिः सर्वोऽपि न ज्यायान्विस्तरो मुधा॥
(२। ३७-३८)

अन्य भेदों को गौडों ने ही स्वीकार किया होगा। अतः भामह के लिये उनके प्रत्याख्यान की आवश्यकता नहीं थी। इससे यह भी प्रतीत होता है कि दंडी और भामह के काल का अंतर एक शती से कम न रहा होगा।

६. एक अन्य संभावना भी सामने आती है कि 'काव्यादर्श' का तृतीय परिच्छेद किसी अन्य की रचना है। अतः उस परिच्छेद में निरूपित यमक को यदि छोड़ दिया जाय तो प्रथम परिच्छेद में दंडी ने जो यमक को माधुर्य गुण के अनुकूल नहीं कहा है, यह कथन यमक को दंडी की दृष्टि में हेय नहीं ठहराता केवल **नैकान्त-मधुरम्** (१।६१) निर्दिष्ट करता है। यह ठीक भी था, क्योंकि वैदर्भ जब श्रुत्यनुप्रास के अतिरिक्त वर्णावृत्ति अनुप्रास को भी माधुर्य गुण का पोषक नहीं मानते (१।५५,६०) तब वर्णसंघात की आवृत्ति यमक को उसका पोषक कैसे स्वीकार करते (१।६१)।

१६. **श्रूयते चोज्जयिन्यां काव्यकारपरीक्षा।**
श्रूयते च पाटलिपुत्रे शास्त्रकारपरीक्षा।
—**काव्यमीमांसा (बि० रा० प० पटना) पृ० १३४१-३५।**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भामह के सामने दंडी की अपेक्षा यमक के गूढ़ रूप अधिक प्रयुक्त हो रहे थे, जिसकी उन्होंने निंदा की है। ऐसे यमक रामशर्मा के अच्युतोत्तर में प्रयुक्त हुए थे—

नानाधात्वर्थ गम्भीरा यमकव्यपदेशिनी।
प्रहेलिका सा ह्युदिता रामशर्माच्युतोत्तरे॥
काव्यान्यपि यदीमानि व्याख्यागम्यानि शास्त्रवत्।
उत्सवः सुधियामेव हन्त दुर्मेधसो हताः॥ (२।१६-२०)

७. दंडी के सामने अलंकारों का शब्द अर्थ गत कोई विभाग नहीं था। उन्होंने काव्यशरीर अलंकार, मार्ग और गुणों का निरूपण किया है।

भामह के समय तक काव्यचिंतन आगे बढ़ चुका था, शब्दालंकार और अर्थालंकार के सौष्ठव और श्रेष्ठता को लेकर परस्पर खींचातानी हो रही थी। भामह ने उस खींचातानी पर अपना मत व्यक्त किया है—

शब्दाभिधेयालंकारभेदादिष्टं द्वयं तु नः॥ (१।१५)

८. दंडी ने प्रेक्षार्थ काव्य के तीन भेदों का ही उल्लेख किया है—

लास्य-च्छलित-शम्पादि — प्रेक्षार्थम् (१।३९)।

भामह के सामने प्रेक्षार्थ काव्य के अन्य भेदों की भी अवतारणा बहुत स्फुट रूप से हो चुकी थी और उसे नाटक (दृश्य काव्य) के ही समीप माना जा रहा था—

सर्गबन्धोऽभिनेयार्थं तथैवाख्यायिकाकथे। (१।१८)
नाटकं द्विपदीशम्पारासकस्कन्धादि यत्।
उक्तं तदभिनेयार्थमुक्तोऽन्यैस्तस्य विस्तरः॥ (१।२४)

९. कथा और आख्यायिका के संबंध में दाक्षिणात्यों तथा गौडों का विवाद रहा होगा। गौड दोनों को अलग अलग विधा स्वीकार करते थे। उनमें से एक लक्षण यह भी था कि आख्यायिका का वक्ता स्वयं नायक होता है और कथा का दूसरा। दंडी ने इस विवाद का पटाक्षेप किया और इन दोनों संज्ञाओं को काव्य की एक ही जाति (विधा) स्वीकार किया—

अपि त्वनियमो दृष्टस्तत्राप्यन्यैरुदीरणात्।
अन्यो वक्ता स्वयं वेति कीदृग्वा भेदकारणम्॥ (१।२५)
तत् कथाख्यायिकेत्येका जातिः संज्ञाद्वयाङ्किता। (१।२८)

भामह ने दंडी की मान्यताओं का विरोध किया और आख्यायिका तथा कथा की स्वरूपभिन्नता को स्फुट रूप में रखने का प्रयत्न किया। लेकिन वस्तुतः वे दाक्षिणात्यों के मान्य आचार्य की स्थापना के विरोधभाव से ही प्रेरित थे, अतः आख्यायिका में जहाँ वे नायक द्वारा अपना इतिवृत्तकथन उसका लक्षण मानते हैं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वहाँ कथा के लक्षण में कहते है कि कथा का वक्ता स्वयं नायक नहीं हो सकता, क्योंकि कोई कुलीन व्यक्ति अपने गुणों का वर्णन स्वयं कैसे करेगा—

वृत्तमाख्यायते तस्यां नायकेन स्वचेष्टितम्। (१।२९)
स्वगुणाविष्क्रितिं कुर्यादभिजातः कथं जनः॥ (१।२९)

भामह के निरूपण से एक बात और स्पष्ट होती है कि अब आख्यायिका इतिहास या राजचरितों के वृत्त को लेकर लिखी जाती थी और कथा में आदर्श के अनुसार कल्पित चरित और वस्तु का निबंधन होता था जो दंडी के परवर्ती काल की स्थिति थी।

१०. किसी विधा को पहली बार शास्त्रीय रूप देने में अपने से पूर्व के आचार्यों के निरूपण का आधार लेना पड़ता है और उसी को विस्तार कर शास्त्रीय रूप दिया जाता है। दंडी के सामने यही स्थिति थी, वे कहते हैं—'पूर्व के शास्त्रों का संग्रह कर, उनके प्रयोगों को देखकर यथाशक्ति काव्यलक्षण का विवेचन करता हूँ।'[१७] 'अलंकारों के भेदों का आज भी विकल्प होता है। निःशेष रूप से उनका व्याख्यान भला कौन कर सकता है। किंतु पूर्व के आचार्यों ने उनके भेद-विकल्पों के बीज का निर्देश किया है, उसी के परिवर्धन के लिये मेरा यह परिश्रम है।'[१८]

किंतु भामह के समक्ष स्थिति दूसरी थी। काव्यलक्षण को शास्त्रीय रूप मिल चुका था। अतः अब नया आचार्य पूर्व के शास्त्रों के संग्रह करने में अपने कर्तव्य की इतिश्री नहीं समझ सकता था। संगृहीत शास्त्र में तथ्य एवं अतथ्य के विभाजन तथा स्थापनाओं की नई सूझ बूझ की ओर ही उसकी प्रतिभा का झुकाव होगा। भामह ने अपने ऐसे संकल्प का स्वयं कथन किया है—'मैंने अपनी बुद्धि से स्वयं निश्चय कर वाणी के अलंकार-प्रकार का विस्तार से वर्णन किया है।'[१९]

दोनों आचार्यों के ग्रंथ-निर्माण संबंधी उक्त संकल्पों को समझते हुए इस निर्णय पर संदेह ही नहीं किया जाना चाहिए कि दंडी पहले हुए और भामह बाद में।

ऊपर दंडी और भामह के ग्रंथों से विषयनिरूपण, स्थापना और आलोचना के जो अंश उद्धृत हैं उनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि भामह गौडीय काव्य की

१७. काव्यादर्श, १।२।

१८. वही, २।१–२।

१९. गिरामलंकार विधिः सविस्तरः
स्वयं विनिश्चित्य धिया मयोदितः।
— काव्यालंकार (भामह) २।५८।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उत्कृष्टता स्थापित करना चाहते हैं, जो दंडी के समस्त वैदर्भकाव्य से व्यापकता में न्यून था और स्वयं उनकी दृष्टि में अनभिमत काव्य था। भामह ने वैदर्भ (दाक्षिणात्य) काव्य की उन मान्यताओं की आलोचना की है जो दंडी के काव्यादर्श में स्थापित की गई हैं। ये तथ्य यह इतिहास प्रकट करते हैं कि दंडी पहले हुए और भामह बाद में।

किंतु भामह का समय भी अनिश्चित है। प्रोफेसर ए० बी० कीथ और म० म० पी० वी० काणे भामह को ७०० ई० के पहले नहीं मानते। डा० गणेश त्र्यंबक देशपांडे अपने भारतीय साहित्यशास्त्र में भामह का समय ६०० ई० के आसपास स्वीकार करते हैं। प्रोफेसर देवेंद्रनाथ शर्मा ने भामह का समय बाणभट्ट के पूर्व और दिङ्नाग (४०० ई०) के बाद ५०० ई० से ५५० ई० के बीच माना है।[२०] अतः दंडी को इसके पहले होना चाहिए।

राजशेखर की उक्ति : दंडी के तीन प्रबंध

राजशेखर ने अपनी एक उक्ति में दंडी की प्रशस्ति की है—

त्रयोऽग्नयस्त्रयो वेदास्त्रयो देवास्त्रयो गुणाः।
त्रयो दण्डिप्रबन्धाश्च त्रिषु लोकेषु विश्रुताः॥[२१]

यह उक्ति काव्यमीमांसाकार राजशेखर की है जो वैदर्भ काव्यपद्धति के अनुयायी हैं और जिनकी समाधिगुणशालिनी रचनाओं की प्रशंसा हुई है। राजशेखर का समय पहले कन्नौज के प्रतिहार नरेशों—महेंद्रपाल और महिपाल के आश्रय में बीता था। राष्ट्रकूट और कलचुरि नरेशों की संमिलित सेना ने जब प्रतिहार नरेश महिपाल को पराजित किया तब से वे कलचुरियों की राजधानी त्रिपुरी में आकर रहने लगे और संभवतः यहीं (१०वीं शताब्दी ई० के प्रारंभ में) 'काव्यमीमांसा' की रचना की। 'काव्यमीमांसा' में उन्होंने कहीं भी दंडी का नाम नहीं लिया है, न तो दंडी के नाम से किसी मत-सिद्धांत का उल्लेख किया है, जब कि त्रिपुरी में रहने और वैदर्भमार्ग का अनुयायी होने से दंडी का उल्लेख उनके लिये आवश्यक था। पर ऐसा राजशेखर ने किया नहीं। हाँ, 'काव्यादर्श' के दीपक अलंकार में दिया गया एक उदाहरण (**चरन्ति चतुरम्भोधि०**, २।९९) उनकी 'काव्यमीमांसा' में बिना किसी नाम के अनुवृत्ताख्यात के उदाहरण में रखा गया है। प्रायः शास्त्रीय ग्रंथों को लक्षणग्रंथ कहने की परिपाटी है, प्रबंधग्रंथ कहने की नहीं। अतः उक्त प्रशस्ति में दंडी के

२०. द्रष्टव्य—काव्यालंकार (बि० रा० प०, पटना), पृ० १७५-१७७।
२१. शार्ङ्गधरपद्धति, १७४; सूक्तिमुक्तावली, ४।७४।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तीन प्रबंधों के उल्लेख में 'काव्यादर्श' और उसके कर्ता दंडी का ग्रहण नहीं किया जाना चाहिए।

एक बात और है। राजशेखर की यह प्रशस्ति यथार्थ उक्ति नहीं है। उन्होंने एक ही दंडी के नाम से ख्यात तीन ग्रंथों की लोकप्रसिद्धि का अतिरंजना के साथ वर्णन किया है, अर्थात् 'तीनों' लोकों में इनकी प्रसिद्धि है—तीन अग्नि, तीन वेद, तीन देव, तीन गुण और दंडी के तीन प्रबंध। जैसे वेद, अग्नि, देव और गुण के रहस्यों का कोई अंत नहीं मिलता वैसे ही दंडी के नाम से प्रसिद्ध तीनों प्रबंध भी रहस्यमय हैं। संभवतः ये तीन प्रबंध हैं—दशकुमारचरित, अवंतिसुंदरी कथा और भोज के 'शृंगारप्रकाश' में उल्लिखित द्विसंधान महाकाव्य। 'द्विसंधान महाकाव्य' आज उपलब्ध नहीं है। इनमें कोई भी रचना 'काव्यादर्श' के रचयिता की नहीं है और 'द्विसिद्धांत महाकाव्य' तो बिल्कुल नहीं, क्योंकि उसमें श्लेष से संपूर्ण काव्य का प्रत्येक छंद रामायण-महाभारत-परक दो दो अर्थों का बोध कराता है। 'काव्यादर्श' में श्लेष के जैसे जटिल प्रयोगों की ओर संकेत भी नहीं है। वहाँ तो श्लेष उपमा आदि अलंकारों में, विशेषतः वक्रोक्तिमूलक अलंकारों में श्लेषमूलक एक-दो शब्दों के संनिवेश से छटा उत्पन्न करने के लिये प्रयुक्त होता है।[२२] 'अवंतिसुंदरी कथा' बाणभट्ट (७वीं शती ई० पूर्वार्ध) के बाद की रचना है।[२३] और जब दंडी भामह (५५० ई०) के पूर्व सिद्ध होते हैं तब यह कथा काव्यादर्शकार दंडी की कृति कैसे हो सकती है?

अतः राजशेखर की उक्ति को लेकर काव्यादर्श के रचयिता दंडी की तीन कृतियों की खोज नहीं करनी चाहिए। दंडी नाम के और भी लेखक थे, सत्य यह है।

'काव्यादर्श' और 'दशकुमारचरित'

उक्त दोनों ग्रंथ एक ही दंडी की कृति माने जाते रहे हैं। सन् १६१५ में श्री गणेश जनार्दन आगशे ने सर्वप्रथम यह प्रश्न उठाया कि 'काव्यादर्श' का रचयिता

२२. काव्यादर्श, २।३६३।

२३. भिन्नस्तीक्ष्णमुखेनापि चित्रं··· ···।

× × ×

व्याहारेषु जहौ लीलां न मयूरः ··· ··· ॥

न प्रमदस्पृशः कादम्बरीरसावितृष्णश्च,

५ (७१–२) —अवंतिसुंदरी कथा, आरंभश्लोक १६, पृ० २०।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'दशकुमारचरित' का लेखक नहीं हो सकता।[२४] पुनः 'दशकुमारचरित' की भूमिका में अपनी इस स्थापना को उन्होंने विस्तार से रखा।[२५] उन्होंने कहा है कि 'काव्यादर्श' में जिन दोषों से विशेषतः ग्राम्यता दोष और जटिल शब्दगुंफन से काव्य को मुक्त रखने का निर्देश किया गया है, वे सब 'दशकुमारचरित' में पाए जाते हैं। उन्होंने 'काव्यादर्श' का रचनाकाल ७वीं शती ई० उत्तरार्ध और 'दशकुमारचरित' का १२वीं शती ई० उत्तरार्ध माना है।[२६] यहाँ श्री आगशे महोदय ने 'काव्यादर्श' के तृतीय परिच्छेद में आए **'चतुःस्थाननियम'** शब्दचित्र की चर्चा नहीं की है, जिसका ही पालन कर 'दशकुमारचरित' का सप्तम उच्छ्वास ओष्ठ्य वर्णों से रहित लिखा गया है। श्री आगशे जी का कथन अपने स्थान पर ठीक है। 'काव्यादर्श' का तृतीय परिच्छेद भी मूल 'काव्यादर्श' के लेखक की रचना नहीं है, चित्रमार्ग के निरूपण से पूर्ण करने के लिये किसी ने इस परिच्छेद को बाद में लिखकर मिलाया। तृतीय परिच्छेद का रचनाकाल और 'दशकुमारचरित' का रचनाकाल एक ही संभव हो सकता है। तृतीय परिच्छेद का स्थान-नियम प्रथम परिच्छेद के श्रुत्यनुप्रास नियम के, जो माधुर्य गुण का सहयोगी है, विपरीत (एवं परवर्ती) पड़ता है और इस श्रुत्यनुप्रास का यही विरोध 'दशकुमारचरित' के ओष्ठ्य वर्ण रहित सप्तम उच्छ्वास से है जो शब्दचित्र-मार्ग के निदर्शन की ओर उन्मुख है। किंतु जैसा कि श्री आगशे जी कहते हैं—'दशकुमारचरित' का रचनाकाल १२वीं शती ई० नहीं होगा। 'काव्यादर्श' की रचना से सौ वर्ष बीतने के बाद कभी 'दशकुमारचरित' की रचना हुई।

डा० रांगेय राघव ने भी श्री आगशे जी की स्थापना को दुहराया है। उनका कहना है कि 'दशकुमारचरित' का लेखक यथार्थ परिस्थितियों के चित्रण में रुचि रखता है और 'काव्यादर्श' शिष्ट साहित्य के नियम प्रस्तुत करनेवाला ग्रंथ है, अतः दोनों ग्रंथ एक ही लेखक की कृति नहीं हैं। किंतु डा० रांगेय राघव भी 'दशकुमारचरित' का रचनाकाल छठी शती ई० से बाद नहीं मानते, उनका मत तो यह है कि 'दशकुमारचरित' भास के बाद और कालिदास के पूर्व 'मृच्छकटिक' की समकालीन रचना है।[२७]

२४. टू रोट दि दशकुमारचरित, दि इंडि० ऐंटि०, मार्च, १९१५, पृ०—६७ ६८।
२५. दशकुमारचरित (बांबे संस्कृत सीरीज), भूमिका।
२६. वही, द्वितीय संस्करण, भूमिका, पृ० ३५—४७।
२७. दशकुमारचरित (हिंदी रूपांतर) भूमिका, पृ० २४।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

महामहोपाध्याय वासुदेव विष्णु मिराशी ने 'दशकुमारचरित' के अष्टम उच्छ्वास (विश्रुतचरित) में वर्णित राजनीतिक स्थिति के आधार पर उसका ऐतिहासिक लेखा जोखा करते हुए 'दशकुमारचरित' के लेखक दंडी को ५५० ई० के बाद नहीं माना है।[२८] और जब 'काव्यादर्श' उससे एक शती पूर्व की रचना होगा तब उसका काल ४०० ई० के आस पास होना चाहिए। मिराशी जी ने अपने लेखे जोखे में 'काव्यादर्श' की कोई चर्चा नहीं की है।

आगे इस विवेचन के प्रसंग में हम देखेंगे कि 'दशकुमारचरित' की कथा में जैसी राजनीतिक उथल पुथल के संकेत मिलते हैं, 'काव्यादर्श' के कुछ प्रसंग उसकी विपरीत स्थिति के द्योतक हैं।

रात (राज) वर्मा का उल्लेख

वक्तृप्रेयोऽलंकार का उदाहरण दंडी ने शिवभक्त राजा रातवर्मा (राजवर्मा) के स्वकथन के रूप में दिया है —

सोमः सूर्यो मरुद्भूमिर्व्योम होतानलो जलम्।
इति रूपाण्यतिक्रम्य त्वां द्रष्टुं देव के वयम्॥
इति साक्षात्कृते देवे राज्ञो यद्रातवर्मणः।
प्रीतिप्रकाशनं तच्च प्रेम इत्यवगम्यताम्॥[२९]

इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि रातवर्मा दंडी के आश्रय रहे हों। किंतु यह रातवर्मा कौन था, इतिहास से इसका पता नहीं चलता। अतः यह कोई मांडलिक या अधीनस्थ राजा रहा होगा। यहाँ दो पाठ हैं—रातवर्मा, राजर्मा। प्रभा टीकाकार ने रातवर्मा पाठ को स्वीकार किया है। किसी के मत से यह उल्लेख पल्लवनरेश नरसिंह वर्मा द्वितीय (६९०–७१५ ई०) के लिये है, जिसने राजवर्मा का विरुद धारण किया था। किंतु यह केवल अटकल है, इसकी संगति न समय के विचार से संभव है न नाम के विचार से।

ऐसी स्थिति में रातवर्मा के उल्लेख से हमें दंडी के समय निर्धारण में कोई सहायता नहीं मिलती।

२८. वा० वि० मिराशी—हिस्टारिकल डेटा इन दंडिन्ज दशकुमारचरित', एनल्स आव भंडारकर ओरियंटल रिसर्च इंस्टिट्यूट, १९४५, पृ० ३१।
२९. काव्यादर्श, २।२७८–७९।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विज्जका और 'कौमुदीमहोत्सव' नाटक

वस्तुतः 'काव्यादर्श' के लेखक दंडी हैं, इसकी पहली सूचना हमें विज्जका की इस उक्ति से ही मिलती है जिसमें उसने 'काव्यादर्श' की प्रथम कारिका 'सरस्वतीवंदना' को लेकर दंडी को उपालंभ दिया है—

> नीलोत्पलदलश्यामां विज्जकां मामजानता ।
> वृथैव दण्डिना प्रोक्तं सर्वशुक्ला सरस्वती ॥[30]

इस विज्जका का कई नामों से उल्लेख होता है—विज्जका[31] विजयांका,[32] विजया।[33] सूक्ति संग्रहों में इसके पद्य मिलते हैं। राजशेखर ने इसे कालिदास के अनंतर वैदर्भी की श्रेष्ठ कवयित्री माना है।[34] संस्कृत कवयित्रियों में सबसे अधिक ख्याति इस विज्जका की है। इसी लिये 'कौमुदी महोत्सव' नाटक की स्त्री लेखिका को, जिसके नाम के अक्षरों में केवल अंतिम 'कथा'[35] को छोड़कर प्राप्त हस्तलिखित पोथी में शेष अक्षर कीट-भक्षित हो गए हैं, विज्जका समझा जाता है।

विज्जका ही इस नाटक की रचयित्री है, इसके संबंध में अधिक तथ्य तब प्रकाश में आते हैं जब हम 'कौमुदी महोत्सव' के वर्ण्य विषय, इतिहास की घटना, का अध्ययन करते हैं। यह तो बहुत निश्चित है कि यह नाटक समकाल की बीती घटनाओं को ही लेकर लिखा गया है जैसा कि उसके इन अंशों को लेकर लिखा गया है और जैसा कि उसके इन अंशों से संकेत मिलता है—'यत्तदस्यैव राज्ञः समतीतं चरितमधिकृत्य', (अंक १), 'केण कारणेण विरत्ता पकिदिए चंडऽसेण हदअस्स', तेनैव शीलायराधेन। × × तदो तदो काईं 'एरिसवंणस्स से राअसिरी? × × तत-

३०. शार्ङ्गधर पद्धति, १८०; सूक्तिमुक्तावली, ४।९६।

३१. सूक्तिमुक्तावली, ४।९६।

३२. वही, ४।९३—
सरस्वतीव कर्णाटी विजयाङ्का जयत्यसौ।
या वैदर्भगिरां वासः कालिदासादनन्तरम् ॥—राजशेखर।

३३. जयति प्रथमं विजया जयन्तिदेवाः स्वयं महादेवः।
श्रीमन्तौ भगवन्तावनन्त नारायणौ जयतः ॥—कौमुदीमहोत्सव, ४।१९।

३४. सूक्तिमुक्तावली, ४।९३।

३५. भवतु, यत्तदस्यैव राज्ञः समतीतं चरितमधिकृत्य (……) कया निबद्धं नाटकम्।—कौमुदीमहोत्सव, अंक १, प्रस्तावना।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संप्रवृत्ते संग्रामे वधपात्रमभवेनं **पुत्रीकृतत्वाद**पहस्तयित्वा लिच्छविकुलमन्तः क्षपितवान् देवः' (अंक ४)। 'पुनरपि यदृच्छयागतैस्तापसैर्नीतास्तपोवनमिति **पर्यवसिता कथा'** (अंक ४)। इन उद्धरणों में काले अक्षरों में मुद्रित पद वक्ता की आँखों के सामने घटित घटना का संकेत देते हैं। नाटक की वर्ण्य घटनाओं की पृष्ठभूमि में डा० काशीप्रसाद जायसवाल के अनुसार यह नाटक ३४० ई० में लिखा गया।[३६]

डा० जायसवाल ने इस नाटक की चर्चा गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्त और उसके पिता चंद्रगुप्त के इतिहास के प्रसंगों में सर्वथा संशयरहित मान्यताओं के साथ की है। उस चर्चा के मुख्य भाव ये हैं—'कौमुदीमहोत्सव' में वर्णित कल्याणवर्मा के पाटलिपुत्र में राज्याभिषेक की घटना नाटक की रचयित्री के सामने घटित हुई है और इस कार्य में स्वयं उसने भी हाथ बँटाया है। कल्याणवर्मा का पिता सुंदरवर्मा वर्णाश्रम धर्म का पालक था, जिसको समुद्रगुप्त के पिता चंद्रगुप्त ने लिच्छवियों की सहायता से संग्राम में जीतकर मगध का राज्य ३२० में हस्तगत कर लिया। 'कौमुदीमहोत्सव' का चंडसेन चंद्रगुप्त ही है। उस समय मध्य और दक्षिण भारत में वाकाटक सम्राट् प्रवरसेन प्रथम का शासन था, जो ब्राह्मणधर्म का समर्थक था। चंद्रगुप्त की जाति कारस्कर थी, धर्मशास्त्र के अनुसार जिनके यहाँ ब्राह्मणों का जाना तक निषिद्ध था। चंद्रगुप्त ने मगधराज्य को जीत लिया और सुंदरवर्मा उसमें मारा गया। तब सुंदरवर्मा के एक मात्र शिशु को उसके रक्षक किसी प्रकार बचाकर किष्किंधा (पंपासर) ले गए और वहाँ उसका बीस वर्ष तक पालन पोषण किया गया। कल्याणवर्मा के वयस्क होने के साथ उसके हितैषी मंत्रियों ने उसका पुनः मगधराज्य पर अभिषेक करने की बात सोची। प्रजा चंद्रगुप्त को नहीं चाहती थी, उसे अपने राजकुमार के प्रति स्नेह था। सन् ३४० में चंद्रगुप्त जब विद्रोही शबरों का दमन करने के लिये अमरकंटक की ओर गया था, कल्याणवर्मा के सहायकों ने प्रजा के सहयोग से पाटलिपुत्र के सुगांगप्रासाद में उसका राज्याभिषेक कर दिया। संभवतः इस कार्य में वाकाटक सम्राट् प्रवरसेन का भी हाथ था और मगधराज्य के अधिकार से चंद्रगुप्त च्युत हो गया। कुछ दिनों के बाद उसकी मृत्यु हो गई। राज्याभिषेक के साथ कल्याणवर्मा का विवाह मथुरा के राजा कीर्तिषेण की पुत्री के साथ हुआ। सन् ३४४ ई० में प्रवरसेन की मृत्यु हो गई, तब चंद्रगुप्त के होनहार उत्तराधिकारी समुद्रगुप्त को पुनः मगध पर अधिकार करने और पूर्ण रूप से स्वतंत्र होने का अवसर मिल गया। उसने मगध को विजय करने के लिये सेना भेज दी और स्वयं कौशांबी में उन राजाओं के साथ युद्ध किया जो कल्याणवर्मा की सहायता के

३६. अंधकारयुगीन भारत, पृ० २५६।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिये जा रहे थे (गणपति नाग, नागसेन, अच्युतनंदी, बलवर्मा) और वे सभी युद्ध में मारे गए। मगध का कल्याणवर्मा (जिसे समुद्रगुप्त के प्रयागस्तंभ लेख में कोतवंश का राजा कहा गया है, उसके नामवाला अंश अभिलेख में नष्ट हो गया है) खेल ही खेल में पकड़ लिया गया। और इस प्रकार समुद्रगुप्त ने अपने पिता के राज्य को पुनः प्राप्त कर लिया।[३७]

डा० जायसवाल ने 'कौमुदीमहोत्सव' के आधार पर जिस इतिहास की खोज की है उसमें संशय का स्थान नहीं है। यह नाटक ३४० ई० में ही लिखा गया। किंतु कुछ पाश्चात्य और पौरस्त्य विद्वानों ने, जिसमें डा० विंटरनित्ज भी हैं, इस नाटक को बहुत बाद की रचना माना है। पं० क्षेत्रेशचंद्र चट्टोपाध्याय ने डा० विंटरनित्ज के समर्थन में 'दि डेट आफ दि कौमुदी महोत्सव'[३८] नाम से एक लंबा लेख लिखा है और इस नाटक को आठवीं शती ई० से पूर्व की रचना नहीं माना है। वे डा० काशीप्रसाद जायसवाल के इस नाटक के आधार पर किए गए ऐतिहासिक उन्मीलनों को भी असत्य ठहराते हैं। किंतु ऐसा प्रतीत होता है कि श्री चट्टोपाध्याय जी पूर्वाग्रह से युक्त इस विवेचन में प्रवृत्त हुए हैं। जैसे, उनका एक विशेष आग्रह यह है कि 'कौमुदी महोत्सव' का प्रथम मंगल श्लोक[३९] जो शिव की वंदना में कहा गया है, उसमें प्रयुक्त—'श्रीमद्वैयाघ्रचर्मास्तररचिततले स्थण्डिले संनिषण्णः' और 'ब्रह्मव्याख्याननिष्ठः'— पद आदि शंकराचार्य की ओर लक्ष्य करते हैं और आदि शंकराचार्य का जन्म ७८८ ई० में माना जाता है। अतः यह नाटक ८वीं शती ई० के बाद लिखा गया। पर चट्टोपाध्याय जी की उक्त संभावना संदिग्ध है क्योंकि यदि 'ब्रह्मव्याख्यान निष्ठः' से शंकराचार्य की ओर लक्ष्य समझा

३७. वही, पृ० २०७, २४८–२४९, २५६–२५७, २८१–२८२।
पुनः द्रष्टव्य—दण्डैर्ग्राहयतैव कोतकुलजं पुष्पाह्वये क्रीडता। सूर्यैर्नित्य··· ··· रुद्रदेव-मातिल-नागदत्त-चन्द्रवर्म-गणपतिनाग-नागसेनाच्युत-नन्दिबलवर्मा द्यनेकार्य्यावर्त राज-प्रसभोद्धरणोद्वृत्त प्रभावमहतः।—हिस्टारिकल एंड लिटरेरी इंस्क्रिप्शंस (समुद्रगुप्त का अभिलेख) पृ० ७३–७४।

३८. इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली, खंड १४ (सन् १९३८), पृ० ५८२-६०६।

३९. श्रीमद्वैयाघ्रचर्मास्तररचित तले स्थण्डिले संनिषण्णः
कृत्वा पर्यङ्कबन्धं फणमणिकिरणचारिणा तक्षकेण।
नानाख्यग्रन्थभेदीं धियमिवविकिरन् दन्तकान्तिच्छलेन
ब्रह्मव्याख्याननिष्ठस्तव भवतु तमःकृत्तये कृत्तिवासः।
—कौमुदी महोत्सव, १।१।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाता है तो **वेदान्तेषु यमाहुरेकपुरुषं व्याप्यस्थितं रोदसी**[४०]; कालिदास के इस मंगलश्लोक में **वेदान्तेषु** पद का प्रयोग भी वैसी भ्रांति पैदा कर सकता है। जैसे शंकराचार्य के लिये 'ब्रह्मव्याख्यान' करने की कल्पना की जा सकती है, वैसे ही वह भगवान् शंकर के लिये भी संभव है। बृहत्कथा की अद्भुत विद्याधर कथाएँ शिव के मुँह से ही निःसृत हुई हैं। 'वेदांत' और 'ब्रह्म की व्याख्या' उपनिषद्काल से ही लोकप्रसिद्ध विषय रहे हैं। पं० चट्टोपाध्याय जी नाटक में वर्णित घटनाओं को लेखिका के समक्ष घटित नहीं मानते। इस संबंध में पीछे उल्लेख किया जा चुका है कि नाटक के पात्रों के संवादों में वर्णित घटनाएँ नाटकीय भूमिका में नहीं, ऐतिहासिक भूमिका में आती हैं। नाटक के आरंभ में ही सूत्रधार बहुत स्पष्ट शब्दों में कहता है—'जो इस राजा के ही बीते हुए चरित को लेकर (··· ···) द्वारा रचित नाटक को, ।'[४१] वह राजा कल्याणवर्मा है, जिसका राज्याभिषेक और विवाह इस नाटक में वर्णित है और चौथे अंक में उसके बाल जीवन की विपत्तियों की भी चर्चा आगई है।

पं० चट्टोपाध्याय जी का यह भी कहना है कि यह नाटक पांचाली रीति की रचना है पर हम उसमें दंडी के 'काव्यादर्श' में निरूपित वैदर्भ मार्ग के ही लक्षण पाते हैं और यतः यह नाटक पाटलिपुत्र के लिये लिखा गया अतः लेखिका ने इसकी प्रस्तावना में ('काव्यादर्श' में लक्षित) गौड संमत अनुप्रासयुक्त माधुर्य गुण के एक उत्तम श्लोक का निबंधन कर दिया है।[४२]

नाटक के चौथे अंक में जब कल्याणवर्मा पाटलिपुत्र में प्रवेश करता है, उसका स्वामिभक्त मंत्री मंत्रगुप्त प्रसन्नता में 'विजया' देवी की भी जयकार करता है। यह 'विजया' कोई देवता नहीं है, न नाटक में इसके पूर्व और बाद में कहीं इसका उल्लेख हुआ है। यह नाटक की कर्त्री विजया (विज्जका) है जो पंचासर - कर्णाटक प्रदेश से आकर कल्याण वर्मा के साथ पाटलिपुत्र में प्रवेश कर रही है और कल्याण वर्मा का राज्याभिषेक कराने में जिसका हाथ रहा है। उसका जो स्वागत पाटलिपुत्र की जनता ने किया होगा उसी की एक झलक नाटक के इस श्लोक में उसने चित्रित कर दी है—

४०. विक्रमोर्वशीय, १।१।

४१. भवतु, यत्तदस्यैव राज्ञः समतीत चरितमधिकृत्य (···) कया निबद्धं नाटकम् ।—कौमुदीमहोत्सव, प्रस्तावना।

४२. कृष्णसारां कटाक्षेण कृषीवलकिशोरिका।
करोत्येषा कराग्रेण कर्णे कलममंजरीम् ॥ —कौमुदीमहोत्सव १।२।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जयति प्रथमं विजया जयन्ति देवः स्वयं महादेवः ।
श्रीमन्तौ भगवन्तावनन्तनारायणौ जयतः ॥[४३]

'कौमुदीमहोत्सव' नाटक की लेखिका विज्जका ही है और इसकी रचना ३४० ई० में समुद्रगुप्त के अभ्युदय के पूर्व हुई ।

विज्जका दंडी की समकालिकी है। दंडी की सरस्वती वंदना को लेकर उसने जो उपालंभ दिया है उससे यह सूचित होता है कि दोनों एक दूसरे से परिचित थे। वाकाटक सम्राट प्रवरसेन प्रथम के किन्हीं अधीनस्थ राजाओं के दोनों आश्रित थे और यह संभव है कि दंडी के आश्रय रातवर्मा रहे हों। कल्याणवर्मा के अभ्युदय के लिये विज्जका ने जो प्रयास किया उसमें दंडी का भी सहयोग हो सकता है। 'कौमुदी-महोत्सव' में कल्याणवर्मा के अभ्युदय के लिये जैसी प्रसन्नता व्यक्त की गई है—

प्रह्वानां नयनमहोत्सवः प्रजानां ।
सम्प्राप्तो मगधकुलाङ्कुरः कुमारः ॥[४४]

× × × ×

प्रकटितवर्णाश्रमपथमुन्मूलितचण्डसेनराजकुलम् ।[४५]

अर्थात् अनुरागी प्रजा की आँखों के उत्सव मगध राजकुल के अंकुर राजकुमार आ गए। × × जिसने वर्णाश्रम धर्म का मार्ग पुनः प्रकट किया और चंडसेन के राजकुल का उन्मूलन किया (उस राजकुमार कल्याण वर्मा को)। दंडी का यह श्लोक भी उसी प्रसन्नता को लेकर लिखा जान पड़ता है—

एष राजा यदा लक्ष्मीं प्राप्तवान् ब्राह्मणप्रियः ।
तदा प्रभृति धर्मस्य लोकेस्मिन्नुत्सवोऽभवत् ॥[४६]

अर्थात् ब्राह्मणप्रिय इस राजा ने जब से राज्यलक्ष्मी प्राप्त की, तब से प्रजा के बीच धर्म (वर्णाश्रम धर्म) के उत्सव आरंभ हो गए। अतः इस प्रकार दंडी तथा विज्जका एक काल के ही निश्चित होते हैं।

'सेतुबंध' और प्रवरसेन

'सेतुबंध' की सूक्तियों की दंडी ने बड़ी प्रशंसा की है। 'सेतुबंध' महाराष्ट्री प्राकृत का श्रेष्ठ महाकाव्य है। इसका रचयिता विद्वज्जन कालिदास को मानते हैं

४३. कौमुदीमहोत्सव, ४।१६ ।
४४. वही, ४।१८ ।
४५. वही, ५।१ ।
४६. काव्यादर्श, १।५३ ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जिसने वाकाटक सम्राट् द्वितीय प्रवरसेन के लिये इसको रचा था। द्वितीय प्रवरसेन चंद्रगुप्त विक्रमादित्य की पुत्री प्रभावती गुप्ता का पुत्र था। प्रभावती गुप्ता का विवाह वाकाटक नरेश रुद्रसेन द्वितीय से हुआ था। विद्वानों की यह भी कल्पना है कि चंद्रगुप्त विक्रमादित्य ने कालिदास को प्रवरसेन की शिक्षा दीक्षा के लिये भेजा था। यह समस्त संभावना इस पर आधारित है कि कालिदास चंद्रगुप्त विक्रमादित्य के सभा कवि थे।

किंतु दूसरा पक्ष भी है। वाकाटक सम्राट् प्रवरसेन अत्यंत प्रतापी शासक हुआ, उसने ६० वर्ष (२८४–३४४ ई०) तक राज्य किया। उसके द्वारा संपन्न ४ अश्वमेध यज्ञों की सूचना है।[४७] उसने सिंध-शकस्थान को भी अपनी सेनाएँ भेजी थीं।[४८] वाकाटक नरेश जाति से ब्राह्मण थे और उनका गोत्र विष्णुवृद्ध था। 'सेतुबंध' का आरंभ विष्णु की वंदना से होता है, पुनः वाकाटकों के इष्टदेवता शिव की स्तुति की गई है। विष्णु और शिव की इस एकता में गोत्रदेवता तथा इष्टदेवता की समान मान्यता कारण थी। आगे काव्य में जितने विस्तार से राम की विजयगाथा गाई गई है वह सब प्रकारांतर से सम्राट् प्रवरसेन की विजयों और विक्रमों का ही गुणगान है। वायुपुराण में भी प्रवरसेन की चर्चा 'प्रवीर' नाम से की गई है। इसलिये सेतुबंध की रचना ३४० ई० के पहले वाकाटक सम्राट् प्रवरसेन ने या उसके नाम पर किसी सभाकवि ने की। जैसे कालिदास के रघुवंश में रघु की दिग्विजय का गान किसी सम्राट् के विजयगान का प्रकारांतर है वैसे ही सेतुबंध की प्रबंधकल्पना में भी संग्राम तथा विजय का निबंधन किसी यशस्वी सम्राट् के विक्रम के इतिहास की आंतरिक कहानी है। वह प्रवरसेन द्वितीय के लिये संभव नहीं हो सकती जो गुप्त सम्राट् की कृपा का आश्रित था। प्रवरसेन प्रथम ही उस काव्य-कल्पना का लक्ष्य है।

३४४ ई० में सम्राट् प्रवरसेन प्रथम की मृत्यु के बाद समुद्रगुप्त का अभ्युदय हुआ। ३४० ई० में मगध में कल्याणवर्मा का अभिषेक हुआ था। जैसा कि डा० काशीप्रसाद जायसवाल ने लिखा है, गुप्त नरेश कारस्कर जाति के थे[४९] अतः पहले ब्राह्मणों की दृष्टि में उसके प्रति आदर नहीं था। समुद्रगुप्त की विजय, जो ३४४ ई० में हुई, के बाद भी उसे नीचा दिखाने के प्रयत्न राजाओं द्वारा हुए होंगे।

४७. **अंधकारयुगीन भारत, पृ० १४३।**

४८. **भारतीय इतिहास का उन्मीलन, पृ० २०६।**

४९. **अंधकारयुगीन भारत, पृ० २४६, २५३; कौमुदीमहोत्सव, ४।६।**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'काव्यादर्श' के व्यतिरेक अलंकार के उदाहरण में तीन श्लोक ऐसे आए हैं जिसमें वर्ण्य राजा की सागर से उत्कृष्टता दिखाई गई है। एक श्लोक में स्पष्ट ही समुद्र नाम आया है। यह बहुत संभव है कि दंडी ने अपने आश्रय राजा की यह प्रशंसा समुद्रगुप्त की तुलना में की हो—

धैर्यलावण्यगाम्भीर्यप्रमुखैस्त्वमुदन्वतः ।
गुणैस्तुल्योऽसि भेदस्तु वपुषैवेदृशेन ते ॥
अभिन्नवेलौ गम्भीरावम्बुराशिर्भवानपि ।
असावञ्जनसंकाशस्त्वं तु चामीकरद्युतिः ॥
त्वं समुद्रश्च दुर्वारौ महासत्त्वौ सतेजसौ ।
अयं तु युवयोर्भेदः स जडात्मा पटुर्भवान् ॥[५०]

अतः यह निश्चित होता है कि दंडी ने अपना 'काव्यादर्श' समुद्रगुप्त के इसी अभ्युदय के आसपास लिखा।

विज्जका की भी एक राजस्तुति प्राप्त होती है, जिसमें उसने अपने वंदनीय राजा को चंद्र-सूर्य-वंशियों से अधिक प्रतापी माना है और एकमात्र पृथ्वी का भर्तार कहा है, अंग से लेकर कुंतल-चोल तक जिसका राज्य है।[५१] यह स्तुति सम्राट् प्रवरसेन प्रथम पर घटित होती है। इससे भी प्रवरसेन प्रथम के समकालिक विज्जका और दंडी की स्थिति का आकलन दृढ़ होता है।

दंडी का वाराह वर्णन

उक्त विवेचनों के साथ एक और आधार दंडी के कालनिर्णय में सहायक होता है। वह है दंडी का वराहवर्णन। अर्थव्यक्ति गुण के उदाहरण में उन्होंने लिखा है—

अर्थव्यक्तिरनेयत्वमर्थस्य हरिणोद्धृता ।
भूः खुरक्षुण्णनागासृग्लोहितादुदधेरिति ॥[५२]

५०. काव्यादर्श २।१८१, १८३, १८५।

५१. भूपालाः शशिभास्करान्वयभुवः के नाम नासादिता
भर्तारं पुनरेकमेव हि भुवस्त्वां देवमन्यामहे।
येनाङ्गं परिमृष्य कुन्तलमथाकृष्य व्युदस्यायतम्
चोलं प्राप्य च मध्यदेशमधुना काञ्च्यां करः पातितः ॥
—सुभाषितावलि, २५१५; सदुक्तिकर्णामृत, १४४१।

५२. काव्यादर्श १।७३।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थात् 'वाराहविष्णु ने अपने खुर के आघात से आहत साँपों के रक्त से लोहित पृथिवी को समुद्र से निकाला'। आगे वे कहते हैं कि यदि यहाँ पर केवल इतना कहा जाय—

महीं महावराहेण लोहितादुद्धृतोदधेः।[५३]

अर्थात् 'महावराह विष्णु द्वारा लोहित पृथिवी समुद्र से निकाली गई' तब—

नेयत्वमुरगासृजः[५४]

'साँपों के रक्त' का अध्याहार वहाँ करना पड़ेगा। वराह के पृथ्वी-उद्धार-वर्णन में इतने वस्तुविन्यास के प्रति आग्रह का जो संकेत दंडी ने दिया है उसका अर्थ है कि वराह की ऐसी वस्तुविशिष्ट मूर्ति की कल्पना और निर्माण उनके समक्ष था, जो पीछे उपेक्षित हो गया। उदयगिरि (भिलसा) में वराह की जो मूर्ति (४०० ई०) मिली है, जिसका निर्माण चंद्रगुप्त विक्रमादित्य ने करवाया था,[५५] उसमें नीचे केवल शेषनाग अंकित किए गए हैं। परवर्ती काल में भी वराह का जो वर्णन आता है वह इतना वस्तुविशिष्ट नहीं है जितना दंडी का उक्त वर्णन।

इन समस्त विवेचनों से अंत में हम इस निश्चय पर पहुँचते हैं कि दंडी भामह के पूर्ववर्ती हैं। उनकी एकमात्र रचना 'काव्यादर्श' ही प्राप्त है। वे विज्जका के समकालीन हैं। विज्जका 'कौमुदीमहोत्सव' नाटक की लेखिका है। प्रवरसेन प्रथम ने 'सेतुबंध' की रचना की या कराई होगी। दंडी के समक्ष वाराह की मूर्तियाँ जैसी बनती थीं, उनमें परिष्कार करके ही उदयगिरि (भिलसा) की वाराह मूर्ति का निर्माण (४०० ई० में) हुआ। अतः प्रवरसेन और विज्जका के समय को देखते हुए दंडी के 'काव्यादर्श' की रचना का काल ३४० ई० से ३५० ई० के बीच होना चाहिए। यह समय संस्कृत काव्यशास्त्र के विकास संबंधी पर्यालोचन में भी दंडी के मार्ग-गुण-विवेचन को देखते हुए ठीक जँचता है। यतः दंडी और विज्जका दोनों समुद्रगुप्त के विरोध में मगध के राजा कल्याणवर्मा के समर्थक थे, ये दोनों जिस राज्य के थे और जिस राजा के आश्रित थे, उसका भी पराभव समुद्रगुप्त के द्वारा हो गया होगा और प्रवरसेन प्रथम की मृत्यु के बाद वाकाटक नरेश निर्बल हो गए, अतः इन दोनों के लिखे ग्रंथों को समुद्रगुप्त की प्रशस्ति के सामने राजसभाओं में आदर न प्राप्त हुआ और ये शताब्दियों तक विद्वानों के पास उपेक्षित पड़े रहे।

*

५३. काव्यादर्श १।७४।

५४. वही, १।७४।

५५. भारतीय इतिहास उन्मीलन, पृ० २१६।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिंदी अंगरेजी कोशकार्य और पारिभाषिक शब्दनिर्माण

[सन् १७६०-१६१० ई०]

गोपाल शर्मा

भारत में कोशकार्य और पारिभाषिक शब्दावली निर्माण का ऐतिहासिक सर्वेक्षण करने से पूर्व इस विषय की सीमाओं का उल्लेख कर देना आवश्यक है। १६वीं शताब्दी के आरंभ से ही अंगरेजी, हिंदी, फारसी, उर्दू, संस्कृत शब्दावली के आधार पर द्विभाषी, त्रिभाषी, बहुभाषी कोश प्रकाशित होते रहे हैं। अंगरेज विद्वानों और अफसरों ने इस विषय में विपुल परिमाण में काम किया है। आरंभिक कार्य सामान्य संकलन के रूप में हैं जिनमें कि समानार्थी अंगरेजी, उर्दू, हिंदी, संस्कृत शब्दों को एक साथ रखकर यथावश्यक उनके मूल और अन्य अन्य अर्थों की व्याख्याएँ की गई हैं। सामग्री उपलब्ध प्राचीन ग्रंथों, प्रस्तुत प्रकाशनों, जनसंपर्क और पंडितों और मौलवियों की सहायता से संकलित की गई है। क्षेत्रीय सरकारी मुलाजिमों का भी इसमें बहुत सहयोग रहा है। जिन कोशों का आगे उल्लेख किया जा रहा है वे कलकत्ता और दिल्ली के पुस्तकालयों में या तो उपलब्ध हैं या उनका उल्लेख उपलब्ध कोशों की भूमिका में आधारित सामग्री के रूप में हुआ है। सामान्य द्विभाषी-त्रिभाषी कोशों का यहाँ मात्र परिचय दिया जा रहा है। इन्हें इस सर्वेक्षण में इसलिये संमिलित किया गया है कि उनमें परिभाषा संकलन और शब्दार्थ निश्चय बीजरूप में विद्यमान हैं। ये सामान्यतया दिशादर्शक और प्रचलित शब्दावली के आदि पुरस्कर्ता हैं। जिस कोश में विशेष पारिभाषिक शब्दावली का संकलन मिलता है उसे 'संकलन' शीर्षक के अंतर्गत लेकर विशेष टीका के साथ प्रस्तुत किया गया है। उसके पश्चात् ही मूल पारिभाषिक शब्द-रचना-संबंधी कोशों का वर्णन 'पर्याय रचना' शीर्षक के अंतर्गत सविस्तार किया गया है। यहाँ ज्ञान विज्ञान के लिये सुनिश्चित रूप से बड़े पैमाने पर किए गए कार्य को प्रधानता दी गई है। इसके अतिरिक्त जिस प्रादेशिक संस्था ने संस्कृत के आधार पर हिंदी में खप सकनेवाले शब्दों का निर्माण किया है, चाहे वह काम बंगला या गुजराती भाषा के लिये ही क्यों न हो, उसे यहाँ संमिलित कर लिया गया है। आनुषंगिक रूप से शब्दावलीनिर्माण के प्रेरक और सहायक यत्नों का यथावश्यक वर्णन किया गया है। इन सारे कार्यों की भूमिका में व्यक्त विचार भी महत्वपूर्ण हैं, जिनसे यह ज्ञात होता है कि शब्दावलीनिर्माण के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सिद्धांतों का तत्संबंधी धारणाओं का कैसे विकास हुआ और आज जिन तरीकों को मान्यता दी गई है उनकी पूर्वपीठिका क्या है।

अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से आरंभ करते हुए हमें सन् १७९० में मद्रास में मुद्रित और इंडिया हाउस लाइब्रेरी में उपलब्ध एक कोश का नामोल्लेख मिलता है। इसका नाम 'डिक्शनरी आव् इंगलिश ऐंड हिंदुस्तानी' है। कोश के संपादक डाक्टर हेरिस हैं।[1] जान शेक्सपियर ने इसका अपने व्याकरण की भूमिका में उल्लेख किया है। जान गिलक्रिस्ट ने अपना अंगरेजी हिंदुस्तानी कोश सन् १७८० में कलकत्ते से प्रकाशित किया। इसका द्वितीय संस्करण एडिनबरा से सन् १८२० में निकाला गया। डा० गिलक्रिस्ट के काम से फोर्बस ने अपने कोशकार्य में पर्याप्त सहायता ली। फोर्ब्स ने भूमिका में लिखा है कि गिलक्रिस्ट के दिनों में हिंदुस्तानी बन नहीं पाई थी, इसलिये अधिकांश शब्दों में ह्रस्व के स्थान पर दीर्घ ऊ) का प्रयोग तथा इसके विपरीत जहाँ (ऊ) चाहिए वहाँ (उ) का प्रयोग किया है। इसकी उपेक्षा की जाए तो गिलक्रिस्ट के कार्य और क्रम की सर्वत्र प्रशंसा हुई और उन्हें उच्चकोटि का प्राच्यविद् माना गया। सन् १८३४ में जान शेक्सपियर ने हिंदुस्तानी भाषा का व्याकरण या मुंतख़बात-ए-हिंदी नामक पुस्तक लंदन से प्रकाशित की। इसे ईस्ट इंडिया कंपनी के मैनेजरों को समर्पित किया गया। प्रकाशन में २२०७ पृष्ठ हैं। इसकी भूमिका में कुछ और कोशों का उल्लेख है। एक का निर्देश ऊपर किया जा चुका है। दूसरा कोश हिंदुस्तानी और इंग्लिश का है जिसे अपने काम के लिये कैप्टेन जोजफ टेलर ने संकलित किया था और जिसे फोर्ट विलियम कालेज के विद्वान मारर्बियों (नैटिव्स) की सहायता से डब्ल्यू० हंटर एम० डी० ने संशोधत कर प्रेस के लिए तैयार किया था। यह कोश सन् १८०८ में कलकत्ता से प्रकाशित किया गया था।

टेलर और हंटर के कोश में हिंदी के शब्दों के सामने उनके संस्कृत आधार भी दिए गए हैं जैसा कि नीचे दिए गए कुछ उदाहरणों स्पष्ट होगा —

Paharna	(स्फुरण)	to fly (as a flag in the air) to flutter.

१. द्रष्टव्य—ए ग्रामर आव् हिंदुस्तानी लैंग्वेज; मुंतख़बात-ए हिंदी बाई जौन शेक्सपियर पब्लिश्ड आन १८ दिसंबर, १८३४, इन लंदन : प्रिफेस; तथा ए डिक्शनरी आव् हिंदुस्तानी इंगलिश (ऐंड रिवर्स) बाई डी० फार्बेस, प्रिफेस, पृ० ४।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Takshal	(टंकशाला)	a mint
Rokre	(रोक)	Ready money, cash
Kalar	(कलाढ)	A distiller, seller of spiritual liquers. A tavern keeper, innkeeper.
Nivedan	(निवेदन)	An address, a petition, represeentation.

इस कोश में संस्कृत के शब्द देवनागरी लिपि में दिए गए हैं। शेक्सपियर के ग्रंथ का मूल आधार यही कार्य था। सन् १८७० में शेक्सपियर द्वारा संशोधित संस्करण लंदन से प्रकाशित किया गया। इसमें भारत की अनेक तत्कालीन भाषाओं के शब्द हैं और अनेक पांडुलिपियों तथा प्रकाशित ग्रंथों से आधारभूत सामग्री एकत्रित की गई है। इस कोश में कई शब्द और अर्थ बड़े असाधारण प्रतीत होते हैं, जैसे :

अहमेघ : Vanity, egotiam, arrogance, pride.

चिह्न : to advertise.

सुलक्षण : 1. clever, 2. of good marks of features-beautiful.

दर्शन : interview.

रेवरेंड ए० टी० एडम ने भारतीय पाठशालाओं में उपयोग के लिये सन् १८३८ में 'इंग्लिश हिंदी डिक्शनरी' प्रकाशित की थी। उसी उद्देश्य से 'कलकत्ता स्कूल बुक ऐंड वर्नाक्यूलर लिटरेचर सोसायटी' की ओर से सन् १८७० में 'इंग्लिश-हिंदी-डिक्शनरी' प्रकाशित की गई थी। यद्यपि यह कोश सामान्य वर्ग का है फिर भी जहाँ तहाँ काफी मात्रा में पारिभाषिक शब्द संमिलित कर लिए गए हैं, जैसे—

Abjure	शपथ खाना, शपथपूर्वक, मत त्याग करना, सौगंध करना।
Apprentice	चेला, जो कोई शिल्प-विद्या का व्यापार सीखने के निमित्त बंधेज करता है।
foster-sister	दूध-बहिन
guard	रखवाल, पहरुआ, रक्षा, चौकसी
hireling	ठिकहा, वेतनिक
judgement	विवेचना शक्ति, निर्णय, दंडाज्ञा, दंड, अंतिम विचार।

प्रस्तुत कोश में २५८ पृष्ठ हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि इस कार्य में अनुभवी विद्वानों की सहायता ली गई है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संकलन

शब्दावली-निर्माण में सहज और शास्त्रीय पद्धति से कार्य करने की पद्धति तो यह है कि क्षेत्रों में जाकर लोगों से मिलकर पहले शब्दसंग्रह किया जाय, साहित्य में से शब्द छाँटे जायँ, तत्पश्चात् उनका पारिभाषिक दृष्टि से परीक्षण किया जाय। शुरू में अंगरेजों ने यही किया। उन्होंने पंडितों और मौलवियों को सीधे शब्दनिर्माण में नहीं लगाया वरन् प्रचलित शब्दों का संकलन कर उनको अंगरेजी शब्दों और अभिव्यक्तियों के पर्याय के रूप में बैठाने का यत्न किया। सन् १८३६ में 'सदर बोर्ड' ने 'रेवेन्यू ग्लासरीज' नामक शब्दावली प्रकाशित की थी[२] जिसमें कि माल विभाग की शब्दावली का संकेतन था। बाद में तत्कालीन सरकार ने १४ दिसंबर १८४२ को एक आदेश द्वारा प्रोफेसर एच० एच० विल्सन के निरीक्षण में भारतीय शब्दावली का संकलन करने का आदेश निकाला और उसके पूरक प्रकाशन के रूप में बंगाल सिविल सर्विस के एच० एम० इलियट ने सन् १८४५ में भारतीय शब्दावली (दि ग्लासरी आफ इंडियन टर्म्स) नामक एक संग्रह प्रकाशित किया जिसका मुद्रण आगरा के सिकंदरा जार्फन प्रेस में हुआ। इसमें ४७७ पृष्ठ हैं। शब्दावली कार्य की दृष्टि से एच० एम० इलियट ने, ट्राइब्स (जनजाति), कस्टम्स (रीति रिवाज), दि फिस्कल एंड एग्रीकल्चरल टर्म्स (वित्तीय और कृषि संबंधी शब्दावली) आदि शीर्षकों के अंतर्गत प्रचलित शब्दों का संकलन किया। इनके अतिरिक्त उनकी योजना में हिंदू पुराणों और ज्योतिष की शब्दावली एकत्रित करना भी शामिल था। इलियट ने सामान्य कोशों में संमिलित शब्दावली को नहीं लिया। अपने शब्दसंग्रह की भूमिका में उन्होंने लिखा है कि अधिकांश शब्द लोगों से बातचीत कर एकत्रित किए गए हैं और उनका उच्चारण लिखने में गिलक्रिस्ट की पद्धति या माल सर्वे में प्रयुक्त इसके संशोधित रूप को अपनाया गया है। इस संग्रह की रूपरेखा का नमूना इस प्रकार है—

चलान—Invoice, an announcement of despatch
दाखिता—a receipt, arriving, entering.
दानपत्र—A deed of gift by which land is conveyed to Brahamina.

२. सप्लीमेंट टु द ग्लासरी आव् इंडियन टर्म्स बाई एच० एम० इलियट, प्रिफेस।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गड़ाबटाई—Division of produce without threshing by stacking the sheaves in proportionate share (Rohilkhand)

हराई—The portion of land in a field which is included within one circuit of a plough.

चढ़वी—Raising rent.

चाही—Lands irrigated from wells,

चैन—Cultivated land.

जैसा कि पीछे बताया जा चुका है उस समय इसके अतिरिक्त भी बड़े पैमाने पर काम हुआ था। इस शब्दावली संकलन से हमारे आज के शब्द-निर्माताओं को बड़ी सहायता मिल सकती थी। किंतु संभवतः इसे या ऐसे संग्रहों को अनुपयुक्त मानकर या जानकारी के अभाव में उपेक्षित ही रखा गया है। अधिक व्यवस्थित ढंग से बनाया हुआ टंकन फोर्ब्स का कोश है। इसका नाम 'ए डिक्शनरी आफ हिंदुस्तानी ऐंड इंग्लिश' है। इसके पीछे ही इसका अंगरेजी हिंदुस्तानी रूप भी दिया गया है। यह कोश सन् १८४८ में ईस्ट इंडिया कंपनी के पुस्तक विक्रेता विलियम एच० एलन ऐंड कंपनी ने लंदन से प्रकाशित किया था। प्रोफेसर फोर्बस के कार्य का भारत में बहुत संमान हुआ। उसके नाम से गुजरात में फोर्ब्स साहित्य की स्थापना भी हुई। अपने कोशों की भूमिका में आधार और संदर्भ सामग्री के रूप में उन्होंने गिलक्रिस्ट, हंटर इलियट और डा० एडम के प्रकाशनों का उल्लेख किया है।[3] इसके अतिरिक्त फोर्ब्स ने दक्खिनी सेना की हिंदी और उत्तरी सेना की हिंदी में व्याकरण संबंधी भेद बताकर यह लिखा है कि दक्खिनी सेना की हिंदी में स्वेच्छापूर्वक अंगरेजी की सेनाशब्दावली का प्रयोग होता है। इसके प्रमाण में उन्होंने मद्रास के कैप्टेन एडवर्ड टी० काबस के 'रैजिमेंटल मुंशी' (१८४०) नामक प्रकाशन का उल्लेख किया है।

हिंदी के आकर ग्रंथों में उन्होंने 'प्रेमसागर' (१८२५) का नाम लिखा है। शुद्ध हिंदी शब्दों के संकलन के विषय में उन्होंने डा० पी० एस० डी० रोजारियो की कलकत्ते से सन् १८३७ में प्रकाशित 'डिक्शनरी आफ इंग्लिश, बंगाली, हिंदुस्तानी' का निर्देश किया है। फोर्ब्स के कोश से सामाजिक विज्ञानों से संबंधित पारिभाषिक शब्दावली के कुछ हिंदी शब्द नीचे दिए जा रहे हैं—

३. यह सारी सामग्री फोर्ब्स द्वारा संपादित 'डिक्शनरी आफ इंग्लिश ऐंड हिंदुस्तानी' की भूमिका से ली गई है।—लेखक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Contract (to) बंधेज करना, (a debt)—लेना, करना
Continuity उमेदता, अविच्छेदता
Creditor साध, व्यौहारिया, धनी
Learner सीखन-हारा—(तुलना मराठा शिहारा)
Mediate (to) बीच-बचाव करना, दरमियान पड़ना (तुलना गुजराती—दरमियानगिरी)

सारे कोश में ५८५–३१८ (हिंदी-अंगरेजी । अंगरेजी-हिंदी) पृष्ठ है। इस कोश की भी व्याप्ति पर्याप्त है। तत्कालीन आवश्यकताओं के लिये यह बड़ा उपयोगी सिद्ध हुआ होगा। सारे कोश में हिंदी शब्द रोमन लिपि में दिए गए हैं।

मथुराप्रसाद मिश्र द्वारा संपादित 'ट्राइलिंगुअल डिक्शनरी—बीइंग ए कांप्रिहेंसिव लेक्सिकन इन इंगलिश, उर्दू ऐंड हिंदी' यद्यपि सामान्य कोश है, परंतु इसकी भूमिका में वर्णित भाषा संबंधी सिद्धांतों को पढ़ने से तत्कालीन शब्दावली संबंधी मतों पर कुछ प्रकाश पड़ता है। इस कोश में पर्याप्त मात्रा में पारिभाषिक शब्द भी संकलित हैं[४] तथा परिमाण में भी यह काफी बड़ा है (१२४६ पृष्ठ)। इसका प्रकाशन लाजरस ऐंड कंपनी, बनारस द्वारा सन् १८६५ में किया गया था। शब्दसंकलन की चर्चा करते हुए संपादक ने व्युत्पत्ति, संस्कृत शब्दावली, सामान्य हिंदी शब्द, हिंदी की हत्या आदि विषयों पर अपना मत प्रकट किया है। अपने विचारों में ये संस्कृत के पुनरुद्धारवादियों के बहुत समीप पहुँच गए हैं। उच्चकोटि के कोशकारों को निर्दिष्ट कर ये कहते हैं—'ये एक शब्द की व्युत्पत्ति उसके ग्रीक, लैटिन या गौथिक रूपों में करते हैं। वे समझते हैं कि अब इससे और दूर जाने की कोई गुंजाइश नहीं रही। परंतु भाषाविज्ञान की ताजी खोजों ने ऐसे विशाल क्षेत्रों का उद्घाटन किया है जहाँ कि ये अभीतक पहुँच नहीं पाए। भाषाओं में सर्वप्रथम भाषा संस्कृत सभी ज्ञात आर्य भाषाओं की बड़ी बहिन सिद्ध की जा चुकी है। अतएव जब तक संस्कृत की उपेक्षा की जायगी तब तक व्युत्पत्ति भी अवश्य मिथ्या ही रहेगी।'[५]

४. प्रिफेस टु ट्राइलिंगुअल डिक्शनरी आव् मथुराप्रसाद मिश्र—'आई हैव अडाप्टेड सम रेंडरिंग्स आव् साइंटिफिक टर्म्स फ्राम द सिनाप्सिस आव् सायंस इन संस्कृत ऐंड इंग्लिश' बाइ द लेट डा० जेम्स बेलटाइन।'

५. 'ग्रीक ऐंड लैटिन व्हिच आर द सोर्स लैंग्वेजेज आव् यूरोप आर डेरिवेट्स आव् एंश्यंट संस्कृत'... प्रोलेगोमेना बाई प्रो० रघुवीर—डिक्शनरी आव् इंग्लिश-इंडियन टर्म्स आव् ऐडमिनिस्ट्रेशन, पृ० ८।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संस्कृत शब्दों के संबंध में उन्होंने लिखा है—'संस्कृत शब्दों को इस कोश में प्रचुरता से संमिलित किया गया है – कुछ तो जानबूझकर और कुछ आवश्यकता के कारण। जानबूझकर इसलिये कि कोश सामान्य रूप से सबके लिये उपयोगी हो जाए ताकि अन्य प्रेसिडेंसियों के विद्यार्थी भी अगर इसका उपयोग करें तो उन्हें निराशा न हो। आवश्यकता इसलिये कि हिंदी की शब्दावली वैसे पर्याप्त है, स्थूल पदार्थ और कुछ साधारण मानसिक मात्रादि के लिये हिंदी में शब्द हैं। परंतु व्यस्त मस्तिष्क के अभिजात भावों और सूक्ष्म अनुभूतियों तथा दार्शनिक और वैज्ञानिक तत्वों की अभिव्यक्ति उसकी प्रवृत्ति और क्षमता से परे हैं।' इस कथन को स्पस्टता से समझाते हुए ये आगे लिखते है—'मेरा आशय यह नहीं है कि हिंदी निबंध में संस्कृत शब्दावली का विस्तृत प्रयोग किया जाए। नहीं, सरल से सरल हिंदी शब्दों का प्रयोग किया जाना चाहिए, यदि वे पर्याप्त हों तो, किंतु जब उसके साधन जवाब दे दें, तो विदेशी भाषा की तुलना में संस्कृत शब्दों को ही स्थान दिया जाना चाहिए।'

यद्यपि इस कोश में उर्दू फारसी के शब्द भी संमिलित हैं फिर भी मथुराप्रसाद मिश्र हिंदी में मिश्रण के विरोधी प्रतीत होते हैं। हिंदी की हत्या का उल्लेख करते हुए उन्होंने कहा है—'अरबी, फारसी, उर्दू, संस्कृत और हिंदी का मिश्रण, सुरुचिवाले व्यक्तियों में मात्र घृणायुक्त मुस्कान उत्पन्न करता है। परंतु कुछ लोग तो संभवतः हिंदी की हत्या करने में प्रवृत्त है। उनका विचार हैं कि वह सभ्य समाज से बहिष्कृत है इसलिये 'ग्राम्यता' की पर्यायवाचक बन गई है। चूंकि उससे कोई व्यावहारिक लाभ नहीं है अतएव उसकी उपेक्षा करनी चाहिए। उन्हें यह ध्यान रखना चाहिए कि हिंदी ने कचहरी और सामान्य समुदाय से, परिस्थिति की विषमता के कारण, अपने आपको खींच लिया है। फारसी और उर्दू के हावी हो जाने से यह पस्त हो गई है। हिंदी की तुलना उस समय की अंगरेजी से करनी चाहिए जब कि उसपर नार्मन-विजय हुई थी। विशेषताओं की भाषा अधिकांश समाज और कानून की भाषा बन गई थी।

इस कोश में संमिलित कुछ शब्द और उनके पर्याय (रोमन लिपि में) इस प्रकार है—

Blockade	–मुहासरा, इन्हिसार, नाकेबंदी
Capitalist	सरमायादार, मालदार, पूँजीवाला
Cession	हवाला, तस्लीम, तफवीज, समर्पण, प्रदान
Civil	मुल्की, माली, दीवानी, अंदरूनी, मुलाहम, नर्म, खलीफ, साहिबी, अखलाक, मुलूक,पुर-संबंधी, नगर संबंधी, घरू, घरेता, देशी, मिलापी, शिष्ट, अनुभवी, सुशील, सत्कारी, सभ्य, सुविनीत।
Code	आईनों का मजमुआ, धर्मसंहिता, स्मृतिशास्त्र, राजनीति-संग्रह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस कोश की व्याप्ति विस्तृत है और एक शब्द के विभिन्न प्रसंगों से संबंधित प्रायः सभी अर्थ देने का यत्न किया गया है।

ईस्ट इंडिया हाउस में सरकारी कर्मचारियों को अपने दफ्तरी काम में सहायता के लिये प्रो० एन० एच० विल्सन ने सन् १८४२ में एक प्रायोगिक शब्दसंग्रह बनाने का यत्न किया था। यह काम किस सीमा तक किया गया इसका पता नहीं लगता।[६] केंद्रीय सचिवालय ग्रंथागार में उपलब्ध प्रति का शीर्षक है—'ग्लासरी आफ इंडियन टर्म्स फार यूस आफ दि वेरियस डिपार्टमेंट्स आफ दि गवर्नमेंट आफ दि ईस्ट इंडिया कंपनी।' इसके पृष्ठ एक रेखा द्वारा दो भागों में विभाजित हैं। एक खाने में शब्द और उनके अर्थ दिए गए हैं और दूसरा खाना शीर्षक देकर खाली छोड़ा गया है। शीर्षक है--सुझावों और अन्य शब्द जोड़ने के लिये। कंपनी के शासक इसे प्रायोगिक मानकर काम चला रहे थे। इस संग्रह को सारे भारत में विभिन्न लोगों के पास उनके अभिमत के लिये भेजा गया था।[७] इस संग्रह का रूप यह है—

Words		For Suggestions and additions.
Abad –	Abode, residence.	
Bhowlee –	Money payment.	
Bhowley –	The term is applied to land where the produce of the harvest is divided between the govt. and the cultivator.	

६. इस प्रकाशन पर सन् १८८५ लिखा है जो बहुत बाद का समय है। संभवतः यह बाद के संस्करण का समय हो। स्थिति स्पष्ट नहीं है।

७. हाब्सन-जाब्सन नामक वृत्त द्वारा संपादित 'ए ग्लासरी आफ एँग्लोइंडियन कालोकिअल वर्ड्स फ्रेजेज में इसे संदर्भ-सामग्री के रूप में बताया गया है। देखिए, इंट्रोडक्टरी रिमार्क्स : नोट–ए, पृ० २३।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Fatha- The quota which each patider has to contribute to the annual amount of Revenue.

Kotchubbaleh- Instrument for the transfer of land.

Mutseddy- Writer, accountant, a clerk in a public office.

अंगरेजी के कोश कार्य में सबसे अधिक महत्वपूर्ण कार्य एस० डब्ल्यू० फैलेन का है। सन् १८७१ में इनका एक बड़े परिमाण का हिंदुस्तानी अंगरेजी कोश प्रकाशित हुआ था। इस कोश के शब्दचयन की आधारभूत सामग्री हिंदुस्तानी (हिंदी) साहित्य और लोकसाहित्य है। इस दृष्टि से इस कार्य में प्रामाणिकता है। इस कोश का आज भी बहुत मान है। चूंकि यह कोश साहित्यिक कोटि का है और इसके अतिरिक्त भी फैलेन ने अन्य क्षेत्रों की शब्दावली का कार्य किया है अतएव उसका उल्लेख मात्र किया जा रहा है। फैलेन के जिस कार्य को प्रस्तुत सर्वेक्षण की दृष्टि से स्थान दिया गया है, उसका शीर्षक है—'ए रोमनइज्ड इंगलिश-हिंदुस्तानी ला ऐंड कमर्शियल डिक्शनरी आफ वर्ड्स ऐंड फ्रेजेज यूज्ड इन सिविल, क्रिमिनल, रेवेन्यू ऐंड मर्केंटाइल अफेयर्स।' इस संग्रह को दिल्ली के लाला फकीरचंद वैश ने संपादित किया और दोहराया था। यह कोश सन् १८८८ में मेडिकल हाल प्रेस, बनारस से प्रकाशित हुआ था। अन्य कोशों की तरह इसमें भी हिंदी और फारसी के शब्द एक ही सिलसिले में, रोमन लिपि में दिए गए हैं। उदाहरणार्थ —

Acceptance —स्वीकार, अंगीकार, कबूलियत

Accomplice —शरीक, साथी, संगी, शरीक अवक्त-ए-जुर्म,

Cess हिस्सा-ए-रसीद, वाछ, चंदा, दामासाही, उगाही

Counsul- 1. Chief Magistrate—मजिस्ट्रेट-ए-आला
2. Sadar Magistrate—सदर मजिस्ट्रेट
3. Representative—सफीर, वकील

Paramount Power—राज अधिकार, महाराज,

Retaliation- पलटा, बदला, उलटा, एवज, प्रजा, मुकाफात, पादाश, इंतिकाम

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह संग्रह फैलन के एक इससे भी बड़े संग्रह का संक्षिप्त रूप है। बड़े संग्रह का नाम 'हिंदुस्तानी इंगलिश ला ऐंड कमर्शियल डिक्शनरी' है। इसका भी प्रकाशन ई० जे० लाजरस ऐंड कंपनी, बनारस तथा ट्रबनर ऐंड कंपनी, लंदन द्वारा सन् १८७९ में किया गया था। मुद्रण मेडिकल हाल प्रेस, बनारस में हुआ था। यह मूल से उल्टे और परिवर्तित रूप में तैयार किया गया है। इस शब्दावली के स्रोत सरकारी गजट में प्रकाशित ऐक्टों और रेगुलेशनों के अधिकृत उर्दू अनुवाद हैं। प्राक्कथन में संपादक ने लिखा है—

'इस शब्दावली के संकलन का व्यावहारिक प्रयोजन उन व्यक्तियों की सहायता करना है जिन्हें अदालतों से और कानूनी कागजात से काम पड़ता है। इसे देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि हिंदुस्तानी बोलनेवाले इस प्रांत की अदालतों की कानूनी भाषा प्रायः विदेशी अरबी वाक्यांशों से भरी पड़ी है। इस संग्रह में अधिकांश रूप से जहाँ भी अरबी वाक्यांशों के साथ हिंदी पर्याय दिए गए हैं उसका आशय यह भी दिखाना है कि अरबी से 'अकारण' ही शब्द लिए गए हैं और वे इसलिए कि अरबी विद्वत्समुदाय की भाषा है और हिंदी भारत के लोगों की ग्राम्य जन-भाषा है। इसके अतिरिक्त अरबी की शब्दावली से एक रहस्यात्मक अस्पष्टता भी कायम रखी जा सकती है जिससे कुछ थोड़े व्यक्तियों को धूर्ततापूर्ण लाभ और अनेकों को अनुचित नुकसान पहुँच रहा है।

इस तरह दीवानी अदालत के 'फोर पेपर्स- अर्थात् प्लेंट, आंसर, रिप्लाई, और रिमाइंडर का अदालत की प्रामाणिक भाषा में कागजात-ए-अरबा धुनपाव उपलब्ध होता है मानों कि अरबी शब्द 'अरबा' हिंदी शब्द 'चार' से अधिक सूक्ष्मता से अर्थ देता हो। यही हाल अधिकांश शब्दों के विषय में है। प्रचलित हिंदी शब्द धरोहर के लिये अरबी का अमानत, पृष्ठ-बंधक के स्थान में रहन-बिन-कफालत, हिंदी के झूठ शब्द से बने झूठलाना के स्थान में अरबी के इबताल का व्यवहार किया जाता है।'

फैलन ने इस तरह संबंधवाचक और अन्य शब्दों को लेकर यहाँ तक कि विभक्तियों के उदाहरण देते हुए यह बताया है कि उनके स्थान में अनुचित तरीके से फारसी-अरबी का प्रयोग हो रहा है। अंतिम अनुच्छेदों में उन्होंने दिल्ली की भाषाई हालत पर छींटाकशी करते हुए लिखा है—

'दिल्ली में सड़कों पर दिखनेवाले अनेक पट्टे और तख्ते इस बात के साक्षी हैं कि किस तरह अदालतों और दफ्तरों की विदेशी भाषा फारसी और 'रहस्यमय अरबी का एकछत्र राज्य है। लालकुवाँ की जगह लाल-चाह, बड़ा दरीबा की जगह दरीबा-ए-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कलां, छोटा दरीबा की जगह दरीबा-ए-खुर्द, जूतेवाला के लिये जुत्तफ़रोश, टोपीवाला के स्थान पर कुलह-फ़रोश, सुनार के लिये ज़रगर, धुनिया की जगह नद्दाफ़ शब्दों का प्रयोग हो रहा है।'

अंत में उन्होंने बिहार-गजट के प्रति जिसमें राय सोहनलाल के संपादन में हिंदी के अनुवाद प्रकाशित होनेवाले थे बड़ी आशा प्रकट की है। परंतु इस योजना के प्रणेता सर कैंपबेल के चले जाने के फलस्वरूप हिंदी प्रेमी फैलेन की आशा मात्र रह गई। फैलेन को हिंदी की संभावनाओं में बड़ा विश्वास था। कोश में नागरी, फारसी और रोमन लिपियों में शब्द एवं उच्चारण दिए गए हैं। उपर्युक्त वक्तव्य से प्रस्तुत संग्रह की प्रवृत्ति की झाँकी मिल जाती है, फिर भी उदाहरणार्थ कुछ उद्धरण दिए जा रहे हैं –

H (फारसी लिपि)–उत्पात (रोमन) n. m. Violence, injury, injustice.

H (फारसी लिपि)–अटकलना (रोमन) v. s. ; S to wander. कल् to reckon.

1. To guess; to make a rough guess, conjecture.
2. To estimate; to make rough estimate; value, assess.
3. To find out; to see through one; to take ones measures, to make out.

A (फारसी) इमदाद (रोमन) n. f. for madad

1. The act of assisting, aiding or abetting.
2. Donation; gift; endowment; grant-in-aid.

A (फारसी) औकात – (रोमन) n. f. pl. of (फारसी वक्त Time)

1. State, condition, circumstances.
2. Means, appliances, resources, ways and means.
3. Ability, strength, Power.

S (फारसी) तर्क (रोमन) n. m. Objection, plea, argument,

2. Reasoning; logic, disputation; discussion.
3. (In logic) A proposition.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस संग्रह में अरबी संस्कृत हिंदी फारसी अंगरेजी के लिये प्रयुक्त हुए हैं। कोश में कुल २८३ पृष्ठ हैं।[८]

१६वीं शताब्दी के अंतिम दो दशाब्दों में भारत में पारिभाषिक शब्द या शब्दसंकलन संबंधी पर्याप्त कार्य हुआ।[९] यद्यपि विभिन्न प्रांतों में प्रादेशिक भाषाओं

८. सन् १८७६-८० के लगभग फेलेन की न्यू इंगलिश ऐंड हिंदुस्तानी डिक्शनरी तैयार हो रही थी जिसको ६ से १२ खंडों में प्रकाशित करने की योजना थी—उपर्युक्त कोश के अंतिम पृष्ठ पर उसका विज्ञापन देखने योग्य है। प्रकाशन के गुण बताते हुए लिखा गया है—

इन द न्यू डिक्शनरी बिल बी फाउंड :

फर्स्ट—ए ग्रेटर डिग्री आव् फुलनेस ऐंड ऐक्युरेसी दैन हैव येट बीन अटेन्ड। सेकेंड—ए कंसीडरेबुल नंबर आव् इंग्लिश फ्रेजेज ऐंड ईडिअम्स विथ इडिओमेटिक हिंदुस्तानी ट्रांसलेशंस।

थर्ड—टेक्निकल टर्म्स इन यूरोपियन आर्ट्स, सायंस ऐंड फिलासफी रेंडर्ड फार द फर्स्ट टाइम इन पापुलर हिंदुस्तानी इन ऐडीशन टु द अरेबिक ऐंड संस्कृत टर्म्स इन प्रेजेंट यूस इन गवर्नमेंट कालेजेज ऐंड स्कूलस।

फोर्थ टु एट्थ— ... ...।

९. इन कार्यों में बहुत कुछ क्षेत्रीय भाषाओं और बोलियों को ध्यान में रखते हुए विषय विशेष की शब्दावली के अध्ययन के रूप में हुआ है। उनका उल्लेख प्रस्तुत कार्य से पूर्व किए गए शोधकार्य की भूमिकाओं में तथा अन्य स्थानों पर दिया गया है। इस स्थान पर उनका मात्र उल्लेख किया जा रहा है क्योंकि उनमें इस अध्याय में वर्णित कोशों से भिन्न कोई प्रवृत्ति संबंधी या दृष्टिकोण संबंधी विशेषता दिखाई नहीं देती—

१. सन् १८७४—मैनुअल एण्ड वाकेबुलरी आफ दि बिलबो डाइलेक्ट संपादक—आर० आई० ब्रस : प्रकाशक—गवर्नमेंट सिविल सेक्रेटेरिएट प्रेस, लाहौर।

२. सन् १८७४—वाकेबुलरी आफ डाइलेक्ट्स स्पोकन इन निकोबार ऐंड अंडमान आइलस : संपादक : फ्रा० एड० डेरापस्टार, प्रकाशक सुपरिंटेंडेंट गवर्नमेंट प्रिंटिंग (?)।

३. सन् १८७७—कचहरी टेक्निकैलिटीज, मैट्रिक कारनेगी : इलाहाबाद मिशन प्रेस (हि० स०)।

४. सन् १८७९—ए रूरल ऐंड एग्रीकलचरल ग्लासरी फार दि नार्थ-वेस्ट प्राविंसेज ऐंड अवध : गवर्नमेंट प्रेस, इलाहाबाद।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की दृष्टि से, परंतु सारे भारत को ध्यान में रखते हुए शब्द बनाना प्रारंभ हो गया था, फिर भी अंगरेज कोशकार लगातार अपनी दृष्टि से पारिभाषिक शब्दों के संकलन में लगे ही रहे। इसी परंपरा का एक महत्वपूर्ण संकलन है – 'ए ग्लासरी आफ इंडियन टर्म्स रिलेटिंग टु रिलीजन, कस्टम्स, गवर्नमेंट, लैंड, ऐंड अदर टर्म्स ऐंड वर्ड्स इन कामन यूस' है। इसके संपादक बी० टेंपुल है। सन् १८९७ में यह संग्रह इंडिया आफिस के प्रकाशक लूजेक ऐंड कंपनी द्वारा ४६, ग्रेट रसल स्ट्रीट, लंदन से प्रकाशित किया गया था। यह प्रधानतः उन लोगों के लिये है, जिनके पास प्रस्तुत संकलन में संमिलित शब्दों को भारतीय भाषाओं का अध्ययन करने के लिये पर्याप्त समय नहीं और जो भारतीय विषयों का अध्ययन करते समय भारत के हिंदू और मुसलमान निवासियों के धर्म, शिष्टाचार, प्रथाओं इत्यादि के शब्दों की एक सीमित व्याख्या की कमी का अनुभव करें' (भूमिका)। कोश - कार्य का नमूना इस प्रकार है—

५. सन् १८८५—बिहार पेजेंठ लाइफ : जार्ज ए० ग्रियर्सन : गवर्नमेंट प्रेस इलाहाबाद।

६. ए ग्लासरी आफ एंग्लो इंडियन कलोकिअल वर्ड्स ऐंड फ्रेज़ेज ऐंड आफ किंड्रड टर्म्स : जैनेल : जान मरे, अलजेमाले स्ट्रीट : लंदन १८८६।

प्रादेशिक

७. सन् १८७१—मलयालम इंगलिश डिक्शनरी; ए० एफ० फिटेस, षेसेलमिशन, मंगलोर।

८. सन् १८९४ कन्नड़ ऐंड इंगलिश डिक्सनरी : ए० एफ० किटेल : वैसेल-मिशन, मगलोर।

९. सन् १८९१—इंगलिश-बलूची डिक्शनरी, मि० मेयर।

१०. सन् १९१९—ए डिक्शनरी, आफ कश्मीरी लैंग्वेज, जार्ज पियर्सन,

११. सन् १९३१—नेपाली डिक्शनरी, प्रो० आर० एल० टर्नर।

यह सामग्री हिंदी रिव्यू – जनवरी, १९५९, (लेख : रा. प. जैन, श्री अ. प्र. सुमन—कृषक जीवन सबंधी ब्रजभाषा शब्दावली, हॉब्सन जाब्सन द्वारा १८८६ में संपादित ए ग्लासरी आफ ऐंग्लो-इंडियन कलोकिअल वर्ड्स ऐंड फ्रेजेज की भूमिका से ली गई है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नायब	—	A Deputy.
विध या विधि	—	Rule, decree.
कीमिया	—	Alchemy, chemistry.
नालिशी	—	Complainant, Plaintiff.
सु-ज्ञान	—	Wisdom, intelligence, sagacity.
उज्जल	—	Retirement, retiring.
हुब्बे वतन	—	Patriotism.

सारा कोश रोमन लिपि में मुद्रित किया गया है। इसमें ३३२ पृष्ठ हैं। इस कोश-शृंखला की एक और कड़ी लेफ्टिनेंट कर्नल डी० सी० फिलाट द्वारा संपादित 'ऐन इंगलिश हिंदी वाकेबुलरी फार हायर स्टैंडर्ड ऐंड प्रोफिशियेंसी कैंडिडेट्स आर राइट वर्ड इन दि राइट प्लेस' है। इसका प्रथम संस्करण सन् १९११ में और दूसरा १९१७ में बैप्टिस्ट मिशन प्रेस (स्थान ?) से संपादक ने स्वयं प्रकाशित किया था। कोश के प्रथम संस्करण के आरंभिक वक्तव्य में लेखक ने कहा है कि ५, १८४ अंगरेजी शब्दों के लिये २००० से भी कम हिंदुस्तानी प्रतिशब्द दिए गए हैं। एक या दो पारिभाषिक शब्द छोड़कर शेष सभी अनपढ़ आदमियों की रोजमर्रे की बोलियों के सामान्य शब्द हैं। ये आगे लिखते हैं —'ये शब्द उपलब्ध कोशों से मात्र चुनकर नहीं रखे गए हैं, वरन् प्रत्येक शब्द की अनेक जाँचें की गई हैं, और यत्न किया गया है, जिसे सफल ही माना जाएगा, कि प्रत्येक शब्द का ठीक और सही अर्थ और प्रयोग किया जाए और यह बताया जाए कि उसके समान पर्यायों की किस प्रकार उससे भिन्न अर्थच्छाया है। आशा है कि इस शब्दावली का मननपूर्वक अध्ययन विद्यार्थियों को ठीक स्थान पर ठीक शब्द लिखने में सहायक सिद्ध होगा।'

इस कोश में एक अलग भूमिका भी है जिसमें पारिभाषिक शब्दों की विशेषताओं का उल्लेख किया गया है। कर्नल फिलाट ने लिखा है—

'प्रत्येक शब्द के अपने प्राथमिक अर्थ के अतिरिक्त अनेक गौण और दूसरे अर्थ हो जाते हैं। Charge एक लैटिन शब्द से बना है जिसका अर्थ होता है 'a car' यहाँ प्राथमिक अर्थ है—to burden (connected also with carry) cargo and caricature. इसमें दूसरे अर्थ भी जुड़ गए हैं, जैसे to fill, to occupy, impute or register as a debt, to fix the price of, to accuse, entrust, to commission, to commend, to exhort, to give directions to (a jury), to make an

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

onset. शब्दों के अर्थ इसलिये बदलते हैं, क्योंकि लोकजीवन में परिवर्तन होता जाता है। बड़े बड़े आविष्कार और औद्योगिक विकास, भाषा में भी भारी परिवर्तन कर देते हैं। बड़ी बड़ी सामाजिक और राजनैतिक घटनाएँ भी यही करती हैं। फ्रांसीसी क्रांति ने भाषा पर प्रत्यक्ष प्रभाव डाला। ऊपरी तौर पर पढ़े लिखे भी न केवल शब्दरूपों को बदल देते हैं बल्कि स्वदेशी अर्थों की अभिव्यक्ति के लिये उनका अनुकूलन कर लेते हैं।

'Policy शब्द का अर्थ एक समय केवल 'art of ruling men' (जन शासन की कला) होता था, आज प्रत्येक छोटा व्यापारी अपने धंधे की पालिसी (नीति) की बात करता है।'

कोश में संमिलित शब्दों के इस शास्त्रीय विवेचन के बाद कोश की रूपरेखा का परिचय प्राप्त करना भी आवश्यक है। उसमें शब्द और अर्थ इस प्रकार दिए गए हैं—

Charge —सुपुर्दगी में देना, हवाले करना, काम सौंपना, चार्ज देना या समझाना (ये सभी giveover charge के अर्थ में); काम अपने जिम्मे लेना या फार्म लेना (tc take over charge के अर्थ में)।

Lagat —(लागत) total actual cost अर्थ, पु (expenditure)।

Hamla —हमला, हल्ला करना attack of car or infantry

Jhapat —झपट, स्त्री० (पड़ना) (to pounce upon, method of attack a. v.)

Iljam इल्जाम (सामान्य-अपराध का); तोहमत स्त्री० false charge सामान्य झूठी नालिश; (देखिए accusation)

—सूरत स्त्री० शक्ल, स्त्री० form,shape रंगरूप पु० जुहूर, पु० (act of appearing) हाजिरी (being present) दुनिया जाहिर - परस्त है (the world chiefly regards out ward appearance) ढंग पु० या बरताव (चाल-चलन...)

—पालिसी, स्त्री० (सरकार इत्यादि की) तदबीर (किसी योजना की)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सारा कोश रोमन लिपि में छपा है। कुल मिलाकर इसमें ३३४ पृष्ठ हैं।

पर्याय-रचना

अंगरेजी के भारतीय पर्याय बनाने का काम सर्वप्रथम दिल्ली में ही आरंभ हुआ। इसका उल्लेख श्री पोपटलाल शाह के वैज्ञानिक शब्दसंग्रह (गुजरात) में प्राप्त हुआ। इसके पश्चात् ओल्ड डेल्ही कालेज के पुस्तकालय से सामग्री एकत्रित करने पर यह ज्ञात हुआ कि शब्दावली निर्माण का यह कार्य सन् १८३३ में न होकर १८३४ में शुरू हुआ था। यह कार्य केवल उर्दू को ध्यान में रखकर आरंभ नहीं किया गया था वरन् हिंदी, बंगला और उर्दू तीन भाषाओं की शब्दावली बनाने का विचार था। परंतु किसी कारणवश और प्रधानतः आर्थिक कठिनाई के कारण काम उर्दू तक ही सीमित कर लिया गया। आरंभ में एक 'एजूकेशन कमेटी' बनाई गई थी परंतु यह १८३५ से १८४० तक कोई कार्य न कर सकी। सन् १८४१ में इसकी पुनः स्थापना की गई। इसके कार्यकारी मंडल के सदस्य निम्नलिखित थे—

१. टी० टी० मेटकाफ, २. सी० ग्रांट, ३. ओ० सी० रोयनला, ४. डब्ल्यू० कैनकांटन, ५. द्वारकानाथ टैगोर मि० बेट्स (सचिव)।

इसके अतिरिक्त कार्यसंचालन के लिये एक उपसमिति भी बनाई गई थी जिसके सदस्य मि० प्रिंस माम, मि० मिल, और मि० सदरलैंड थे। अधिकारी मंडल के सचिव बेट्स उस समय देहली कलेज के प्रिंसिपल थे। मंडल ने अंगरेजी से उर्दू में शब्दों का अनुवाद करने के लिये जिन सिद्धांतों का निर्धारण किया था उनमें से मुख्य ये हैं—

१. जब साइंस का कोर्स तथा लफ्ज (शब्द) आए जिसका मुतरायिफ (पर्याय) उर्दू नहीं, मसलन सोडियम, पोटेशियम, क्लोरिन वगैरह तो ऐसे लफ्ज को वर्जित ही (यथावत्) उर्दू में ले लेने में कोई हर्ज नहीं—
२. अगर साइंस का कोई लफ्ज ऐसा है जिसका मुतरायिफ (पर्याय) उर्दू में पाया जाता है तो ऐसा उर्दू लफ्ज लिया जाए—मसलन आयरन के लिए लोहा, सल्फर के लिए गंधक —
३. अगर मुरक्कम (समस्त) लफ्ज ऐसे दो मुफरद (पृथक) अलफाज से बना है जिनमें से एक का मुतरायिफ (पर्याय) उर्दू में मौजूद है मगर दूसरे का मुतरायिफ नहीं तो एक अंग्रेजी और दूसरे उर्दू से मुरक्कम बना लिया जाए। जैसे कोर्ट आफ डाइरेक्टर्स का तर्जुमा 'कचहरी डाइरेक्टरों की', आर्च विशप का 'विशपे आलच' कर लिया जाये।

अन्य सिद्धांत वनस्पति की द्विनामावली से संबंधित हैं। परंतु अंतरराष्ट्रीय शब्द लेने, यथावश्यक देशी शब्द का उपयोग करने और संकर शब्द बनाने के आधारभूत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नियमों का सूत्रपात इन उद्धरणों से स्पष्ट रूप में मिल जाता है। इसके अतिरिक्त अनुवाद संबंधी हिदायतों का उल्लेख भी आवश्यक जान पड़ता है—

'जहाँ तक आसानी से मुमकिन हो अंगरेजी अलफाज के इस्तेमाल से एहतराज (परहेज) किया जाए। जो शब्द किसी साइंस की किताब का तर्जुमा करना चाहता है तो उसे चाहिए कि उस साइंस पर जो किताबें उससे पहले लिखी जा चुकी हैं उन्हें मुहय्या करें और जब तक कोई खास वजह न हो उन्हीं अलफाज के इस्तेमाल करने की कोशिश करें जो उन किताबों में इस्तेमाल किए गए हैं।

उस समय समान शब्दावली की परंपरा के लिये यह आवश्यक विधान था। आगे शब्दानुक्रम अनुवाद करने के विषय में वर्जनात्मक निर्देश है—

'मुतरज्जिम (अनुवादक) को लफ्ज-ब-लफ्ज तर्जुमे की कभी कोशिश न करनी चाहिए। तर्जुमे में सबसे बड़ी बात मसल मफहूम (अभिप्राय) यानी जुमले के माने और मतलब को सही तौर से अदा करना है – ख्वाह उसकी साइत (बनावट) या तर्जे-अदा (अभिव्यक्ति की शैली) कैसी ही मुख्तलिफ (विभिन्न) क्यों न हो।

जैसा कि पहले बताया जा चुका है यह कार्य उर्दू-हिंदी-बंगला अनुवाद के लिये आरंभ किया गया था किंतु साधनों की कमी से न किया जा सका। एक और कारण था। उन साहिबदों को आशा थी कि हिंदुस्तानी भारत के ज्यादा हिस्से में फैलेगी और उसमें उर्दू शब्द खप जाएँगे –

'हिंदुस्तानी जबान कंपनी के इलाकों (बिहार और बालाई सूबों) की रियाया के लिये हिंदी के मुकाबले में ज्यादा अहमियत (महत्व) रखती है और अगलज है कि रफ्ता-रफ्ता यही जुबान इन इलाकों के गवर्नमेंट मदारिस और कालेजों में जरिय-ए-तालीम हो जायगी।[१०]

यह काम अधिक दिन नहीं चल सका। इस सिलसिले में दूसरा प्रयत्न अलीगढ़ की साइंटिफिक सोसाइटी ने किया। इस सोसाइटी के जन्मदाता सर सैयद अहमद थे। उसने कुछ वैज्ञानिक लेख, पत्रिकाएँ आदि प्रकाशित कीं। बाद में अंजुमन–ए–तरक्की–ए–उर्दू ने इस तरह का काम हाथ में लिया। सर अकबर हैदरी की अध्यक्षता में पर्याप्त मात्रा में शब्दावली और अनुवाद का काम हुआ। इसका सिलसिला एक नए तौर पर उस्मानिया विश्वविद्यालय में चला जिसका वर्णन आगे किया गया है।

१०. यह सामग्री रिपोर्ट आव् वर्नाक्युलर ट्रांसलेशन सोसाइटी, ऐडिटेड बाई मि० बेट्स सेक्रेटरी, पब्लिश्ड इन १८४५ से संकलित की गई है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सन् १८६३ में मेरठ के सिटी मिशन स्कूल के गणित अध्यापक पं० गौरीदत्त ने अपने हेडमास्टर डब्ल्यू० एस० एनडिंग की सहायता से गणित की हिंदी शब्दावली का संकलन किया। इस संकलन का नाम 'सांकेतिक कोश' है। यह मेरठ के मुज्तबाई तोपो छापेखाने में छापा गया और 'उर्दू नागरी और अंगरेजी विद्यार्थियों के लाभार्थ प्रकाशित किया गया था। उसकी भूमिका में लिखा है—'प्रकट हो कि इस कोश के बनाने से प्रयोजन यह है कि जो लोग उर्दू या हिंदी व अंग्रेजी जानते हों और किसी शास्त्र का सांकेतिक शब्द को सरकारी पाठशालाओं में प्रचारित है उर्दू या हिंदी या अंगरेजी में जानना चाहे तो इसकी सहायता से सुगमता से जान लेंगे।' इस पुस्तक में अंगरेजी के नागरी फारसी लिपि में उच्चारण और हिंदी उर्दू के पर्याय दिए गए हैं। संकलन बहुत छोटा है फिर भी ऐतिहासिक दृष्टि से उल्लेखनीय है।

सन् १८७१ में बंगाल सरकार ने एक समिति नियुक्त की थी जिसका उद्देश्य कलकत्ता मेडिकल कालेज में पढ़ाने के लिये भारतीय भाषा की उपयुक्त पुस्तकें तैयार करने के तरीके पर विचार करना था। इस समिति के एक सदस्य राजा राजेंद्रलाल मित्र ने भारतीय भाषाओं में वैज्ञानिक शब्दावली तैयार करने के विषय पर गहन विचार कर उक्त समिति के सामने विचारार्थ रखने के लिये एक निबंध तैयार किया था। निबंध पर २७ जुलाई, १८७१ को विचार किया गया और यह निश्चय किया कि इसे सभी मेडिकल पाठशालाओं के प्रधानों के पास उनकी राय जानने के लिये भेजा जाए। प्रधानों से उत्तर पाने के पहले ही सर जार्ज कैंपबेल की सरकार ने कैंपबेल मेडिकल स्कूल के प्रिंसिपल को आदेश दिया कि वे अपने लिये आवश्यक पुस्तकों का अनुवाद आरंभ करा दें और शब्दावली निर्माण की समस्या का जैसा उचित समझें वैसा स्वयं हीं हल निकालते रहें। इसके परिणामस्वरूप उपर्युक्त समिति समाप्त कर दी गई। किंतु राजा राजेंद्रलाल मित्र ने अपना निबंध प्रकाशित कर दिया। सन् १८७७ में शिमला में एक और समिति का आयोजन किया गया जिसका उद्देश्य भारतीय शिक्षा संस्थानों के लिये योरोपीय विज्ञान और कानून की पुस्तकों को भारतीय भाषाओं में अनूदित कराने की योजना पर विचार करना था। इस समिति की सूचना के लिये राजेंद्रलाल का निबंध भी समक्ष रखा गया।

यह निबंध जिसका शीर्षक 'ए स्कीम फार रेंडरिंग आव् यूरोपियन साइंटिफिक टर्म्स इन्टु वर्नाक्युलर्स आव् इंडिया' है, ऐतिहासिक दृष्टि से बड़ा महत्वपूर्ण है। इसमें पारिभाषिक शब्दावली बनाने के संबंध में शास्त्रीय दृष्टि से सूक्ष्म विवेचन करके कुछ सिद्धांतों का निर्धारण किया गया है। ये सिद्धांत अनेक वैज्ञानिक पुस्तकों को बँगला में अनुवाद करने के अनुभव से उत्पन्न हुए हैं और इनमें से अधिकांश सिद्धांतों में बाद में किए गए कार्य पर अपना प्रभाव डाला है। विषय की समस्याओं का उल्लेख करते हुए उन्होंने लिखा है—'विषय इतना उलझा हुआ है और लोगों के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तत्संबंधी विचार इतने विविध और भिन्न हैं कि मैं उनमें कोई एकमत जैसी चीज स्थापित करने में समर्थ होने की आशा नहीं करता, और जिस प्रधान विचार ने मुझे यह अपनी राय कमेटी के सामने लिखकर प्रस्तुत करने को प्रेरित किया है वह कमेटी को यह दिखाना है कि देशी दृष्टिकोण से इस समस्या का क्या रूप बनता है।' शब्दों को बड़ी मात्रा में उधार लेने के विरुद्ध उन्होंने उस निबंध में यह दलील दी है— 'विश्व की किसी भी भाषा ने इतनी मात्रा में शब्द उधार नहीं लिए जितने कि अंगरेजी ने लिए हैं और उसमें इसकी अच्छी क्षमता है। फिर भी मुझे उसमें संदेह है कि कोई इस बात को सहन कर सकेगा कि उसमें २०,००० मांचू शब्द या कामचत्कान या ग्रीक शब्द ही सही एक साथ भर दिए जायँ। यह प्रस्ताव इतना विलक्षण प्रतीत होगा कि लोग प्रस्तावक का परिहास किए बिना न रहेंगे। एक सीमित तरीके पर जानसन ने यह प्रयत्न किया था। परंतु अंगरेजी राष्ट्र ने उनकी भाषा को 'जानसनी' नाम देकर घृणा की दृष्टि से देखा और जब यह बात अंगरेजी जैसी सार्वदेशिक भाषा के लिये हुई तो अपने सामाजिक नैतिक, भौतिक और धार्मिक मतों के संबंध में दृढ़ निष्ठा रखनेवाले भारत में ऐसे प्रयत्नों का क्या हाल होगा, इसे समझने में कठिनाई नहीं होगी।' राजा राजेंद्रलाल अनावश्यक और अप्रकृत शब्दग्रहण के घोर विरोधी थे। वे अनुवाद के पक्ष में थे पर शब्दानुशब्द अनुवाद को बुरा समझते थे। उन्होंने एक सीमित अंतरराष्ट्रीय शब्दावली के साथ ही देशी पर्याय लिखने की सिफारिश की थी। उन्होंने अपने निबंध में शब्दावली के ८ वर्ग बनाकर यह बताया कि किन शब्दों का अनुवाद करना चाहिए और किन का अनुकूलन या स्वीकरण किया जाना चाहिए।

बँगला के क्षेत्र में, बंगीय साहित्य परिषद्, कलकत्ता ने भी पारिभाषिक शब्दरचना का कार्य किया। इसने वनस्पति, भूगोल और ज्योतिष के शब्द बनाए और उन्हें संग्रह का रूप दिया। किंतु बाद में आपसी झगड़ों के कारण इसका विभाजन हो गया और फलस्वरूप यह कार्य भी बंद हो गया। कलकत्ता विश्वविद्यालय में भी शब्दावली निर्माण का कार्य हुआ है। इसका उल्लेख दाते-कर्वे के शास्त्रीय परिभाषा कोश में वर्णित स्रोतग्रंथों में मिलता है। उन संपादकों ने कलकत्ता विश्वविद्यालय की नृशास्त्र, भूगोल, रसायनशास्त्र, वैधकशास्त्र (मैडसिन) शब्दावली से सहायता ली है।

मूलतः गुजराती के क्षेत्र में, किंतु अखिलभारतीय दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण शब्दनिर्माण का कार्य प्रो० टी० के० गज्जर ने सन् १८८८ में किया। इस कार्य को प्रेरणा देनेवाले तत्कालीन बड़ौदा नरेश महाराजा सायजी राव गायकवाड़ थे। उन्होंने अपने राजकोष से ५०,००० रुपये भारतीय भाषाओं में वैज्ञानिक और तकनीकी विषयों पर पुस्तकें लिखने के लिये मंजूर किए। प्रो० गज्जर ने कला-भवन नामक

CC-0. In Public Domain..Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पौलीटेकनीक संस्था स्थापित की थी जो भारतीय भाषा के माध्यम से वैज्ञानिक विषयों का अध्ययन करनेवाली प्रथम संस्था मानी जा सकती है। उन्होंने एक विशाल पैमाने पर बहुभाषिक वैज्ञानिक कोश की योजना बनाई थी और अपने ही मार्गदर्शन में अनेक वैज्ञानिक विषयों की पाठ्यपुस्तकें लिखवाई थीं। प्रोफेसर गज्जर का कार्य पुस्तकें लिखने के साथ आरंभ हुआ था और इसमें बहुत से विद्वानों का सहयोग था। सन् १८९१–९२ में प्रकाशित कलाभवन की दूसरी वार्षिक रिपोर्ट में प्रो० गज्जर ने इस काम के आरंभकाल की कठिनाइयों का वर्णन किया है। उन्होने लिखा है—'शैक्षिक वर्ष के अंत में इतनी कम संख्या में पुस्तकें तैयार होने कारण उपलब्ध शब्दों का अभाव है—समुचित पारिभाषिक शब्दनिर्माण की कठिनाई से—यूरोपीय ज्ञान के इस क्षेत्र में होने के साथ साथ योरोपीय विचारों के लिये पर्याप्त शब्द बनाने की आवश्यकता का अनुभव हो रहा हैं। मैंने देखा कि उपलब्ध अंगरेजी संस्कृत और अंगरेजी भारतीय भाषा कोश वैज्ञानिक विषयों के लिये बहुत ही कम उपयोगी हैं। इन कोशों के शब्दों में मुझे सूक्ष्मार्थता की कमी और उस सुविधा का अभाव मिला जिसके कारण वे उपयुक्त सिद्ध हो सकते थे। कोशकारों ने इस बात का ध्यान नहीं रखा कि शब्द, मात्र विचार हैं, बीज रूप में और उनमें कुछ गुणों का होना आवश्यक है जिससे प्रतिफलित होकर वे उपयोगी सिद्ध हो सकें शब्दों में सहज संचरणशीलता होनी चाहिए अर्थात् न तो वे क्लिष्ट हों न भारी, और इतने उच्चारण-सुलभ हों कि जिससे उनका उपयोग विस्तृत जनसमुदाय में हो सके। जहाँतक संभव हो वे अपने रचना-विन्यास के ही बल पर पारिभाषिक अर्थ वहन कर सकें।'

परंतु प्रो० गज्जर के लिये यह कार्य बहुत सुलभ सिद्ध न हुआ। सन् १८९२-९३ की तृतीय वार्षिक रिपोर्ट में उन्होंने लिखा है--

'प्रसिद्ध विशेषज्ञ, जिनमें से कुछ ख्यातनामा संस्कृतज्ञ भी है, शब्दों की कमी कारण पुस्तकें तैयार नहीं कर सके। कुछ ने तो कार्य आरंभ ही नहीं किया। इसलिये मुझे शब्दावली की खोज और निर्माण के काम की गति बढ़ानी पड़ी--'मंजूषा-विभाग ने वेब्स्टर का अंतर्राष्ट्रीय कोश लिया और बड़े बड़े कागजों पर उसके शब्द चिपका कर छपे हुए खानों में उनके सामने उनके प्रति शब्द (गुजराती, मराठी, बंगला, हिंदुस्तानी, इनके अतिरिक्त संस्कृत और फारसी में) लिखने आरंभ कर दिए। जैसा कि पिछली रिपोर्ट में बताया जा चुका है भारत की प्रधान भाषाओं के मानक-ग्रंथों की सामग्री का भी उपयोग किया गया। परंतु इस अन्वेषणकोश और संस्कृत तथा अन्य भारतीय भाषाओं से विभिन्न विज्ञानों के लिये उपयोगी शब्द-संकलन करने पर भी बहुत बड़ी संख्या में शब्दनिर्माण की आवश्यकता प्रतीत हुई और यह काम सरल नहीं था। कुछ दिनों बाद कलाभवन से प्रोफेसर गज्जर का संबंध टूट गया और 'मंजूषा' का काम भी समाप्त हो गया परंतु इस विद्वान के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनुभव का उपयोग नागरीप्रचारिणी सभा ने किया और अपनी शब्दावलीनिर्माण की योजनाओं में उनसे सहयोग प्राप्त किया।

मेकाले के प्रसिद्ध मिंट के पश्चात् ही भारत में अंगरेजी का प्रभुत्व जमना आरंभ हो गया था। योरोप से प्राप्त नए ज्ञान-विज्ञान के अध्यापन का प्रबंध अंगरेजी की पुस्तकों से आरंभ हुआ। परंतु इस प्रवृत्ति के विरुद्ध महाराष्ट्र में एक नव चेतना जाग्रत हुई थी और उन्नीसवीं शताब्दी की तीसरी दशाब्दी से ही विज्ञान के विश्व को मराठी द्वारा प्रस्तुत करने के यत्न प्रारंभ हो गए थे। इस अभियान का श्री गणेश अंगरेजी की पुस्तकों का मराठी अनुवाद प्रस्तुत करके किया गया। अनुवादकों में हरि केशव की (१८३३), डा० मिकाजी अमृत चोगे (१८४२), गोविंद गंगाधर फड़के (१८५२) इत्यादि के नाम उल्लेखनीय हैं। इस संबंध में कोल्हापुर के राजाराम कालेज के प्राध्यापक बालाजी प्रभाकर मोडक का कार्य सर्वश्रेष्ठ है। उन्होंने विज्ञान की अनेक शाखाओं पर लगभग २५ पुस्तकें लिखीं। किंतु बीसवीं शताब्दी में दुर्भाग्यवश धारा दूसरी ओर बहने लगी।[११]

यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि १९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में और बीसवीं शताब्दी के आरंभ में जो भी शब्दावली का कार्य हुआ वह अपनी भाषाओं में आधुनिक विषयों की पुस्तकें लिखाने या लिखने के सिलसिले में आनुषंगिक रूप से ही किया गया। शब्दावली अलग से बनाने का यत्न नहीं किया गया। राजेंद्रलाल तथा प्रो० गज्जर की रिपोर्टों और दाते कर्वे कोश की भूमिका से इस बात की पुष्टि होती है। इसी परंपरा में १८९३ में नागरीप्रचारिणी सभा की स्थापना के बाद ही वैज्ञानिक और अन्य शास्त्रीय विषयों की पुस्तकें और लेखादि लिखाने का यत्न आरंभ हो गया। परंतु जिस कठिनाई का अनुभव प्रो० गज्जर के कार्य से संबंधित लेखकों को हुआ उसी कठिनाई का सामना नागरीप्रचारिणी सभा के लेखकों को भी करना पड़ा। उन्होंने सभा को सूचना दी कि शब्दावली के अभाव में पुस्तकें लिखना कठिन है। सभा में अंगरेजी पारिभाषिक शब्दों के पर्याय बनाने का यत्न किया गया। परंतु इस काम में अधिक सफलता प्राप्त नहीं हो सकी, फिर भी काम जारी रहा और सन् १८९८ में सभा ने हिंदी वैज्ञानिक शब्दसंग्रह तैयार करने का निश्चय किया। सन् १९०६ तक विविध विषयों की शब्दावली काफी मात्रा में तैयार की गई। इसमें अनेक विद्वानों का सहयोग प्राप्त किया गया। उल्लेखनीय विद्वानों के नाम हैं—महामहोपाध्याय, पं० सुधाकर द्विवेदी, बाबू भगवती सहाय, पं० गंगानाथ झा, पं० विनायक राव, लाला मुंशीराम, बाबू श्यामसुंदरदास आदि जो अनेक भाषाओं के अनुभवी प्रसिद्ध विद्वान थे। सभा द्वारा

११. देखिए शास्त्रीय परिभाषा कोश की भूमिका : संपादक दाते कर्वे, पृ० २।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकाशित शब्दसंग्रह में १०, ३३० अंगरेजी के और १६, २६५ हिंदी के शब्द थे।[१२] आरंभ में बनाई गई शब्दावली का पुनरीक्षण करने के लिये एक और समिति बनाई गई थी जिसमें सभी प्रांतों का प्रतिनिधित्व किया गया था। इसके सदस्य निम्नलिखित विद्वान थे—

प्रो० सान्याल, बाबू भगवानदास, बाबू भगवतीसहाय, बाबू दुर्गाप्रसाद, बाबू गोविंददास (बनारस), लाला मुंशीराम, पं० माधव राव सप्रे, प्रो० रामले, पं० रामावतार शर्मा, म० म० सुधाकर द्विवेदी, बाबू श्यामसुंदरदास, बाबू ठाकुरदास, प्रो० गज्जर, प्रो० बनमाली चक्रवर्ती, पं० विनायक राय।[१३]

यह काल हिंदी गद्य के बहुमुखी विकास का काल है। उस समय अनेक विषयों की पुस्तकें हिन्दी में लिखी गईं। नागरी प्रचारिणी सभा की शब्दावली के आधार पर पं० माधवराव सप्रे, पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी, बाबू भगवानदास, दयाचंद गोयलीय आदि ने हिंदी में संपत्तिशास्त्र, शासनपद्धति जैसे सामाजिक विज्ञानों पर पुस्तकें लिखीं। उन पुस्तकों की भाषा बड़ी प्रांजल और सिद्धांत विकारों से रहित है। अंगरेजी, फारसी, उर्दू, संस्कृत सभी के शब्दों को लेकर सहज शैली में अपने विचार व्यक्त किए गए हैं। आधुनिक हिंदी गद्य के निर्माता पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने संपत्तिशास्त्र में चल और अचल पूंजी से होने वाले हानि लाभ का जिक्र करते हुए जिस शैली और शब्दावली का व्यवहार किया है वह बाद के लेखकों के सामने विचारणीय आदर्श उपस्थित करता है।[१४] यथा—

'कुछ पेशेवाले ऐसे हैं जो मुद्दत से उसी पेशे को करते जाते हैं। उनके बाप दादे भी कई पीढ़ियों से यही पेशा करते थे जो वे सब करते हैं। ऐसे लोग अपने वंशपरंपरा-प्राप्त पेशे में बड़े निपुण होते हैं। यह पेशा उनकी रग रग में बिंध सा जाता है। इससे वह जो काम करते हैं वही किसी पेंच, कल या यंत्र से होने लगा तो उन्हें बड़ी हानि पहुँचती है। क्योंकि अपने पेशे को छोड़कर दूसरे पेशे में ऐसे आदमियों की बात ही अच्छी तरह नहीं चलती। उदाहरण के लिये लाख की चूड़ी

१२. हिंदी वैज्ञानिक शब्दावली, नागरीप्रचारिणी सभा, संस्करण १६८१—गणित।

१३. हिंदी वैज्ञानिक कोश (हिंदी साइंटिफिक) ग्लासरी— भूमिका : बाबू श्यामसुंदरदास।

१४. संपत्तिशास्त्र—महावीरप्रसाद द्विवेदी, पृ० ४७, १०५।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बनानेवाले मनिहारों को देखिए। जब से विलायती चूड़ियाँ इस देश में आने लगीं तब से उन लोगों का रोजगार मारा गया।' (पृ० ४७)

'कागजी रुपया' शीर्षक से एक अध्याय में उन्होंने लिखा है—

'सभ्यता और शिक्षा की वृद्धि के साथ साथ नोटों के प्रकार और व्यवहार में की वृद्धि हो जाती है। बहुत सा रुपया साथ ले जाना बोझ मालूम होता है। घर में भी दस-पाँच हजार रुपया रखने से बहुत जगह रुकती है। इससे लोग नोट रखना अधिक पसंद करते हैं। पचास रुपए और उससे ऊपर के नोट खो जाएँ, चोरी हो जाएँ, जल जाएँ, या और किसी तरह खराब हो जाएँ तो रुपया डूबने का भी डर नहीं रहता। यदि उनका नंबर मालूम हो तो लिखने पर गवर्नमेंट उतना रुपया अपने खजाने से दे देती है।' (पृ० १०५)

श्री दयानंद गोयलीय की पुस्तक 'भारत की शासनपद्धति' की भाषा कुछ संस्कृतबहुला है परंतु उन्होंने प्रचलित शब्दावली को उदारतापूर्वक स्वीकार किया है। गवर्नमेंट के अर्थ विभाग का वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा है—

'अर्थ-विभाग (फाइनैंस डिपार्टमेंट)—विभाग का मेंबर ऐसा व्यक्ति होता है जो या तो कभी इंग्लैंड में खजानची रहा हो और रुपए पैसे के काम का अनुभवी हो या जो सिविल सर्विस में रहा हो और आर्थिक विषयों में विशेष योग्यता रखता हो। भारतीय तथा प्रांतीय धन का सुप्रबंध करना, कर्मचारियों की छुट्टी, तनखाह, पेंशन वगैरह बातों पर विचार करना तथा सिक्कों, नोटों और बैंक विषयक प्रश्नों का निर्णय करना ये सब इसी विभाग के कार्य हैं। अफीम, नमक, स्टांप, आबकारी आदि से जो आय होती है उसकी तथा टकसाल की देखरेख भी इसी के अधीन है। इस विभाग की एक शाखा सेना का आर्थिक प्रबंध करती है। इस शाखा के उच्च कर्मचारी का नाम कंट्रोलर और आडिटर जनरल है। उसके अधीन प्रांतिक एकाउंटेंट जनरल होते हैं और वे समस्त आय-व्यय का हिसाब रखते हैं।' (पृ० १८)

इस पुस्तक, या अन्य पुस्तकों में अंगरेजी शब्द अंतरराष्ट्रीय होने की दृष्टि से नहीं रखे गए। केवल संबंधित कोश में उनका प्रचलन होने के कारण ही उन्हें ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया गया। शब्द-निर्माण-संबंधी साहित्य को देखने से पता चलता है कि आरंभ से ही 'आवश्यक' और विज्ञान अध्यापकों द्वारा चुने गए अंगरेजी शब्द सभी को स्वीकार्य हैं परंतु इस विषय में 'अंतरराष्ट्रीय शब्दावली के नाम पर कोई आग्रह नहीं था। आज के अनेक 'अंतरराष्ट्रीय' माने जाने शब्दों का उस

१५. भारत की शासन पद्धति, दयानंद, गोयलीय, पृ० १४।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समय अनुवाद कर लिया गया जिनमें कि तत्व और यौगिकों के नाम भी शामिल हैं। अंतरराष्ट्रीय शब्दावली का महत्व तो द्वितीय महायुद्ध के समय से अधिक मात्रा में सामने आया क्योंकि भिन्न भिन्न देशों में बड़े पैमाने पर अन्वेषण कार्य होने लगा और एक देश के आविष्कार को दूसरे देशों के वैज्ञानिकों ने आधार मानकर अपना कार्य आरंभ किया। इस परिस्थिति में विभिन्न राष्ट्रों के आविष्कारकों ने सर्वमान्य शब्दावली का प्रयोग किया और उसे अपनी भाषा में मान्यता दी। यह प्रगति और वैचारिक आदान-प्रदान के लिये अनिवार्य था।

सन् १९०९ में जब पांडे महेशचरणसिंह ने हिंदी में 'रसायनशास्त्र' नामक पाठ्यपुस्तक लिखी[१६] तो वैज्ञानिक शब्दों के महत्व पर प्रकाश डालते हुए बताया—'इस अचेतन रसायनशास्त्र में अधिकतर ऐसे संमिलित शब्द पाए जायँगे जो अपने मूल तत्व के नाम से बने हैं और इसलिये मूलतत्व के नाम सहित भी रसायनिक संमेलन बनाए गए हैं उनमें आगे अथवा पीछे कुछ तोड़-फोड़ करके संमेलनों के नाम गढ़े गए हैं। इस जोड़ तोड़ को उपसर्ग (प्रेफिक्स) और प्रत्यय (सफिक्स) कहते हैं। उपसर्ग उस शब्द (?) को कहते हैं जो मूल तत्व के आदि में जोड़ा जाएगा और प्रत्यय पीछे जैसे Bi or Di अंगरेजी शब्दों का हिंदी (द्वि) रखा गया है और उससे Bisulphate या Disulbhate का द्विगंधित अनुवाद किया गया है और (ate) अंगरेजी साफिक्स को हिंदी भाषा में 'इत' शब्द रखा गया है जैसे (Carbon से carbonate) कर्जन से कर्जनित।

इसके अतिरिक्त अनेक संमेलन ऐसे शब्दों के भी मिलेंगे जिनमें उपसर्ग और प्रत्यय के शब्दों के अतिरिक्त मूल तत्व ही मूल तत्व में जोड़े गए हैं। ऐसी दशा में उसके अर्थ सावधानी से ध्यान देकर एक दो अक्षरों को घटा बढ़ाकर अंगरेजी भाषा के समान हिंदी भाषा में भी समुदायित किया गया है, जैसे—ओषजन + हरिद् घोषिदहरिद (ozygen+chloride = oxychloride) ।'

हिंदी पारिभाषिक शब्दावली के निर्माण का प्रथम प्रयत्न वैसे असफल नहीं कहा जा सकता। यह और बात है कि अंगरेजी का प्रभुत्व उत्तरोत्तर बढ़ने और योरोप तथा अन्य देशों की वैज्ञानिक उन्नति के कारण उनमें इन विषयों के साहित्य का बहुत बड़ी मात्रा में सृजन होने के कारण नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा तैयार की गई शब्दावली अपर्याप्त प्रतीत होने लगी और जिज्ञासा तथा अंगरेजी माध्यम से पढ़ाई होने के कारण लोगों की वृत्ति अंगरेजी में पुस्तकें लिखने और पढ़ने की होती गई। फिर भी नागरीप्रचारिणी सभा के उत्साही कार्यकर्ताओं का कार्य महत्वपूर्ण है। जिन विविध

१६. रसायनशास्त्र—पांडे महेशचरण सिंह, प्रकाशक-इंडियन प्रेस, प्रयाग।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विषयों की शब्दावली तैयार की गई थी उनके नाम हैं—ज्योतिष, रसायन, भूगोल, गणित, दर्शन, भौतिक विज्ञान और संपत्तिशास्त्र। इन विषयों के सभी शब्द वेब्स्टर के अंतरराष्ट्रीय कोश से चुने गए और उनके अलग पर्याय सुझाए गए। शब्दावली के प्रमाणीकरण के लिये और लोगों की संमति से लाभ उठाने के लिये उसे सात भागों में प्रकाशित कर सारे देश में भेजा गया।

नागरीप्रचारिणी सभा अपने कार्य की सीमाओं की ओर जागरूक रही। कुछ वर्षों बाद उसे यह अनुभव हुआ कि ज्ञान-विज्ञान का क्षेत्र विस्तृत हो गया है उसने अपनी शब्दावली के विस्तार और पुनरीक्षण की एक और योजना बनाई। पुनः प्रकाशित शब्दावलियों की भूमिका में लिखा है—'यह शब्द-संग्रह बीस वर्ष पूर्व प्रकाशित किया गया था। और यद्यपि जिस उद्देश्य से यह बनाई गई थी उसका उसने पर्याप्त पोषण किया है, फिर भी यह कुछ समय से बहुत पीछे रह गई है। इस अवधि में वैज्ञानिक साहित्य बहुत बड़े परिमाण में बढ़ गया है और भारी संख्या में नए पारिभाषिक शब्द बनाए जा चुके है और विज्ञान की भाषा में संमिलित हो गए हैं। इसके अतिरिक्त यह संस्करण भी समाप्त हो चुका है तथा अपने प्रकार से प्रथम प्रयत्न होने के कारण दोषमुक्त भी नहीं है। अतएव इसके संशोधित और परिवर्धित संस्करण को प्रकाशित करने का निश्चय किया गया है। यह कार्य बनारस विश्वविद्यालय के विज्ञान-विषयों के अध्यापकों की एक समिति को सौंपा गया है। इस समिति ने लगन से कार्य आरंभ कर दिया गया है। संकलन, विन्यास और शब्दरचना का कार्य उन्हें दिया गया है जो कि विश्वविद्यालय में उनमें से एक-एक विषयों का अध्यापन कर रहे हैं और जो महाविद्यालय की कक्षाओं के लिये उन विषयों की उपयुक्त पुस्तकें हिंदी में लिख रहे हैं। उनके साथ ही सभी विज्ञानों के प्रतिनिधियों की एक और समिति उन शब्दों की विभिन्न दृष्टिकोणों से परीक्षा और समीक्षा करने और उपयुक्त हिंदी शब्द चुनने के लिये बनाई गई है। जहां तक शब्द विभिन्न प्रसंगों में अलग-अलग अर्थ व्यक्त करता हो तो अंगरेजी शब्द के ठीक और सही अर्थ को व्यक्त करनेवाला हिंदी पर्याय निश्चित करने की चेष्टा की गई है। हिंदी शब्दों को उपयुक्त, व्याकरणसंमत रूप देने के लिये एक संस्कृत पंडित नियुक्त किया गया है। यहाँ यह बताना आवश्यक है कि हमारा काम विशुद्धतावादी नहीं है। हमने विदेशी शब्दों को भी बिना संकोच के स्वीकार किया है और अंगरेजी शब्दों को हिंदी के उच्चारण की दृष्टि से संस्कार करके ग्रहण कर लिया है।

*

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्राकृत की एकमात्र प्राप्त मातृकाक्षरी हिंदी शृंगारिक रचना

श्वेतांबर वीरचंद्ररचित मातृका शृंगार गाथाकोश

अगरचंद नाहटा

वर्णमाला के अक्षरों के आद्य पदवाली अनेक रचनाएँ प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, हिंदी, राजस्थानी, गुजराती आदि भाषाओं में प्राप्त हैं। भारत की सबसे प्राचीन लिपि का नाम ब्राह्मी है। समवायांग सूत्र के अनुसार उस लिपि के मातृकाक्षर ४६ थे। आगे चलकर कुछ अक्षर और बढ़े और संख्या ५२ तक पहुँच गई। इसलिये बावनी के नाम से हिंदी, राजस्थानी, गुजराती में शताधिक रचनाएँ प्राप्त होती हैं। प्राचीन रचनाओं में मातृका या माई नाम भी मिलते हैं। बावनी संज्ञक प्रायः १५० रचनाएँ मुझे मिल चुकी हैं परंतु उनमें प्राकृत की यह एक ही रचना मिली।

प्राकृत भाषा में संस्कृत के सभी अक्षरों का व्यवहार नहीं होता इसलिये वर्णमाला के कुछ अक्षर प्राकृत की मातृका शैली की रचनाओं में कम पाए जाते हैं। वैसे प्राकृत भाषा में मातृकाक्षर से प्रारंभ होनेवाली रचनाएँ हैं भी बहुत कम। हमारे संग्रह में वादीगजकेसरी श्री यशोभद्र सूरि-शिष्य श्वे० वीरचंद्र का रचित मातृका शृंगार गाथा कोश नामक महत्वपूर्ण अप्रकाशित रचना की दो हस्तलिखित प्रतियाँ हैं जो १७वीं शताब्दी की लिखी हुई हैं। रचयिता वीरचंद्र ने अपने गच्छ का उल्लेख न कर केवल श्वेतांबर संप्रदाय का ही उल्लेख किया है इससे यह रचना १३वीं शताब्दी के बाद की नहीं लगती। संभव है १०वीं १२वीं शती के बीच की हो। प्राकृत-भाषा में जैन साहित्य ही अधिक रचा गया है और जैन मुनि संयमी और वैरागी होने के नाते शृंगारिक रचनाएँ प्रायः नहीं करते। परंतु प्रस्तुत रचना शृंगारिक है। इस दृष्टि से भी यह विरल और विशिष्ट रचना है।

मातृकाक्षर से प्रारंभ होनेवाली रचनाओं के पद्यों में सर्वप्रथम 'ओम नमः सिद्धम' इन अक्षरों के एक-एक पद्य देने के बाद अ आ आदि स्वर और व्यंजनों के अक्षरवाले पद्य रहते हैं। प्रस्तुत गाथा कोश रचना में एक विशेषता यह है कि इसमें जो ५ अक्षर पहले आ गए हैं उनकी पीछे पुनरावृत्ति नहीं की गई है। साथ ही पता नहीं क्यों ङ और य अक्षरवाले पद्य भी नहीं रचे गए हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वादीगजकेसरी श्री यशोभद्रसूरि शिष्य श्वेतांबर वीरचंद्र प्रणीतः

ओं नम आदिमातृकाशृंगारगाथाकोशः

अथ ओं नम आदिमातृकाशृंगारगाथाकोशः प्रारभ्यते

नमिय हरिपायपउमं, सरस्सईए मदालगमणीए ।
सुललिय गाहाकोसं, भणामि सिंगाररसकलियं ॥ १ ॥
ओच्चिट्टय[1] घरिआरे[2] ओ उन्न [य] पयोहरा विसालच्छी ।
ओलग्गइ तुअदारं, ओलंबिय वाहुनालेहिं ॥ २ ॥
न गणइ कलाकलावं, न लहई निद्दं न जंपए वयणं ।
नवकमल कोमलंगी नहु जीवइ सुहय तुअ[3] विरहे ॥ ३ ॥
मयगललीलागमणी, मणहरकलहंसमहुरआलावा ।
मलिणमुही तव विरहे मयरद्धयजू[4] वट्टए बाला ॥ ४ ॥
सर उज्जल ससिवयणा, सारह कलहंस कोमलालावा[5] ।
सवणं दोलय जुयला, सरय[6] तुमं सुहय पसयत्थी ॥ ५ ॥
धवलहरे रयवल्लह, धवलच्छी जात एखणं रमिया ।
धम्मिल्लगलियकुसुमा धरय मणंनेय[7] तुअ विरहे ॥ ६ ॥
अमयससि सकमउला, अमयमुही गुरुनियंबपब्भारा ।
अलहंती तुअ सुक्खं, अप्पाणं झूरए बाला ॥ ७ ॥
आहारं न हु इच्छइ, आलावइ नेय कीरसालहियं ।
आसा सिज्जउ सुंदरि, आमुत्ति[8] विभूसिया बाला ॥ ८ ॥
इत्तियमित्ता नयणा, इत्तियमित्तंपि तीय थणजुयलं ।
इच्छइ तुअ संसग्गं, इयरजणे खिवइ न हु दिट्ठी ॥ ६ ॥

१. उच्चट्टिय क ।
२. घरवारे क; घरिबार ख ।
३. तुव ख ।
४. मयद्धज क; मयरद्धय ख ।
५. कोमलुल्लावा ख ।
६. सयर ख ।
७. मणिनेय क ।
८. आमित्त क ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ईहंती तव सुरयं, ईसंपि सुएइ जेइ भुंजेइ।
ईसावि सावि[1] नडिया, ईसरसुय तुअ कए बाला ॥१०॥
उन्नयनियंवबिंबा[2] उम्मूलिय हत्थिखंभ मणहरणा।
उज्जलकओलसोहा उक्कंठिय तुअ कए बाला ॥११॥
एगमणा पउमच्छी[3] एरावणकुंभ विब्भमघणढा।
एणच्छी तुअ विरहे, एगाहारं[4] कुणइ बाला ॥१२॥
अंधघणपीणसिहिणा, अंतो मुहकमलपरिमलुग्गारा।
अंचइ हिमगिरितणयं[5] अंगय[6] बाला कए तुज्झ ॥१३॥
कलहंस लीलगमणा कवोलवाली लुलत्ति[7] चिहुरचया।
कमलमुही कलमलयं, करिगमणं जाउ[8] सामरइ ॥१४॥
खणमित्तं रमिऊणं, खणतरुणवियटजाव तए मुक्का।
खणविरहदुव्वलंगी, खणेण खामोयरी जाया ॥१५॥
गलगज्जिय गयगमणा, गयवरमयगंधगव्वियसरीरा।
गंभीरनाहिमंडल, गमइ दिणं तुअकए दीणा ॥१६॥
घणतुंगपीण सिहिणा[9], घणमुक्कमयंकउज्जलक ओला।
घणमयणपज्झरंती, घरदारं मुयइ न हु तुज्झ ॥१७॥
चउसट्ठिकलाकलिया, चवलच्छी तुअ सुहं पलोयंती।
चच्चर निगेसु कीलई, चलंत मणिमेहल रवेण ॥१८॥
छणससिकओलसोहा[10], छट्टग्गह जलमहल्लकल्लोला।
छप्पयमंदिरवयणा, छंडइ[11] न हु सुहय तुअ दारं ॥१६॥

१. ईसाविसाइ ख।
२. बिंबी क।
३. एगपणाभो मच्छी ख।
४. एकाहारं ख।
५. तणुयं क।
६. अंगए ख।
७. लुल्लित्त ख।
८. जान।
६. घणपीन तुंगसिहुणा ख।
१०. सोहइ ख।
११. छड्डइ ख।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जय लच्छिव्व मयच्छी, जइ[1] लब्भइ कहवि दिव्वजोएण ।
जयढक्का सा[2] वज्जइ, जय वल्लह तिहुयणे तुज्झ ॥२०॥
झणझणिर[3] नेउररवा, झरंति मयणोहमुक्क सिक्कारा ।
झायंती तुह सुरयं, झत्ति पहुत्ता घरे तुज्झ ॥२१॥
टहटहरवसिहरेहिं[4], टाल्लिजंतीय पिसुणघट्टीहिं[5] ।
टलइ मणं न हु तीए, टंकुक्किन्नं कए तुज्झ ॥२२॥
ठविऊण तुमं चित्ते, ठवलइ संकेयमंदिरं बाला ।
ठक्कुर तुह रत्तमणा, ठवइ पयं सुन्नतरलच्छी ॥२३॥
डसणु[6]च्छलंतकिरणा, डक्का मयणेण विसमकयवयणा ।
डमरूय सरिसमज्झा, डज्झइ[7] तुह विरहजालाहिं ॥२४॥
ढंढोलइ तुह सिज्जं, ढुलुढुलु रोवइ वियट्ट तुह विरहे ।
ढलइ मणं नहु तीए, ढमेरसरिसे जणे कहवि[8] ॥२५॥
णवकणयकमलवयणा, णवचंपयकुसुम सुरहिगंधड्ढा[9] ।
णहु जीवइ तुह विरहे, णवमयगलमत्तगयगमणा ॥२६॥
तयलोयडसणनिलया,[10] तवलच्छी गुरुनितंब दुल्ललिया ।
तवइ तणं[11] तुह विरहे, तमालदल सामलाबाला ॥२७॥
थणभरविणमियदेहा, थलकमलणिकुसुम रत्तकरचरणा ।
थंभघडियव्व सुंदर, थक्काविलया कए तुज्झ ॥२८॥
दरवियसियकमलच्छी, दसदिसिपसरंत कंतिपब्भारा ।
दलइंदनीलवन्ना, दमइ मणं तुहकए दीणा ॥२९॥

१. जय क. ।
२. ता ख ।
३. झणरणिर क ।
४. °सिवरेहिं ख ।
५. °घट्टहिं ख. ।
६. डसण° ख ।
७. मज्झै क. ।
८. कहनि ख. ।
९. °गंधब्बा क ।
१०. °तिलया क ।
११. तणँ ख ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पप्फुल्लपउमवयणा, पट्टंसुयविविह भूसिय सरीरा।
पच्छन्न सुरयलद्धा, पइदियहे[1] सुयइ पयलच्छी ॥३०॥
फलिहमणिउसणजुण्हा, फुरंतमणिकिरणनिज्जियतमोहा।
फलिणीदलसमनयणा, फुरय मणं तीय लुग्र विरहे ॥३१॥
बहुविह विहियविलासा, बलिदमण[2] तणुब्भवे य चिहुरंगी।
बंदिरिव वियास[3] सुंदरि[4] बद्धा तुह विरह पासेहिं ॥३२॥
भरहाइ सत्थकुसला, भमरालयवयणनिज्जियमयंका।
भमरच्छलकयतिलया, भमइ दिणं तुहकए मुद्धा ॥३३॥
रइरसविलासमुद्धा, रमणच्छलगलियमयणसामत्ता।
रमइ मणं नहु तीए, रइरमणसमं अइसरूवा ॥३४॥
लक्खणछंद वियड्ढा, लट्टंगी जक्खकद्दमविलित्ता।
लच्छिव्व कमलहत्था लब्भइ नहु सा अउन्नेहिं ॥३५॥
वरकडियउमणहरणां, वरकरिनरकुंमविब्भमघणट्ठा।
वज्जावलिव्व डसणा वहइ मणे सा तुमं बाला ॥३६॥
हरिवयणा हरिणच्छी, हरिलहरी हरि चरिव्व तणमज्झा।
हरवसह[5] लीलगमणा, हक्कारिय सा तुमं बाला ॥३७॥
संबोहिऊण तीए[6], नीओ दूई इ तीय वासहरं।
पच्छा जं च विढत्तं[7], अकहकहा कइ कहिज्जंति ॥३८॥
पढमपयं ठवि पढमं, तह वीयपयं च बीयठाणेसु।
तइय चउत्थेसु कमे, हुंति अणेगाउ गाहाओ ॥३९॥
वाइगकुंभकेसरि जसभद्दमुणिंदचलणभत्तेहिं।
रइयं गाहाकोसं, सेयंवरवीरचंदेण ॥४०॥

इति गाथाकोशः समाप्तम्।[8] *

१. पइद्दियहं ख।
२. वलिदणु° क।
३. ठिया क।
४. सुंदर ख।
५. हरिविसह क।
६. एयं ख।
७. पच्छा जंत जुत्तिं ख।
८. इति ओं नमो मातृका श्रृंगार गाथाकोशः।
* बावनी सं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जवाहर राय बिलग्रामी

शैलेश जैदी

•

अयोध्या के प्रांगण में स्थित बिलग्राम की पावन धरती अनेक प्रतिभाशाली विद्वानों को जन्म देने के कारण इतिहास में अद्वितीय है। समय समय पर उच्चकोटि के गायक, कवि तथा महापुरुष यहाँ की उर्वर भूमि के पयस्वी अंक में पलकर फूलते-फलते रहे हैं। यहाँ के साधकों ने साहित्य की जो अविस्मरणीय सेवाएँ की हैं कोई भी सहृदय लेखक उनका उल्लेख करने में संकोच नहीं करेगा। हिंदी साहित्य का इतिहास विशेष रूप से यहाँ के महान् साहित्यसेवियों का ऋणी रहेगा। जवाहर राय बिलग्रामी, बिलग्राम के इन्हीं नररत्नों में से एक है।

जवाहर राय का जन्म बिलग्राम के धन-धान्य से संपन्न राय परिवार में संवत् १८५५ वि० के लगभग हुआ। इनके पूर्वज पहले मलीहाबाद में रहते थे। जवाहर राय के पिता रतनराय का विवाह बिलग्राम के प्रतिष्ठित राय परिवार में राय हरिबंस की कन्या से हुआ था। राय हरिबंस हिंदी के एक श्रेष्ठ कवि तथा विद्वान् थे। रतनराय ने बिलग्राम के सुरम्य वातावरण से प्रभावित होकर यहीं पर स्थायी रूप से निवास ग्रहण कर लिया। जवाहर राय ने अपना वंश परिचय स्वयं इस प्रकार दिया है--

कहाँ लौं बखान कीजे अंत कालिका ते हम
    बंस ही के हेत यह गिनती गनाई है।
प्रथम प्रसिद्ध राय राम औ भवानी दास,
    बानो के बिलास पर पीत सरसाई है।
तिनके सपूत राय जगन प्रगट जग,
    मलहिग्राबाद बुनियाद चलि आई है।
उनके द्वै सुत एक रामसिंह अनेन राय,
    जिनके सुभाय सदा सील के निकाई है।[1]

१. जवाहर राय, जवाहर आखरी, हस्तलिखित, ४८ जदीद, आसफिया लाइब्रेरी, हैदराबाद।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रामसिंह के जानियो चार सबन अभिराम।
नंदराम बिसनाथ अरु जोतराम जयराम॥
चार नंद के नंद पुनि, प्राननाथ परवीन।
अभयराम अरु स्याम कहि आदिराम प्रभुलीन॥
अभयराम के एक सुत रसिक राय है नाम।
तिनके खगपति निरंजन चतुरसेन हरिराम॥
हरी राम के रत्न सुत सिरीनगर में आन।
वास कियो ससुराल हित जानै सकल जहान॥
नाम राय हरिबंस है कहत घसीटे राय।
ते नाना मेरे सुनो तिनके गुन चित भाय॥

× × ×

रतन राय के तीन सुत जेठे जीवन राम।
भाखा अरबी फारसी तुरकी इति अभिराम॥
चारो बिद्या में बने रूप सील गुनवान।
बड़े पुरुष सब करत हैं आपुन तिन संमान॥
मुनशी करी दिवानगी कितहीं बार अनेक।
प्रगट भये उमराव अरु रामचंद्र के टेक॥
मद्ध जवाहर जानियो बरनत जो यह ग्रंथ।
भाखाहू अरु पारसी दोनों समझत पंथ॥
छोटे नंदकिशोर है येस ऐ जिय जान।
रसिक चतुरमुख करत है दाया कर संमान॥

स्पष्ट है कि जवाहर राय के परिवार में सभी लोग शिक्षित तथा विद्यासंपन्न थे। इनके ज्येष्ठ भ्राता जीवनराम, अरबी फारसी, तुरकी तथा हिंदी चारों ही भाषाओं के विद्वान् थे। जवाहर राय स्वयं भी फारसी भाषा का अच्छा ज्ञान रखते थे। इनके छोटे भ्राता नंदकिशोर हिंदी के अच्छे कवि थे। इनकी स्फुट रचनाएँ हस्तलिखित संग्रहग्रंथों में मिल जाती हैं। लेखक को जवाहर राय की कुछ स्फुट कविताएँ तथा उनका एक अलंकारग्रंथ प्राप्त हुआ है, जिसके प्रकाश में इन्हें एक अच्छा कवि स्वीकार किया जा सकता है।

जवाहर राय का अलंकार ग्रंथ जवाहर आखरी के नाम से है। इसकी रचना कवि ने मित्रों के आग्रह पर संवत् १८९६ वि० में की थी।

एक दिवस बैठो हुतो, सब मित्रन के संघ।
चरचा तहँ कछु होत लै कबिताई को अंग॥
सबही मिलि मोसो कही, एवं दयाल अति चित्त।
अलंकार समझौ जु कछु ताको करो कवित्त॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

× × ×

भादो सुदि तिथि सप्तमी और बार गुरुवार।
बिलगराम से नगर मे भयो ग्रंथ अवतार॥

आचार्यत्व के उच्च आसन तक पहुँचने की लालसा ने रीतिकालिन कवियों को काव्यशास्त्र के अंगों की व्याख्या में कुछ इस प्रकार उलझा दिया था कि हर छोटा बड़ा कवि इस पद को प्राप्त कर लेना चाहता था। फलस्वरूप रस, अलंकार, नायिकाभेद, नखशिख आदि पर बहुत सी रचनाएँ प्रकाश में आईं। इस संदर्भ में मोहनलाल मिश्रकृत शृंगारसागर, केशवदासकृत कविप्रिया, चिंतामणिकृत कविकल्पतरु, भूषणकृत शिवराजभूषण, मतिराम कृत ललितललाम, यशवंत सिंहकृत भाषाभूषण, कुलपति मिश्रकृत रसरहस्य, देवकृत भावविलास तथा शब्द-रसायन, सुरति मिश्रकृत, अलंकारमाला, श्रीपति कृत अलंकारगंगा, भिखारीदासकृत काव्यनिर्णय, सोमनाथ माथुरकृत रसपीयूषनिधि, रघुनाथकृत रसिकमोहन, दूलह-रायकृत कविकुलकंठाभरण, बेनीप्रवीणकृत नानाराव प्रकाश, पद्माकर भट्टकृत पद्माभरण, प्रतापसाहिकृत अलंकारचिंतामणि, तथा बाबू गोपालचंद्र गिरधर दासकृत भारतीभूषण आदि अलंकार ग्रंथों का नाम लिया जा सकता है। यह एक संक्षिप्त सूची है। इस प्रकार के जाने कितने ग्रंथ ऐसे हैं जो अभी प्रकाश में नहीं आ सके हैं। जवाहर राय कृत जवाहर आखरी भी एक ऐसा ही ग्रंथ है।

कवि ने ग्रंथ का प्रारंभ मंगलाचरण से किया है। तत्पश्चात् गुरु की स्तुति की गई है। 'धन्न मेरे भाग अनुराग सो विराजमान, संभु सम संभु संभुनाथ गुरु पाये हैं' के प्रकाश में इनके गुरु का नाम शंभुनाथ स्वीकार किया जा सकता है। गुरु की स्तुति के पश्चात् वंशचर्चा की गई है। तदुपरांत बिलग्राम की सुरम्य तथा सुमधुर पावन भूमि की स्तुति की गई है। विषय का प्रारंभ इन शब्दों से हुआ है—

नारी अरु सब नरन के सोभा भूखन जान।
याते मैं बरनन कियो अलंकार ही आन॥
तारादिक भूखनन ते सोभा दंपति होत।
उपमादिकलंकार ते त्यौं कबित्त की ज्योत॥
शब्दा अरु अर्थां द्विबिध अलंकार है सोइ।
शब्द प्रथम ही होत है समुझै अरथ संजोइ॥

इसके पश्चात् कवि ने गुणों का वर्णन किया है। प्रारंभ में माधुर्य गुण के लक्षण दिए गए हैं। तत्पश्चात् माधुर्य का उदाहरण प्रस्तुत किया गया है। इसी प्रकार ओज तथा प्रसाद गुणों के भी लक्षण तथा उदाहरण दिए गए हैं। तदुपरांत वक्रोक्ति, काकोक्ति, अनुप्रास, श्लेष, उपमा, आदि अलंकारों का विस्तार सहित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वर्णन किया गया है। ग्रंथ अपूर्ण होने के कारण इसका समुचित मूल्यांकन नहीं किया जा सकता। फिर भी इतना कहा जा सकता है कि रीतिकालीन अलंकार-ग्रंथों के विशाल साहित्य में इस ग्रंथ का भी अपना एक महत्व है।

जवाहर राय बिलग्रामी मूलतः शृंगार के कवि थे। उनकी सभी उपलब्ध रचनाओं का वर्ण्य-विषय शृंगार ही है। शृंगार के अन्य कवियों की भाँति उन्होंने भी मुक्तक को अपने काव्य के लिये उपयुक्त समझा और दोहा, सवैया तथा कवित्त आदि छंदों में महत्वपूर्ण कविता की। उनकी सहृदय कल्पनाएँ चमत्कारतत्वों को अपने आंचल में छिपाए हुए, अनुभूत भावों को सशक्त तथा सजीव करने के प्रयास में संलग्न दिखाई पड़ती हैं। एक उदाहरण –

स्रवन नहीं वा स्रवन के, बिधि प्रवीन जित्त चोर।
बचन अमिय हित पियन को राखे कनक कटोर॥[2]

नायिका के स्रवनों पर स्वर्ण के कटोरे का आरोप बहुत ही सुंदर तथा उपयुक्त ढंग से किया गया है। नायिका के रूपचित्रों के संकलन में भी जवाहर राय पीछे नहीं दिखाई देते। नीचे के कवित्त में सहेलियों के झुरमुट में जाती हुई एक यौवन-मदमाती नायिका का सुंदर तथा सजीव चित्र प्रस्तुत किया गया है—

साथ है सहेली जाके परम नवेली बाल,
देखत निहाल ह्वै लाल गति चाल की।
जोबन की जोत अंग जगर-मगर होत,
तैसेई उदोत बीना करे दुति भाल की॥
देखि उरबसी उरबसी उरबसी रूप,
कौन के न सुधि हरी कंठ कंठमालकी॥[3]

नायिका की मादक गति, उसका जगर मगर करता हुआ यौवन उसके उज्ज्वल भाल की आभा, उसका उर्वशी के समान हृदय में निवास करनेवाला रूप तथा उसके गले में पड़ी हुई सुंदर कंठमाला किसी भी सहृदय की सुध-बुध हर लेने के लिए पर्याप्त है।

अंत में जवाहर राय की कविता के कुछ स्फुट उदाहरण उद्धृत किए जाते हैं। इनके प्रकाश में कवि को समझने में आसानी होगी।

२. वासिल बिलग्रामी, मिफ्ताहुल हिंदी, हस्तलिखित।
३. जवाहर बिलग्रामी, जवाहर आखरी, हस्तलिखित।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कवित के स्फुट उदाहरण

नुपुर होहिं नहिं तरून पद भलो बनो यह तंत्र।
भवसुर मनो जगावहीं कमलज को पढ़ि मंत्र॥
जथा नाम गुन है तथा, सत लखै यह यह बाम।
लटक न ऐसी और मै याते लटकन नाम॥
उदर सरबर कहत कबि सो सब ठीक रसाल।
नाभि भँवर त्रिबली लहर, रोमावली सवाल॥
लसत रुमावलि रेख नहिं चक्रवाक कुच चार।
बदन चंद लख चोंच में दीन्हो डार सेवार॥
दर्पन नहिं कंदर्प के दर्पन माहिं रतीक।
तुब कपोल लहि के कहौ क्यों कर लागै नीक॥
करके सखी सिंगार सब, काजर देति दुराय।
सत तीछन द्दग कोर तें पोर मोर कटिजाय॥
छुरी चीकनी जगमगी सहज तूल मखतूल।
डार्यो तियहि कि डारिबी नायन की मति भूल॥
कलम होत है जलम ते सो गुलाब किंह हेत।
तुव मुख बास सुवास हित मानो करवट लेत॥
नाह कंब मुख साध लग, करत न साँझ सवार।
तुप ग्रीवां सिवरन हरी हरि सों करत बिगार॥
धन धन धन भरके सुधन, तेरो नैनन दीस।
बन जिह बन सर खीच बन जीत लई जगदीस॥
× × ×

कर केलि जगी अलबेलि प्रिया स्रम सीकर आनन पै परियाँ।
करके बलियां करके सु जवाहर टूट गयीं मुक्ता लरियाँ॥
कुच ऊपर कंचुकी जारी जरै दूर की छबि नैनन यौं भरियाँ।
शिव जीत मनोज लियो सो मनो तन त्रान की टूट गई करियाँ॥

*

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पृथ्वीराज-संयोगिता-विवाह : ऐतिहासिक महत्व

अशोककुमार श्रीवास्तव

•

भारतवर्ष के सर्वसाधारण तथा सामान्य शिक्षितों में पृथ्वीराज चौहान को जितनी ख्याति प्राप्त है, वह उसकी महान् विजयों के कारण नहीं, अपितु संयोगिता के साथ उसके विवाह के कारण मिली है। वास्तव में भारतीय इतिहास की यह एक ऐसी रोचक और महत्वपूर्ण घटना है, जिसने उत्तरी भारत के दो शक्तिशाली राज्यों चौहानों और गहढ़वालों के भाग्य का निर्णय कर दिया। इस घटना ने ही इस देश में तुर्की साम्राज्य की स्थापना का एक महान् अवसर प्रदान किया। भारतवर्ष के मध्यकालीन युग के प्रारंभिक चरण में चौहान और गहढ़वाल नामक दो राजपूत जातियाँ शासन कर रही थीं, जो अपनी शक्ति और विशालता के लिये प्रसिद्ध थीं। सौभाग्य से इन दो राजपूत घरानों को पृथ्वीराज चौहान (११७८–११९२ ई०) तथा जयचंद (११००–११९३ ई०) नामक अत्यंत महत्वाकांक्षी और कुशल शासक प्राप्त हो गए। सबसे बड़ी विशेषता तो यह थी कि ये दोनों शासक एक-दूसरे के समकालीन थे। अत्यंत महत्वाकांक्षी होने के कारण पृथ्वीराज, जो अजमेर का चौहान शासक था, निरंतर अपने साम्राज्य का विस्तार कर रहा था।[1] दूसरी ओर कन्नौज का गहढ़वाल शासक जयचंद भी अपनी राजधानी से लगातार अपनी युद्ध और विजय की योजनाएँ बना रहा था।

पृथ्वीराज रासो का तत्कालीन लेखक चंदबरदायी तो यहाँ तक लिखता है कि जयचंद ने एक विश्वविजय (दिग्विजय) की योजना बनाई थी जिसके लिये उसने 'राजसूययज्ञ' किया था। इसी शुभ अवसर पर जयचंद ने अपनी पुत्री संयोगिता, जो अपनी सुंदरता तथा गुणों के लिये प्रसिद्ध थी, के विवाह के लिये स्वयंवर का आयो-

१. ताज-उल-मासिर का लेखक हसन निजामी पृथ्वीराज के लिये लिखता है कि अपनी विशाल सेना और उसकी शक्ति को देखते हुए पृथ्वीराज विश्वविजय का विचार करने लगा। इलियट, जिल्द दो, पृ० २१४।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जन किया था।[२] जयचंद के महत्वाकांक्षी होने का प्रमाण तत्कालीन मुस्लिम इतिहासकारों के वर्णन से भी प्राप्त होता है।[3] इसकी पुष्टि चंदबरदायी के उल्लेखों द्वारा होती है।

ऐसे वातावरण में उत्तरी भारत के इन दो राजपूत घरानों में संघर्ष का होना नितांत आवश्यक था, क्योंकि इनकी सीमाएँ भी कई मील तक एक दूसरे से मिली हुई थीं। साथ ही चौहानों के पूर्ववर्ती शासकों ने अपने समकालीन गहढ़वालों के शासक को परास्त कर दिल्ली[४] और उसके संनिकट के प्रदेशों पर अपना अधिकार कर लिया था। इन दो घरानों के भावी संघर्ष का कारण दिल्ली था। जयचंद चौहानों को परास्त कर दिल्ली तथा उसके संनिकट प्रदेश पर पुनः अपना अधिकार स्थापित करना चाहता था, जिससे उसकी जाति परंपरा के खोए हुए संमान को फिर से प्राप्त किया जा सके परंतु उसके लिए यह कठिन कार्य था। पृथ्वीराज तृतीय एक महान् योद्धा था, अतः उसके होते हुए जयचंद की सफलता की आशा नहीं की जा सकती थी। यदि इन दोनों राजपूत घरानों में प्रत्यक्ष संघर्ष हो जाता तो निश्चय ही इस बात का निर्णय हो गया होता कि समस्त देश का सबसे शक्तिशाली शासक कौन है, पृथ्वीराज अथवा जयचंद। परंतु भाग्य ने दोनों में से किसी का भी साथ न दिया और इस आपसी कलह में दोनों विभूतियों को अपनी महात्वकांक्षाओं के साथ एक ही वर्ष के अल्पकाल (११९२–११९३ ई०) ने एक-एक करके सर्वदा के लिये सुला दिया।

स्पष्ट है कि पृथ्वीराज चौहान और जयचंद के बीच संघर्ष के कारण अनेक रहे होंगे जिनका संक्षेप में ऊपर संकेत किया गया है परंतु इनके दीर्घकालीन संघर्ष में

२. रासो सार, संपा० श्यामसुंदरदास, बनारस, १९०४, पृ०१६७ और आगे।
३. हसन निजामी का ताज-उल् मासीर। इलियट, जिल्द दो, पृ० २२३।
४. चौहान के प्रसिद्ध शासक विग्रहराज चतुर्थ (११५०–६४ ई०) ने अपने समकालीन गहड़वाल शासक विजयचंद (११५५-११६९ ई०) को पराजित कर दिल्ली पर अधिकार कर लिया था। डा० आर० एस० त्रिपाठी : हिस्ट्री आफ कन्नौज (१९५९ ई०), पृ० ३२०; डा० दशरथ शर्मा; अर्ली चौहान डाइनेस्टीज (१९५९ ई०), पृ० ५९–६०; डा० रामवृक्ष सिंह : दि हिस्ट्री आफ दी चाहमानाज (१९६० ई०) पृ० १४१–४८; डा० कु० रोमा नियोगी, दी हिस्ट्री आफ दी गहड़वाल डाइनेस्टी (१९५९ ई०), पृ० ९३-९४।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पृथ्वीराज तृतीय और संयोगिता के विवाह ने अग्नि में घी का कार्य किया। इस घटना ने उनकी शत्रुता को राजनैतिक स्वरूप के स्थान पर व्यक्तिगत रूप प्रदान कर दिया, जिसकी अग्नि में दोनों जलकर भस्म हो गए। इस विवाह का मध्यकालीन भारतीय इतिहास में बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। यही पृथ्वीराज तृतीय और जयचंद के बीच संघर्ष का तात्कालिक कारण कहा जा सकता है।

इस घटना का इतना अधिक महत्व था कि तत्कालीन कवि चंदबरदाई ने जयचंद्र पर कड़ा आरोप लगाया है, यद्यपि उसका उल्लेख अप्रमाणित है, कि जयचंद्र ने अपने प्रतिद्वंद्वी पृथ्वीराज तृतीय को परास्त करने तथा उससे बदला लेने के लिये तुर्क सेनापति शहाबउद्दीन गोरी को पृथ्वीराज पर आक्रमण करने के लिये आमंत्रित किया।[५] चंदबरदाई के इस कथन का समर्थन करते हुए मेजर रावर्टी इसकी सत्यता पर बार बार जोर देता है।[६] चंदबरदाई के इस कथन का प्रमाण किसी अन्य समकालीन हिंदू लेखक के वर्णन में नहीं मिलता, स्वयं मुस्लिम इतिहासकार भी इस विषय पर मौन हैं और वे किंचित् मात्र भी इस घटना की ओर संकेत नहीं करते। इन प्रमाणों की अनुपस्थिति में हम चंदबरदाई के इस आरोप को स्वीकार नहीं कर सकते। शहाबउद्दीन के पृथ्वीराज तृतीय पर आक्रमण करने का कारण जयचंद्र का निमंत्रण नहीं वरन् उस समय की राजनैतिक दुर्व्यवस्था थी, जिसने उत्तरी भारत को जर्जर और खोखला कर दिया था। तुर्कों ने तो वर्षों पहले भारत पर अपने सैनिक प्रहार प्रारंभ कर दिए थे। वे भारत में तुर्की साम्राज्य की स्थापना चाहते थे। इस महत्वाकांक्षा की पूर्ति के लिये इससे उत्तम अवसर और क्या हो सकता था? अतः यह आवश्यक था कि शहाबउद्दीन जैसा महत्वाकांक्षी तुर्क विजेता इस अवसर से लाभ उठाता। उसके लिये पृथ्वीराज पर आक्रमण करना अनिवार्य हो गया था, क्योंकि उसे अपनी पूर्व पराजय का बदला भी लेना था। उसके लिये पृथ्वीराज तृतीय पर आक्रमण करने का स्वर्ण अवसर इससे बढ़कर और क्या हो सकता था। यद्यपि चंदबरदाई का उपर्युक्त कथन असत्य प्रतीत होता है, तो भी वह इस बात की ओर संकेत करता है कि पृथ्वीराज तृतीय और जयचंद के बीच कितनी भयंकर शत्रुता रही

५. पृथ्वीराज और संयोगिता के प्रेमविवाह के लिये देखिए—पृथ्वीराज रासो, संयोगिता स्वयंवर समय।

६. तबकात-ए-नासीरी, मेजर रावर्टी कृत अंगरेजी अनुवाद, जिल्द एक पृ० ४६६, टिप्पणी तथा पृ० ४६७; टाड : ऐनलस एंड ऐन्टीक्विटीज आफ, राजस्थान, जिल्द (?), पृ० ३००।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होगी। और निश्चय ही इस भयंकर शत्रुता का तात्कालिक कारण था पृथ्वीराज तृतीय और संयोगिता का प्रेमविवाह।

पृथ्वीराज और संयोगिता के विवाह की ऐतिहासिकता पर बहुत से आधुनिक इतिहासकार संदेह प्रकट करते हैं।[७] परंतु पृथ्वीराजरासो के लेखक चंदबरदाई ने पृथ्वीराज तृतीय और संयोगिता के प्रेम और फिर उनके विवाह का वर्णन विस्तारपूर्वक किया है।[८]

सौभाग्य से चंदबरदाई के उपर्युक्त कथन का उल्लेख हमें कुछ बाद की रचनाओं में भी प्राप्त होता है। सोलहवीं शताब्दी के मध्यकालीन हिंदू कवि चंद्रशेखर, जो रणथंभौर के चौहान शासक का दरबारी कवि था, ने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक 'सुरजनचरित' में विस्तारपूर्वक इस घटना का वर्णन किया है।[९] इसी तरह अकबर के प्रसिद्ध दरबारी इतिहासकार अबुलफजल ने भी अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक 'आइन-ए-अकबरी' में पृथ्वीराज तृतीय और संयोगिता के विवाह का उल्लेख किया है।[१०] यद्यपि चंदबरदाई, चंद्रशेखर तथा अबुलफजल के उल्लेखों में यत्र तत्र भिन्नता दिखलाई पड़ती है, परंतु यह स्पष्ट है कि इन तीनों के इस घटना के लिखने का एक ही उद्देश्य था और उनके मूल कथानक भी एक ही थे।

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर हम पृथ्वीराज तृतीय और संयोगिता के प्रेम-विवाह की घटना को इस प्रकार संक्षेप में प्रस्तुत कर सकते हैं—

संयोगिता कन्नौज के गहड़वाल शासक की पुत्री थी, जो अत्यंत सुंदरी थी। पृथ्वीराज चौहान जो अजमेर का राजा था, वह भी एक अत्यंत सुंदर और पराक्रमी शासक था। भविष्य में ये दोनों एक दूसरे से प्रेम करने लगे। इसी बीच जयचंद्र ने अपनी विजय योजनाओं के बाद 'राजसूय यज्ञ' किया था। इसी शुभ अवसर पर उसने अपनी पुत्री के विवाह के लिये स्वयंवर का आयोजन किया था। इस स्वयंवर में भाग लेने के लिये दूर दूर से राजाओं राजकुमारों को बुलाया गया था। परंतु इस

७. डा० आ० एस० त्रिपाठी : हिस्ट्री आफ कन्नौज, पृ० ३२५–२६; डा० रोमा नियोगी : दी हिस्ट्री आफ दी गहड़वाल डाइनेस्टी, पृ० १०६–७।

८. पृथ्वीराज रासो : संयोगिता स्वयंवर समय।

९. एन० पी० पी० १९४६, जिल्द ३, पृ० २११–१४। परंतु चंद्रशेखर ने भूल से कन्नौज की राजकुमारी का नाम कांतिमती लिखा है।

१०. आइन-ए-अकबरी अंगरेजी अनुवाद, फ्रैंसिस ग्लैडविन, जिल्द २, पृ० १०७–८।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अवसर पर अजमेर के शासक पृथ्वीराज चौहान तथा मेवाड़ के शासक समरसिंह को उनसे शत्रुता रहने के कारण नहीं बुलाया गया था।[11] इतना ही नहीं, जयचंद्र ने इन्हें अपमानित करने के लिये इनकी मूर्तियाँ बनवाई और उन्हें ऐसे स्थान पर रखवा दिया जिससे आगंतुक उनके निम्नस्तर को जान सकें। परंतु संयोगिता, जिसने पृथ्वीराज से विवाह करने का दृढ़ संकल्प कर लिया था, ने गुप्त रूप से पृथ्वीराज को स्वयंवर में भाग लेने के लिये सूचना भेजी।[12] परिणामस्वरूप पृथ्वीराज अपने कुछ विश्वासपात्र सामंतों तथा सहयोगियों के साथ कन्नौज गया और जिस समय जयचंद्र अपने 'राजसूय यज्ञ' में व्यस्त था, एकाएक उस पर आक्रमण कर दिया और स्वयंवर से संयोगिता को लेकर अजमेर की ओर भाग गया। शीघ्र ही जयचंद्र के सैनिकों ने पृथ्वीराज का पीछा किया, किंतु पृथ्वीराज के विश्वासपात्र योद्धाओं ने अपने प्रिय सम्राट् के रक्षार्थ अपने प्राण न्यौछावर कर दिए परंतु अपने स्वामी का बाल बाँका न होने दिया। पृथ्वीराज कुशलतापूर्वक अजमेर पहुँच गया और फिर उसने बड़ी धूमधाम के साथ संयोगिता से विवाह किया।

अब प्रश्न यह उठता है कि पृथ्वीराज और संयोगिता का प्रेमविवाह, जैसा कि ऊपर लिखा गया है, एक ऐतिहासिक तथ्य है अथवा महाकवि चंदबरदाई के मस्तिष्क

११. डा० आर० एस० त्रिपाठी लिखते हैं कि इस अवसर पर सभी राजकुमारों को बुलाया गया था परंतु पृथ्वीराज चौहान और मेवाड़ के समरसिंह ने इसमें भाग लेना अस्वीकार कर दिया।—हिस्ट्री आफ कन्नौज, पृ० ३२५। परंतु डा० त्रिपाठी अपने तर्क की पुष्टि में कोई प्रमाण नहीं देते। वास्तव में अपनी राजनैतिक प्रतिद्वन्द्विता के कारण जयचंद्र ने जानबूझकर पृथ्वीराज को इस अवसर पर नहीं बुलाया था, जिससे उसका अपमान किया जा सके।

१२. अन्यत्र डा० त्रिपाठी लिखते हैं कि जब पृथ्वीराज को नहीं बुलाया और उसकी मूर्ति को बनाकर, उसे अपमानित किया गया तो पृथ्वीराज बहुत क्रोधित हुआ और अपने अपमान का बदला लेने के लिये स्वयं कन्नौज गया था।—वही पृ० ३२५-२६। यदि डा० त्रिपाठी के इस अनुमान को मान लिया जाय तो यह असंभव प्रतीत होता है कि किस प्रकार कन्नौज से अजमेर इसका समाचार पहुँचा होगा और कैसे पृथ्वीराज ने शीघ्रतापूर्वक आक्रमण किया होगा। इन परिस्थितियों में ऐसा जान पड़ता है कि पृथ्वीराज के पास सूचना भेजने का उत्तरदायित्व किसी और पर न होकर स्वयं संयोगिता पर था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपज। स्व० डा० आर० एस० त्रिपाठी चंदबरदाई के इस कथन को स्वीकार करने में आपत्ति करते हैं। उनका विचार है कि इस प्रेमविवाह को एक ऐतिहासिक घटना नहीं माना जा सकता; क्योंकि स्वयंवर और 'राजसूय यज्ञ' ये दोनों ऐसी घटनाएँ हैं जिनका महत्व बहुत अधिक है और यदि इसे संपन्न किया गया होता तो निश्चय ही शिलालेखों पर इसका उल्लेख मिलता। इतना ही नहीं 'रंभामंजरी', जिसका प्रमुख नायक जयचंद्र है, भी इस घटना पर मौन है। उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर यह निश्चित कहा जा सकता है कि जयचंद्र की विज शृंखला इतनी विस्तृत नहीं थी कि जिसके उपलक्ष्य में इस प्रकार का उत्सव मनाया जाता, क्योंकि ये उत्सव किसी के सर्वोच्च के शासक होने के प्रतीक समझे जाते थे।[१३] डा० त्रिपाठी का समर्थन करते हुए डा० रोमा नियोगी ने भी चंदबरदाई की इस प्रेमकथा को ऐतिहासिक घटना मानने से इनकार कर दिया है।[१४]

डा० त्रिपाठी के प्रत्युत्तर में डा० रामवृक्ष सिंह अपना तर्क प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं कि यह सत्य है कि 'रंभामंजरी' में इस घटना का उल्लेख नहीं किया गया है। परंतु यहाँ इस बात को नहीं भूलना चाहिए कि उक्त पुस्तक में जयचंद्र के शासनकाल के प्रारंभिक युग की घटनाओं को ही लेखबद्ध किया गया है, जब कि उक्त घटना जयचंद्र के शासनकाल के अंतिम दिनों में घटित हुई थी। यही कारण है जिससे इस घटना का वर्णन हमें 'रंभामंजरी' में नहीं मिलता। जहाँ तक इन घटनाओं को शिलालेखों पर अंकित न कराने का प्रश्न है, यह जयचंद्र के लिये स्वाभाविक ही था, क्योंकि कोई भी शासक अपनी अपमानपूर्ण पराजय तथा अपनी पुत्री के शत्रु द्वारा हरण की घटना को शिलालेखों में कदापि स्थान नहीं देगा। फिर भी केवल ये दो साधन ही कन्नौज के राजा के शासनकाल को विस्तारपूर्वक बताने के लिये पर्याप्त नहीं हैं।[१५]

दूसरी ओर डा० दशरथ शर्मा भी चंदबरदाई की इस घटना का समर्थन करते हुए प्रतीत होते हैं। वे लिखते हैं कि यद्यपि इस घटना का उल्लेख 'पृथ्वीराज प्रबंध', 'प्रबंध चिंतामणि', 'प्रबंधकोश', तथा 'हम्मीर महाकाव्य' में नहीं मिलता, जो चौहान नायक (पृथ्वीराज) के बारे में उल्लेख करते हैं, फिर भी इस कथा को केवल एक प्रेमकथा अथवा कविकल्पना की उपज कहना कठिन है। डा० शर्मा अपने पक्ष में निम्नलिखित तर्क उपस्थित करते हैं—

१३. हिस्ट्री आफ कन्नौज, पृ० ३२६।
१४. दी हिस्ट्री अाफ दी गहड़वाल डाइनेस्टी, पृ० १०७।
१५. दी हिस्ट्री आफ दी चाहमानाज, पृ० १७५।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१ – केवल इन पुस्तकों का इस घटना पर मौन रहना ही इसके लिए पर्याप्त प्रमाण नहीं होगा कि संयोगिता का हरण नहीं हुआ था। इसके अतिरिक्त वे पृथ्वीराज की चार प्रमुख विजयों के विषय में भी शांत हैं।

२ – इस घटना का वर्णन तीन प्राचीन और प्रमुख व्यक्तियों—अबुलफजल, चंद्रशेखर तथा चंदबरदाई से प्राप्त होता है।

३ – पृथ्वीराज रासो की भाँति पृथ्वीराज विजय में भी इसी प्रकार की एक घटना का उल्लेख मिलता है कि पृथ्वीराज एक सुंदरी, जो एक अप्सरा का अवतार थी, से अत्यधिक प्रेम करने लगे थे, यद्यपि उसका (पृथ्वीराज का) विवाह पहले कई बार हो चुका था और उसने व्यक्तिगत रूप से कभी भी अपनी प्रेयसी को नहीं देखा था।[१६]

जो लोग इस घटना को कपोलकल्पित तथा असत्य मानते हैं, वे लोग इस बात पर आश्चर्य प्रकट करते हैं कि उस समय राजसूय यज्ञ तथा स्वयंवर की प्रथा न तो प्रचलित थी और न जयचंद्र का साम्राज्य इतना विशाल और उसकी विजय महान् ही थीं कि वह इसे संपन्न करता।[१७] परंतु ये तर्क निराधार प्रतीत होते हैं क्योंकि प्राचीन काल से ही 'स्वयंवर' और 'राजसूय यज्ञ' का उल्लेख निरंतर मिलता है। हिंदू राजाओं के लिये यह एकमात्र प्रतिष्ठा का ही प्रतीक नहीं था वरन् यह एक धार्मिक कार्य भी समझा जाता था, जिससे वह अपने समकालीन शासकों के स्तर से ऊपर उठ जाय। कन्नौज अपने पूर्व इतिहास में समस्त भारतवर्ष की राजनैतिक शक्ति का केंद्र रह चुका था। अब उसका वह महत्व जाता रहा। संभव है कन्नौज के शासक जयचंद्र ने फिर से एक बार कन्नौज के खोए हुए संमान को प्राप्त करने का प्रयत्न किया हो, क्योंकि हिंदू तथा मुस्लिम दोनों इतिहासकारों के वर्णन से स्पष्ट है कि जयचंद्र एक शक्तिशाली तथा महत्वाकांक्षी शासक था।[१८] परंतु वह अपनी योज-

१६. **अर्ली चौहान डाइनेस्टीज (१९५९ ई०), पृ० ७८।**

१७. **हिस्ट्री आफ कन्नौज, पृ० ३२३।**

१८. **कन्नौज के शासक जयचंद्र की महत्वाकांक्षा और उसकी सैनिक शक्ति से हिंदू तथा मुस्लिम दोनों इतिहासकार प्रभावित थे। उन्होंने विस्तारपूर्वक तथा कहीं कहीं जयचंद्र के शौर्य और सैनिक शक्ति की अतिशयोक्तिपूर्ण प्रशंसा की है। विशेष द्रष्टव्य— डा० त्रिपाठी : हिस्ट्री आफ कन्नौज, पृ० ३२१–२२; डा० रोमा नियोगी : दी हिस्ट्री आफ दी गहड़वाल डाइनेस्टी, पृ० १०८–११०; हसन निजामी : ताज-उल-मासीर, इलियट, जिल्द २, पृ० २२३; इब्न आसीर : कामित-अत-तवारीख, इलियट, जिल्द २, पृ० २५०–५१; ब्रिग्ज फिरिश्ता : जिल्द, पृ० १७८९।**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नाओं में सफल न हो सका और अपने प्रमुख प्रतिद्वंद्वी चौहानों से अपने अपमान का बदला लेने में असमर्थ रहा। फिर भी यह कोई आश्चर्य की बात नहीं कि अपनी आकांक्षाओं में असफल होने पर भी जयचंद्र ने केवल अपनी उत्तेजना को शांत करने के लिये और केवल दिखावे के लिये इस प्रकार का समारोह संपन्न किया हो।[१९]

जहाँ तक स्वयंवर का प्रश्न है पूर्व मध्यकालीन भारत में भी इसके अनेक उदाहरण मिलते हैं। इसी प्रकार की एक घटना का उल्लेख ११२५ ई० में त्रिल्हण के विक्रमांकदेव चरित में भी मिलता है। इसके साथ ही कुछ प्रमुख जैन लेखकों से भी इस प्रथा के प्रचलित होने का प्रमाण मिलता है। हेमचंद्र सूरी के उल्लेखों से ज्ञात होता है कि गुजरात का राजा दुर्लभराज (१००८–१०२२ ई०) नांदोल की चौहान राजकुमारी दुर्लभदेवी को स्वयंवर से उठा ले गया था।[२०]

इसमें संदेह नहीं कि जिस घटना का वर्णन चंदबरदाई ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'पृथ्वीराज रासो' में किया है, वह अत्यंत रोचक है। उसमें यत्र तत्र अतिशयोक्ति का भी आभास मिलता है। परंतु कभी कभी ऐसी घटनाएँ मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन में सत्य होते हुए देखी जाती हैं। उदाहरण के लिये पूर्व मध्यकाल के लगभग ७२५ ई० की एक घटना को प्रस्तुत किया जा सकता है। राष्ट्रकूट परिवार का राजकुमार इंद्र चौलुक्यों की राजकुमारी भवनागा को खेड़ा से जबरदस्ती उसके विवाह मंडप से उठा ले गया था।[२१] सबसे रोचक बात तो यह है कि राष्ट्रकूटों का यह परिवार चौलुक्यों का सहयोगी शासक था।[२२] इन तथ्यों के आधार पर हम चंदबरदाई द्वारा लिखित बारहवीं शताब्दी के अंतिम चरण की इस घटना को निर्मूल और असत्य नहीं कह सकते। ऐसी घटनाएँ उस युग में घट सकती थीं, जिनपर आश्चर्य नहीं किया जा सकता।

प्रमुख तथा मान्य दरबारी इतिहासकार अबुल फजल ने भी इस घटना का उल्लेख अपने सुप्रसिद्ध ग्रंथ आइन-ए-अकबरी में किया है। अकबर का यह दरबारी इतिहासकार स्पष्ट शब्दों में जयचंद्र के 'राजसूय यज्ञ' और पृथ्वीराज द्वारा संयोगिता के हरण का उल्लेख करता है। अबुल फजल उच्चकोटि का इतिहासकार है। और यद्यपि उसने इस घटना के लगभग ४०० वर्ष बाद अपने ग्रंथ की रचना की थी

१९. डा० रामवृक्ष सिंह, दी हिस्ट्री दी चाहमानाज, पृ० १७५–७६।

२०. इंडियन ऐंटीक्वेरी ४, पृ० ११२–१४; डा० एच० सी० रे : डाइनैस्टिक हिस्ट्री आफ नार्दन इंडिया, जिल्द २, पृ० ६४५–४६।

२१. एपिग्राफिया इंडिका, १८, पृ० २३५ और आगे।

२२. वही, पृ० २३५ और आगे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

फिर भी उसने बड़े सोच विचार के बाद ही चंदबरदाई की इस घटना का उल्लेख किया होगा। अबुल फजल के इतिहास की मान्यता को देखते हुए हम सरलता से उसकी अवहेलना नहीं कर सकते। ठीक इसी प्रकार का समर्थन हमें जामुन के राजा के इतिहास से भी प्राप्त होता है।[२३]

दूसरी ओर पृथ्वीराज विजय से हमें अप्रत्यक्ष रूप में उक्त घटना की सत्यता का प्रमाण मिलता है। इस पुस्तक में इस बात का उल्लेख किया गया है कि पृथ्वीराज चौहान अत्यंत सुंदर था और जब वह अपनी युवावस्था को पहुँचा तो बहुत सी राजकुमारियाँ उससे विवाह करना चाहती थीं।[२४] पृथ्वीराज विजय का यह वर्णन अप्रत्यक्ष रूप से उक्त घटना की पुष्टि करता है। इसमें संदेह नहीं कि यदि 'पृथ्वीराज विजय' के इस वर्णन को सत्य माना जाय तो उन अनेक राजकुमारियों में जयचंद्र की पुत्री संयोगिता का संमिलित होना कोई आश्चर्य की बात नहीं जो पृथ्वीराज के गुणों और सुंदरता से प्रभावित होकर उससे विवाह की कामना करने लगी थी।

पृथ्वीराज और संयोगिता के विवाह के साथ ही एक दूसरा प्रश्न भी उठाया जाता है कि यह विवाह किस वर्ष में संपन्न हुआ था। इतिहासकारों के इस विषय पर भी विभिन्न मत हैं। प्रसिद्ध इतिहासकार वी० ए० स्मिथ इस विवाह की तिथि ११७५ ई० निश्चित करता है।[२५] परंतु ऐतिहासिक दृष्टि से अवलोकन करने पर यह तिथि असत्य प्रतीत होती है, क्योंकि ११७५ ई० में पृथ्वीराज नहीं वरन् उसका पिता सोमेश्वर शासन कर रहा था और उस समय पृथ्वीराज तो बालक ही रहा होगा। कारण ११७८ ई० में जब वह अजमेर का शासक बनाया गया, तो उस समय भी वह अपनी अपरिपक्व अवस्था में था।[२६] इसी प्रकार सी० वी० वैद्य ने भी भ्रमपूर्वक इस विवाह की तिथि ११८५ ई० में निश्चित की है। इस विषय पर तत्कालीन लेखकों का मौन रहना कठिनाई उपस्थित करता है। खेद है कि उस समय का कोई भी लेखक निश्चित रूप से इस विवाह की तिथि के बारे में नहीं

२३. तबकात-ए-नासीरी, अंगरेजी अनुवाद, मेजर राबर्टी, जिल्द (१) पृ० ४६९–६० और टिप्पणी।
२४. पृथ्वीराजविजय, जिल्द दस, १–४; शारदा : स्पीचेज ऐंड रायटिंग्ज, पृ० २११।
२५. अर्ली हिस्ट्री आफ इंडिया (तृतीय संस्करण), पृ० ३८७।
२६. दी हिस्ट्री आफ दी चाहमानाज, पृ० १६० तथा टिप्पणी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिखता। परंतु जब हम तत्कालीन घटनाओं और प्रमाणों का विहंगम अवलोकन करते हैं तो हम किसी एक निश्चित निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं।

पृथ्वीराज रासो का लेखक चंदबरदाई स्पष्ट शब्दों में इस बात की व्याख्या करता है कि यह विवाह पृथ्वीराज के शासन के अंतिम चरण में हुआ था। वह आगे यह भी लिखता है कि इस विवाह के बाद पृथ्वीराज अपनी पत्नी की सुंदरता पर इतना अधिक मोहित हो गया था कि उसके प्यार को छोड़कर किसी कार्य में रुचि नहीं लेता था। उसका पत्नीप्रेम इतना अधिक बढ़ गया कि उसने राजमहल से बाहर निकालना ही बंद कर दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि उसका शासन शिथिल पड़ गया। चारों ओर दुर्व्यवस्था फैलने लगी। यह समय उसके लिये कठिन कसौटी का था।[२७] चंदबरदाई के उक्त कथन की पुष्टि हमें एक अन्य पुस्तक लक्ष्मीधर की विधिविध्वंस से प्राप्त होती है। इस रचना से यह ज्ञात होता है कि तुर्कों के विरुद्ध अंतिम संघर्ष के समय पृथ्वीराज का मस्तिष्क विकृत और अधिक विलासी हो गया था।[२८] पृथ्वीराज अपने शासन के अंतिम दिनों में अत्यधिक विलासी हो गया था, इसका प्रमाण हमें पुरातन प्रबंध संग्रह के पृथ्वीराजप्रबंध से भी प्राप्त होता है। इस रचना के अनुसार पृथ्वीराज शहाबउद्दीन गोरी के अंतिम आक्रमण के कुछ ही दिन पूर्व अधिक विलासी हो गया था और वह देर तक सोता रहता था। पृथ्वीराज में देर तक सोने की बुरी आदत इतनी अधिक पड़ गई थी कि जब उसे कोई जगाने जाता तो वह उस पर अत्यधिक क्रोधित हो उठता था।[२९]

यद्यपि उपर्युक्त ग्रंथ पृथ्वीराज और संयोगिता के विवाह की तिथि को स्पष्टतया नहीं लिखते, परंतु वे अप्रत्यक्ष रूप से इस बात की ओर संकेत करते हैं कि कि यह विवाह तराईं के प्रथम युद्ध (११९१ ई०) के तुरंत बाद हुआ होगा।[30] इस तथ्य की पुष्टि हमें जामुन के इतिहास से भी प्राप्त होती हैं जिससे यह ज्ञात होता है कि पृथ्वीराज और जयचंद्र के बीच संघर्ष का कारण संयोगिता की घटना थी जो ११९१ ई० के तुरंत बाद घटी थी।[31] यह वर्ष पृथ्वीराज के शासनकाल में बहुत ही महत्वपूर्ण है। इसी वर्ष पृथ्वीराज ने शहाबउद्दीन गोरी के नेतृत्व में तुर्कों

२७. पृथ्वीराज रासो, समय ६२; रासो सार, पृ० ३४१ और आगे।

२८. इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली, सितंबर १९४०, पृ० ५६१, वर्ष २३।

२९. सिंघी जैन ग्रंथमाला, जिल्द २, पृ० ८७–८८।

३०. डा० रामवृक्ष सिंह, दी हिस्ट्री आफ दी चाहमानाज, पृ० १८०।

३१. तबकात-ए-नासिरी, अंगरेजी अनुवाद : मेजर राबर्टी, जिल्द १, पृ० ४६६–६७ तथा टिप्पणी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आक्रमणकारियों को युद्ध के खुले मैदान में बुरी तरह परास्त कर अपनी सीमा के बाहर खदेड़ दिया था। मुस्लिम सेनापति स्वयं इस युद्ध में इतनी बुरी तरह घायल हुआ कि बड़ी कठिनाई के बाद वह युद्ध क्षेत्र से अपनी जान बचाकर भाग सका था। उसके ज़ख़्म इतने गहरे थे कि शहाब उद्-दीन गोरी महीनों बिस्तर पर पड़ा रहा।

अपने इस विजयोल्लास में पृथ्वीराज अपने भावी संकट को न समझ सका। इस विजय से उसे सबक लेना चाहिए था और उसे अपने साम्राज्य को और शक्तिशाली बनाना उचित था, जिससे तुर्कों के भावी आक्रमण से वह अपनी तथा अपने देश की रक्षा कर सकता। परंतु उसका मस्तिष्क विकृत हो गया था और वह संयोगिता के प्रेम में दीवाना हो गया। स्वयंवर से जबरदस्ती उठा लाने के बाद उसने अजमेर में बड़ी धूमधाम के साथ संयोगिता से विवाह किया।

इस प्रकार एक ही वर्ष में अपनी दो महान् सफलताओं (तुर्कों पर विजय तथा संयोगिता से विवाह) के गर्व में पृथ्वीराज अपने कर्तव्य को भूल गया और अपनी नवविवाहिता स्त्री के साथ आनंद मनाने लगा, जिसके शोध में उसे शीघ्र ही अपने प्राणों की आहुति दे देनी पड़ी।

उपर्युक्त विवरण के आधार पर हम सरलता से निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि पृथ्वीराज और संयोगिता का विवाह एक ऐतिहासिक तथ्य है, जो ११९१ ई० अर्थात् तराईं के प्रथम युद्ध के तुरंत बाद संपन्न हुआ था।

भारतवर्ष के मध्यकालीन इतिहास की यह एक अत्यंत महत्वशाली घटना है। यह विवाह केवल दो राजपूत घरानों की समस्या नहीं था वरन् संपूर्ण देश की समस्या बन गया, जिसने देश के भावी भाग्य का निर्णय कर दिया। पृथ्वीराज और संयोगिता का विवाह केवल दो शासकों के बीच संघर्ष का तत्कालीन कारण ही नहीं था वरन् इससे तुर्कों को भारत पर आक्रमण करने का प्रोत्साहन भी मिला। ऐसे समय में जब तुर्कों के घातक आक्रमण लगातार उत्तरी भारत के राज्यों पर हो रहे थे, इन दो शक्तिशाली शासकों का परम कर्तव्य था कि इस संकटकालीन स्थिति में एक होकर विदेशियों का सामना करते। इसका उत्तरदायित्व पृथ्वीराज, चौहान पर और भी अधिक था, क्योंकि निश्चय ही वह गहड़वाल शासक जयचंद्र की तुलना में अधिक शक्तिशाली था। इतना ही नहीं उसने तुर्कों की विशाल सेना को युद्ध के खुले मैदान में परास्त कर अपने शौर्य का स्पष्ट प्रमाण भी दिया था।

देश का यह दुर्भाग्य था कि पृथ्वीराज जैसा महान् योद्धा समय की गंभीरता को न समझ सका और निरर्थक आपसी झगड़े में पड़कर अपना अमूल्य समय और शक्ति दोनों खो बैठा। संयोगिता से विवाह करने का यह भीषण परिणाम निकला कि जयचंद्र से उसकी कटुता चरम सीमा पर पहुँच गई। इस विवाह का प्रत्यक्ष प्रभाव

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पृथ्वीराज पर भी पड़ा। उसके बहुत से योद्धाओं ने, जिनकी सहायता से उसने तुर्कों को पराजित किया था, अपने प्रिय सम्राट पृथ्वीराज के बचाव में गहड़वालों के विरुद्ध अपने प्राणों की बलि दे दी। पृथ्वीराज स्वयं अब विलासमय जीवन बिताने लगा; जिससे उसका शासनसूत्र शिथिल पड़ गया, उसका सैनिक बल जाता रहा और वह अपनी नवविवाहिता पत्नी के प्रेम में इतना आसक्त हो गया कि उसे अपने देश और राज्य तक की चिंता न रही। उसके इस चारित्रिक पतन ने उसे अल्पकाल ही में इतना जर्जर कर दिया कि दूसरे वर्ष तुर्क सेनापति शहाब-उद्-ददीन ने उससे अपनी पिछली पराजय का बदला ले लिया। देखते ही देखते पृथ्वीराज का साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया और अंत में अपने प्राणों की आहुति देकर भी वह साम्राज्य की स्वतंत्रता की रक्षा न कर सका।

पृथ्वीराज संयोगिता के विवाह का ही परिणाम था कि जिस समय चौहान नरेश विदेशियों से अपने जीवन मरण के संघर्ष में व्यस्त था, जयचंद्र केवल दूर से तमाशा देखता रहा। जहाँ जयचंद्र को अपने आपसी वैमनस्य को छोड़कर अपने भाई-बंधुओं को सहयोग देना चाहिए था वहाँ वह कन्नौज में बैठकर पृथ्वीराज की पराजय के समाचार की प्रतीक्षा कर रहा था। उसके किसी भी सहयोगी शासक ने पृथ्वीराज का इस संकट में साथ नहीं दिया। पृथ्वीराज की पराजय और उसकी मृत्यु का समाचार जयचंद्र के लिये हर्ष का विषय था, जैसा कि पुरातन प्रबंध संग्रह के जयचंद्र प्रबंध उल्लेख से मिलता है। पृथ्वीराज की पराजय और मृत्यु के समाचार से जयचंद्र ने अपने राज्य में खूब खुशियाँ मनाईं।[३२] उसे क्या मालूम था कि उसकी ये खुशियाँ अल्पकालीन हैं, जिसका भुगतान उसे भविष्य में शीघ्र करना पड़ेगा। अपनी आशा के विपरीत जयचंद्र दूसरे ही वर्ष अर्थात् ११९३ ई० में तुर्कों के आक्रमण का स्वयं शिकार बना और उसके सारे मनसूबे तितर-बितर हो गए। पृथ्वीराज की भाँति वह भी चंदावर के प्रसिद्ध युद्ध में पराजित हो गया और अंत में उसे भी अपने प्राणों से हाथ धोना पड़ा।

इस प्रकार उत्तरी भारत के दो प्रमुख और शक्तिशाली राज्य, जो देश की रक्षा का भार सँभाल सकते थे, एक एक करके तुर्क दासत्व का कारण बने। जो राजनैतिक परिवर्तन देश में उस समय आए उसके प्रकोप से हम आज तक त्रस्त हैं और अभी तक हम अपने को संभालने में असमर्थ रहे हैं। इन सभी का उत्तर-दायित्व बहुत कुछ पृथ्वीराज और जयचंद पर है। इस पूरी राजनैतिक उथल-पुथल में पृथ्वीराज और संयोगिता के प्रेम विवाह का प्रमुख स्थान था।

*

३२. सिंघी जैन ग्रंथमाला, जिल्द २, पृ० ८९।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शुद्ध खड़ी बोली का एक प्राचीन रूप

गोपाल राय

भाषा एक सतत परिवर्तनशील तत्व है। खड़ी बोली का जो रूप हम आज देख रहे हैं वह सौ वर्ष पूर्व वैसा ही नहीं था और सौ वर्ष बाद वह आज से भिन्न नहीं हो जायगा, ऐसा नहीं कहा जा सकता। भाषा की यह परिवर्तनशीलता अध्ययन का रोचक विषय है। प्रस्तुत निबंध में हम लगभग एक शतक पूर्व की खड़ी बोली के स्वरूप का विवेचन कर रहे हैं। जिस पुस्तक को हम इस विवेचन का आधार बना रहे हैं, वह है पं० गौरीदत्त रचित 'देवरानी जेठानी की कहानी'। यह पुस्तक प्रथम बार सन् १८७० ई० में जिआई छापखाना मेरठ से प्रकाशित हुई थी। पं० गौरीदत्त मेरठ जिले के निवासी थे। उन्होंने उक्त पुस्तक की भूमिका में लिखा है—'इस पुस्तक में स्त्रियों की ही बोलचाल और वही शब्द जहाँ जैसा आशय है लिखे हैं और यह बोली है जो इस जिले के बनियों के कुटुंब में स्त्री पुरुष वा लड़केबाले बोलते चालते हैं संस्कृत के बहुत शब्द और पुस्तकों जैसे इसलिये नहीं लिखे कि न कोई चित से पढ़ता है और न सुनता है।'

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि 'देवरानी जेठानी की कहानी' उस भाषा में लिखी गई है जो १८७० ई० के आसपास मेरठ जिले में प्रयुक्त होती थी। खड़ी बोली मूलतः मेरठ जिले के आस पास की भाषा है। अतः खड़ी बोली के मूल रूप को जानने में लिये 'देवरानी जेठानी की कहानी' का अध्ययन महत्वपूर्ण है। यह एक उल्लेखनीय तथ्य है कि प्राचीन खड़ी बोली गद्य के उदाहरण तो अनेक मिलते हैं, पर मेरठ जिले में प्रयुक्त खड़ी बोली के शुद्ध रूप के नमूने प्रायः नहीं मिलते। प्रस्तुत निबंध में इस भाषा की अंतः रचना का विश्लेषण किया जा रहा है। लिखित भाषा के स्वरूपविश्लेषण में जिन बातों का विशेष रूप से ध्यान रखना आवश्यक है उनमें प्रमुख हैं शब्द, वाक्यरचना एवं लिपि। शब्द अनेक प्रकार के होते हैं, यथा संज्ञा, सर्वनाम, क्रिया, विशेषण, अव्यय आदि। वाक्यरचना में विभक्ति, वचन, लिंग, क्रियारूप, विरामचिह्न आदि के प्रयोग पर ध्यान देना होता है। लिपि की दृष्टि से वर्तनी विचारणीय है। यहाँ इन्हीं दृष्टियों से 'देवरानी जेठानी की कहानी' की भाषा का विवेचन करने का प्रयास है।

१. अब यह पुस्तक ग्रंथ निकेतन, रानीघाट, पटना से प्रकाशित है।—लेखक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'देवरानी जेठानी की कहानी' की भाषा उपर्युक्त सभी दृष्टियों से आधुनिक हिंदी से कुछ विशिष्ट है। शब्दप्रयोग की दृष्टि से विचार करने पर दो बातें सामने आती हैं। प्रथम, संस्कृत शब्दों का प्रयोग इसमें नहीं के बराबर है, जबकि आधुनिक हिंदी में तत्सम शब्दों का अनुपात बहुत अधिक होता है। द्वितीय, इसमें स्थानीय शब्दों के प्रयोग अत्यधिक हुए है, जो परिनिष्ठित हिंदी में स्वीकार्य नहीं हैं। उदाहरणार्थ—**गिर्वी पाते** की भी उसे **बहुतेरी** आमदनी थी। मन **उछट** जाता। **उचापत** उठने लगी। ईश्वर ने **उपरातली** दो लड़के दिए। उन्होंने उसका **टेवा** माँगा है। वहाँ से **कहलावत** आई। **बगड़-पड़ोसन** सब इकट्ठी हो गईं। **बेश्रर बानियों** में धूम पड़ गई। वह भी **लगावा बभावा** थी। थोड़े दिन **पीछे**। **नून जियादह** कर देती। मेरी सास **दोजगन** हैं। **अबके** वर्ष लोग पचास हजार रुपए का **भरम** करने लगे। जब **पर्च** जायगा। **ब्याज** दे रखे थे। **रूस** के अपने घर चली गई।

उपर्युक्त वाक्यखंडों में काले टाइप में मुद्रित शब्द आधुनिक परिनिष्ठित हिंदी में स्वीकृत नहीं। इस तरह के और भी अनेक शब्द जैसे **गड़ूलना, चुप चोटूटी छूछक, गुजरान, खिछड़ी, दसूठन, चौबारा, जुदाजोखा, विकालत, पिंडोल, ब्यालू, नित, बहल, बेर विषवाद, सासू** आदि इस पुस्तक में स्थान स्थान पर आए हैं। इन शब्दों के बहुल प्रयोग के कारण 'देवरानी जेठानी की कहानी' की भाषा आधुनिक हिंदी से बहुत अलग छूटी हुई प्रतीत होती है।

क्रियापदों के प्रयोग की दृष्टि से भी विवेच्य भाषा आधुनिक हिंदी से बहुत भिन्न है। क्रियापदों के प्रयोग में भी दो बातें बहुत स्पष्ट रूप में दिखाई पड़ती हैं। १—इसमें प्रयुक्त कुछ क्रियाएँ ऐसी हैं जो आज उस अर्थ और रूप में अप्रचलित हो गई हैं। यथा—मुँह **फक्का पड़** रहे (फक हो गए); वहाँ **तलाबेली पड़ी** (बेचैनी हुई); बहु **रोटियें करती** (रोटियाँ बनाती), कुरा में **गेर दूँगा** (गाड़ दूँगा)† रात को पूरी पिराबटा और तरकारी **कर** (बना) लिए **करे** (करती) थी, दवा दी कुछ आराम **पड़ा** (हुआ), मेरे पीछे **फजीता होगा** (फजीहत होगी); सास **उठावने उठाने लगी** और **बोल कबूल करने** (मनौती करने) लगी, और कोई स्याना दीवाना घर में नहीं **बढ़ने** (घुसने)। पावे बहुत दिन में पकवान **उस जा हैं** (बासी हो जाते हैं)।

उपर्युक्त उदाहरणों में काले अक्षरों में मुद्रित क्रियारूप, जो विवेच्य पुस्तक में बहुलता से पाए जाते हैं, आधुनिक हिंदी में बिलकुल अप्रचलित हो गए हैं।

† गेरना क्रिया के अर्थ होते हैं गिराना, बखेरना, फेंकना आदि न कि गाड़ना। —संपादक।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'देवरानी जेठानी की कहानी' में प्रयुक्त क्रियापदों के संबंध में दूसरी उल्लेखनीय बात यह है कि उनके रूप आधुनिक हिंदी में बिल्कुल बदल गए हैं। उदाहरणार्थ, उसकी मा आई **देखे** (देखा) तो धरती पर पड़ा **सोवे** (सोता) है, कुछ न कुछ करता **रहे** (रहता) था, और **कहे** (कहती) थी, पाँच सात लौंडिएँ उसके घर जाया **करें** (करती) हैं, किरपी के ताऊ गाड़ी में बैठे **आवे** थे, वह **पूछे थे,** देवरानी को दोनों वक्त चूला फूँकना **पड़े** था, जिनके नसीब खोटे **हो हैं** उनके बेटी **हो हैं**; घरवाली से कह दिया कि **घी** को ताके रख **छोड़ियो** और बहु की खिचड़ी वा दाल में डाल दिया **करियो** (करना), खांड के लड्डू बना **लीजो** (लेना), मैं **जानूँ** (जानता) हूँ; वह भी **आन** पहुँचे।

उपर्युक्त उदाहरणों में काले अक्षरों में मुदित क्रिया रूप आधुनिक हिंदी से लुप्त हो चुके हैं और उनके स्थान पर कोष्ठांतर्गत रूप प्रचलित हो गए हैं।

विभक्तिप्रयोग की दृष्टि से भी 'देवरानी जेठानी की कहानी' की भाषा आधुनिक हिंदी से भिन्न है। उदाहरणार्थ, सर्व सुख **नाम** (नामक) एक अग्रवाल बनियाँ था; परमेश्वर का दिया **उसके** (उसे) सब कुछ था; कहने लगा कि आज दिन **से** (में) क्यों आये; मामाजी से मिलने **गुडगाँवे** (गुड़गाँव) गया था; बाबू जी की बदली अंबाले **की** (में) हो गई, **उसकू** (उसको) इस बात का बड़ा ध्यान रहता; दौलत राम और उसका बाप रोटी खाने **को** (के लिये) आते; **जिसपे** (जिसको) जैसी आती होगी वैसी करेगी; खाँचा सिर **पै** (पर) लिये; अड़ोसी पड़ोसी सब **इस्से** (इससे) राजी थे।

उपर्युक्त उदाहरणों में काले अक्षरों में मुद्रित क्रियारूप आधुनिक हिंदी में प्रयुक्त नहीं होते। उनके स्थान पर कोष्ठकांतर्गत रूप प्रचलित हैं।

विवेच्य पुस्तक की भाषा में वचनप्रयोग भी आधुनिक हिंदी से कुछ भिन्न हैं। यथा, **लौंडियें** (लौंडियाँ) उसके घर जाया करे हैं; मोटी मोटी **रोटियें** (रोटियां) करती, जो ज्ञानवान **लड़कियें** (लड़कियाँ) हैं।

इसी प्रकार 'देवरानी जेठानी की कहानी' में पूर्वकालिक क्रियाओं के रूप भी थोड़ें भिन्न हैं, यथा—छोटे लाल रोटो खा **के** (कर) दफ्तर चले जाते; राजी खुशी कह **के** (कर) बोला; बहू के सिखाए में आ **के** (कर)।

वर्तनी की दृष्टि से भी 'देवरानी जेठानी की कहानी' की भाषा आधुनिक हिंदी से भिन्न है। उदाहरणतः

सच्च (सच); **अड़ौसी पड़ौसी** (अड़ोसी पड़ोसी); **इस्से** (इससे); **पुन्य** (पुण्य); **बहु** (बहू); **इखट्टी** (इकट्ठी); **औसर** (अवसर);

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तर्फ (तरफ); **न्हा धोके** (नहा धोकर); **मालूम** (मालूम); **वृत** (व्रत); **जूंही** (ज्योंही) आदि ।

'देवरानी जेठानी की कहानी' की वर्तनी को ध्यान से देखने पर ज्ञात होता है कि इसे उच्चारणानुरूप रखने का विशेष प्रयास किया गया है। चंद्रबिंदु के प्रयोग में यह बात स्पष्टतः लक्षित होती है। आधुनिक हिंदी में जहाँ उच्चारण की दृष्टि से चंद्रबिंदु का प्रयोग होना चाहिए वहाँ इसका प्रयोग नहीं होता। उदाहरणार्थ—**में, लड़कों, मैंने, कहेंगे** में उच्चारण की दृष्टि से चंद्रबिंदु का प्रयोग उचित है, पर आधुनिक हिंदी में ऐसे शब्दों में चंद्रबिंदु के स्थान पर अनुस्वार का ही प्रयोग होता है। इसके विपरीत 'देवरानी जेठानी की कहानी' में इस प्रकार के शब्दों में भी चंद्रबिंदु का ही प्रयोग किया गया है।

विराम-चिह्नों का प्रयोग नहीं के बराबर है। पुस्तक में कहीं भी पूर्णविराम, अर्धविराम, कोलन, सेमीकोलन, पड़ी पाई आदि का प्रयोग नहीं हुआ है। पुस्तक में कहीं भी अनुच्छेद परिवर्तन नहीं दिखाई पड़ता। कहीं - कहीं अनुच्छेद बदलने के लिये खड़ी या पड़ी पाई का प्रयोग मिलता है।

इस अध्ययन से स्पष्ट है कि 'देवरानी जेठानी की कहानी' हिंदी के अविकसित गद्य का उदाहरण प्रस्तुत करती है। यही गद्य आज संस्कृत और अंगरेजी गद्य की विशेषताओं से समन्वित होकर उपन्यास, कहानी, निबंध आलोचना एवं उपयोगी तथा वैज्ञानिक साहित्य का सफल माध्यम बन रहा है। भविष्य में विभिन्न भारतीय भाषाओं के संपर्क से हिंदी गद्य का रूप कुछ और बदल सकता है, यह असंभव नहीं। यह ग्रहणशक्ति हिंदी भाषा की सबसे बड़ी विशेषता है।

*

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जायसी की रचनाएँ और उनका नामकरण

शहाब सरमदी

यों तो जायसी की रचनाओं की संख्या इक्कीस तक पहुँच चुकी है[1] परंतु शोध की दृष्टि से उनकी चौदह रचनाएँ ही उल्लेखनीय हैं[2] इनमें भी कुछ ऐसी हैं जहाँ रचना एक ही, केवल नाम दो हैं। जैसे – चित्र रेखा (चंपावती)[3], महरी-बाईसी (कहरानामा), 'मुकहरानामा' (कुम्हरानामा) आदि। इस तरह कुल संख्या १४ से भी कम ठहरती है। इनमें जहाँ तक मेरी जानकारी है पद्मावत, अखरावट, आखिरी कलाम, चित्ररेखा, कहरानामा व मसलानामा प्रकाशित हो चुकी हैं। यही उनके प्रतिनिधि ग्रंथ समझे जाते हैं और इन्हीं पर शोधपूर्ण एवं आलोचनात्मक कार्य भी हुआ है।

इस कार्य के प्रारंभिक प्रयास में नेतृत्व के लिये यदि बधाई के पात्र हैं तो वे डाक्टर ग्रियरसन एवं उनके योग्य सहयोगी महामहोपाध्याय पं० सुधाकर द्विवेदी हैं। उन्होंने पद्मावत की एक प्रमाणित प्रति प्रस्तुत करनी चाही, किंतु पचीसवें खंड तक ही पहुँचे थे कि पंडित जी का देहांत हो गया और यह काम आगे न बढ़ सका। उनके पश्चात् आचार्य रामचंद्र जी शुक्ल ने जायसीग्रंथावली का संपादन किया। एक ग्रंथावली डा० माताप्रसाद गुप्त ने हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर प्रकाशित की। उन्होंने पद्मावत का भी एक महत्वपूर्ण संस्करण निकाला। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने भी एक ऐसा ही संस्करण हमें दिया। इनके अतिरिक्त दूसरे विद्वानों ने भी जायसी साहित्य पर विशेष ध्यान दिया। कई और भी कृतियाँ इस विषय पर हमारे समक्ष आ चुकी हैं। विवेचनात्मक तथा आलोचनात्मक दृष्टिकोण से भी इस दिशा में पर्याप्त रूप से कार्य हुए हैं और हो रहे हैं। मैं समझता हूँ जायसी-साहित्य पर हिंदी के क्षेत्र में लगभग उतनी ही लगन से कार्य हुआ है जितना उर्दू में

१. नागरीप्रचारिणी पत्रिका, १९६७, पृ० ५७।
२. कवाएफ-ए-अहमदीया (कलमी) जिसमें 'चहारदा किताब' (चौदह किताबों) का प्रमाण मिलता है।
३. अमरेश जी द्वारा संपादित कहरानामा–मसलानामा, पृ० २०।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गालिब पर। फिर भी दो-एक बिलकुल ही स्थूल तत्वों पर भी अब तक कम ही मनन होसका है, जैसे एक जायसी का जीवनचरित्र ही है। हम उनके निजी जीवन के संबंध में अपेक्षाकृत कम ही जानते हैं। इसी प्रकार उनकी कृतियों के नाम हैं। ये भी कुछ के कुछ हो गए हैं।

पद्मावत को हिंदी साहित्य का जगमगाता हीरा कहा गया है।[४] 'अखरावट' को भी प्रतिनिधि ग्रंथ समझा जाता है। परंतु इन ग्रंथों के नाम जो हमने प्रचलित कर दिए हैं, वे वह नहीं हैं जो स्वयं जायसी ने रखे थे।

जायसी काल तक ईरान एवं हिंदुस्तान में जितने काव्य मसनवी शैली में लिखे गए उनका नामकरण या तो नायक नायिका के आधार पर किया गया, जैसे—'वामिक़ अज़रा', 'यूसुफ़ जुलेखा', 'लैला मजनूँ', 'दवल रानी खिज़र खाँ', 'चंदायन', 'मृगावती'[५] आदि या शाहनामा और सिकंदरनामा के समान ही 'चक्कीनामा' 'खुशनामा' 'इरशादानामा', आदि। ऐसी कृतियां कम ही थीं, जिनमें 'हफ्त पैकर', 'नुह सिपह' और 'नौ सिरहार' जैसे नाम दिए गए हों। जायसी को इनमें शास्त्रीय पक्ष ही में रुचि थी, अतएव उनकी प्रत्येक रचना या तो 'वती' के आधार पर है या 'नामा' के।[६] अतः पद्मावत का नाम उन्होंने पद्मावती रखा था।[७] इसका प्रमाण इस ग्रंथ की नायिका का नाम ही है। पद्मावती को बार बार पद्मावति इसलिये कहना पड़ा कि चौपाई छंद में एक सात मात्रिक दीर्घांत शब्द की खपत खैंच तानकर ही हो सकती थी। 'नागमती' षट्-मात्रिक शब्द है, इसलिये उसे हर तरह खपाया जा सकता था। नागमती को नागमति कहीं नहीं कहा गया।

यह जान पड़ता है कि फारसी लिपि में 'पद्मावति' और 'पद्मावत' एक ही तरह लिखा जाता है। इस भाषा में किसी शब्द के अंतिम वर्ण को स्वरित किया भी नहीं जाता। पद्मावत की ख्याति अकबर युग में ही जंगल के पुष्पसौरभ के समान व्याप्त होने लगी थी।[८] शाहजहाँ काल आते-आते यह प्रसिद्धि सारे भारत में फैल गई। ऐसा लगता है कि पांडुलिपि तैयार करने में 'पद्मावती' पहिले 'पद्मावति'

४. डा० वासुदेवशरण अग्रवाल द्वारा संपादित पद्मावत, द्वितीय संस्करण, पृ० ७

५. लीलावती और रत्नावली जैसे नामों के ग्रंथ हमारे यहाँ पहले से ही उपलब्ध थे।

६. कहरानामा-मसलानामा, पृ० २१।

७. डा० ग्रियर्सन ने भी पद्मावति और शेरिफ ने पद्मावती नाम रखा है।

८. देखिए अबुल फजल की 'आईन-ए-अकबरी'।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हुआ फिर 'पद्मावत'। यह हस्तलेखकों की कारीगरी मालूम होती है। उन्होंने नायिका का नाम हर जगह पद्मावत ही पढ़ा और वही ग्रंथ का नाम भी स्थापित कर दिया। इसी तरह 'अखरावटी' 'अखरावट' हो गया, अपितु तुक मिलानेवालों ने उसे पद्मावत से मिला कर 'अखरावत' भी कर दिया, यद्यपि जायसी ने इस ग्रंथ का नाम स्पष्टरूप से बता दिया था।

खैर, यह तो हुआ जो कुछ हुआ, इससे कुछ विशेष उलझाव पैदा नहीं हुआ। हाँ, कहने की बात अवश्य रह गई कि जो ग्रंथ जायसी के नाम के रक्षक हैं हम उन्हीं के नामों की सुरक्षा न कर सके कहरानामा को 'महरी बाइसी' कर देना जायसी के किए पर पानी फेर देना है; इसलिये कि उनके इस सुडौल गीत-काव्य में २२ नहीं २५ छंद हैं।[९] दूसरे यह गीत कहार को आधार बनाकर लिखा गया है। हमें आनेवाली पीढ़ी को जायसी जैसे कवि के इक्कीस जीते जागते पदों से वंचित कर देने का कोई अधिकार नहीं। हम इसके अधिकारी नहीं हैं कि इस विषय में कोई मनमानी कर सकें। कहार इस काव्य का एकलौता व अछूता पात्र है। इसलिये हम 'कहारानामा' को उसके असली नाम 'कहारानामा' पर तो व्यवस्थित कर सकते थे, लेकिन महरी बाईसी नहीं कर सकते। ऐसा करना इस रचना के मूल उद्देश्य पर धूल डालना होगा।

इसी तरह उनका एक और मसनवी-काव्य पहली बार, 'मसलानामा' के नाम से छपा है। इस नाम को इस प्रकार समझा गया है :

'हो सकता है मसला शब्द उन्हीं सूफी संतों की देन हो। क्योंकि इसके पूर्व 'मसला' नाम की कोई वस्तु हमारे देश में नहीं थी। यह शब्द मिस्ल से बना है। मिस्ल का अर्थ है 'भाँति', 'तरह'। यह अरबी भाषा का शब्द है जिससे अन्य शब्दों की व्युत्पत्ति हुई—

'मिस्ल > मसलन > मिसाल > मसल > मसला

'मिस्ल' शब्द से निकला हुआ 'मसल' शब्द बाद में 'मसला' बन गया।'[१०]

'मसल' और 'मसला' को एक ही शब्द अर्थात् 'मिस्ल' से निकला हुआ समझना ठीक नहीं। अरबी में 'मस्ल' और 'मसअला' या 'मसला' दो बिलकुल अलग अलग शब्द हैं। पहले का शाब्दिक अर्थ है—किसी को इस तरह सजा देना कि देखनेवालों को इबरत हो और दूसरे (मसला) का अर्थ है 'सवाल' समस्या आदि।

९. कहरानामा—मसलानामा, पृ० ६०।
१०. वही, पृ० ७०–७१।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'मस्ल' से एक लफ्ज 'मसल' बना है, जिससे कथा, कथानक, कहावत, मिसाल, रूपक आदि का बोध होता है।' अरबी बोलचाल में 'मसल-ए-सायर' प्रचलित कहावतें होती हैं। इसी प्रकार अवधी में 'मसल-मासहूर' बोलते हैं। 'मसल तो मसल' कुछ लोगों का तकिया कलाम भी सुनने में आया है। किंतु 'मेहर-मसलवा' अवधी में औरतों की समस्याओं को कहा जाता है। यहां मसलवा 'मिस्ल' या 'मसल' का नहीं अपितु 'मसअला' का अपभ्रंश है।

ऐसी सूरत में जो अवधी को अपनी मातृभाषा की तरह जानते हैं और जायसी को पढ़ा और कढ़ा दोनों मानते हैं उनको सुझाने की जरूरत नहीं कि अपनी इस रचना को, जिसमें उन्होंने आदि अंत मात्र कहावतों के सहारे जिंदगी के गहनतम राजों को ही व्यक्त कर दिया है, मसलानामा नहीं मसलनामा नाम दिया होगा। इसलिये जब तक कोई पर्याप्त प्रमाण न मिल जाय यही समझना उचित होगा कि हम मसलानामा को मसलानामा समझ रहे हैं।

अब आइए उनकी उस रचना पर जिसे आखिरी या 'आखिरी कलाम'[११] नाम दिया गया है और आख़िरी को 'आखिरत' शब्द से उलझाकर और 'कयामत के दिनों का वर्णन इसका विषय मानकर यह भी कल्पना कर ली गई है कि इसमें मुसलमानी धर्म के एक अंग का प्रचार है।' यह भी आम धारणा है कि यह निम्न कोटि का काव्य है।

ये सारी गलतफहमियाँ इसलिये फैलीं और फैल रही हैं कि हमने इस मसनवी के सही नाम और उसमें वर्णित सामग्री पर जितना चाहिए था उतना ध्यान नहीं दिया। जायसी ग्रंथावली[१२] के वक्तव्य में शुक्ल जी का यह कथन है :

'उनका एक और ग्रंथ आखिरी कलाम फारसी लिपि में बहुत पुराना छपा हुआ हाल में मिला।'

यह सन् १९३५ के आसपास की बात है। तब से अब तक न जाने कैसे इस ओर हमारी नजर ही नहीं गई कि कहीं फारसी से देवनागरी लिपि में आते हुए या किसी और कारण से इस ग्रंथ का नाम तो नहीं बदल गया और अगर नहीं बदला तो आखिरी अथवा आख़िरी से समझा क्या जाय ? यह ग्रंथ जायसी की अंतिम रचना तो नहीं कि इसे उनका आखिरी कलाम कहा जाय । इसका रचनाकाल ९३६ है, पद्मावत का

११. **'मलिक मोहम्मद जायसी', सैयद कल्बे मुस्तफा, पृ० ८३।**
१२. **जायसी-ग्रंथावली, द्वि० सं०; वक्तव्य, पृ० ७।**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

९४७,[13] और चित्ररेखा का ९६४ हिज्री है। फिर भी यदि यह विकल्प ही किया जाय कि इस काव्य का विषय चूँकि कयामत के दिन का वर्णन था इसलिये इसका नाम 'आखिरत-कलाम' रहा होगा जिसका अपभ्रंश आख़िरी < आखिरी कलाम हो गया, तो हमें यह भी मानकर चलना पड़ेगा कि जायसी अरबी नहीं जानते थे और वह जुबान के मामले में समझौता भी कर सकते थे। मगर ये दोनों बातें अवास्तविक हैं। हमें दिल से विश्वास है कि वे अरबी का भलीभाँति ज्ञान रखते थे और हम यह भी मानते हैं कि जहाँ उन्होंने अपनी 'भाखा' के ठेठपन को मामूली ठेस भी नहीं पहुँचने दी वहाँ किसी शब्द का चाहे वह किसी भाषा का हो, गलत इस्तेमाल भी नहीं किया। आखिरत का यह अर्थहीन प्रयोग, यही नहीं कि उनकी भाषा नीति के विरुद्ध था, अवधी बोलचाल से भी बिलकुल बे मेल था। फिर जायसी जैसे कलाकार और काव्य को नखशिख सँवारनेवाला, जिसने अपनी इस मसनवी में भी खुदा को 'गोसाईं', रसूल को 'दीनदयाल', दीन को 'धरम', मोमिन को 'सिद्ध', आलिम को 'पंडित', आसमानी किताबों को 'वेदपुराण', लामकान को 'अंतर्हित', गैब की आवाज को 'नाद', नजात को 'निस्तार', मीजान को 'तखरी', जलवा को 'चमत्कार' और कयामत को प्रलय ही कहा हो, वह शब्दों की इस देशी बिरादरी में आखिरत जैसे अरबी के शब्द को टाट भीतर कैसे समझ सकता था ?

हमारी समझ में तो यह आता है कि अपने इस ग्रंथ को उन्होंने **'आखरी कलाम'**[14] नाम दिया और बयान-ए-किताब वाले बाब में यह स्पष्ट भी कर दिया कि वे उसे यह नाम दे रहे हैं। उनकी चौपाई है —

नौ सै बरिस जौ भए
तब एहि कथा क **'आखर'** कहे

'हिज्री वर्ष ९३६ था जब मैंने इस कथा के आखर कहे'

कथा को अगर कहानी समझा जाय, यद्यपि इस मसनवी में कहानी की तरह कोई कहानी नहीं कही गई तो आखर से क्या समझा जाय ? 'आखर' संस्कृत अक्षर का देशी रूप है। हमारे यहां इस शब्द का रहस्य बहुत अथाह रहा है। इसका शाब्दिक अर्थ जैसा सब जानते हैं क्षर न हो सकनेवाला या अमिट है। इसी से 'शब्द', 'स्वर', 'नाद', 'ब्रह्म', 'शिव' एवं 'विष्णु' को भी 'आखर' कहा गया।

१३. चित्ररेखा, फोटोकापी।

१४. '-कलाम और मलफूज कलाम' सूफी शब्दावलि है। आखिरी कलाम और मलफूज कलाम एक प्रकार से एक दूसरे के पर्याय हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आकाश भी 'आखर' है। 'तपस्या' व 'मोक्ष' भी आखर हैं। गोस्वामी जी फरमाते हैं—

अनमिल आखर, अरथ न जापू
प्रकट प्रभाव महेश परतापू (बालकांड)

आखर और भेद जन्म जन्म के साथी हैं। जायसी के कलाम में भी आखर शब्द जहाँ जहाँ आया है, कहीं भी भेद से खाली नहीं।[१५] पद्मावत में जहाँ तक मेरी नजर है यह शब्द तीन ही जगह आया है—

१. तब चंदन **आखर** हिय लिखे—(१६५-३)
२. बुझहिं न ते **आखर** पर जरे—(२००-२)
३. हिए जो **आखर** तुम्ह लिखे—(२२४-६)

उपर्युक्त पंक्तियों में हर जगह आखर शब्द अति रहस्यमय है, यह बताने की आवश्यकता नहीं।

इसी प्रकार जायसी अखरावट (अखरावटी) के नामकरण का कारण बताते हुए कहते हैं कि—

कहौं सो ज्ञान ककहराछ, सब आखर मंह लेखि
पंडित पढ़ अखरावटी, टूटा जोरहिं देखि।

तुलसीदास जी ने 'अनमिल आखर' कहा था। जायसी कहते हैं कि 'आखरों के ओट (अखराओटी)' में ज्ञान की बातें कह रहा हूँ कि जानने बूझने वाले टूटी कड़ियों का जोड़कर बात पूरी कर सकें।

आखर क्या है जायसी ने इसकी भी तशरीह कर दी है :—

आखर, सुर नहिं बोल अकारा,
अकथ कथा का कहौं विचारा।

अर्थात् आखर या स्वर मुँह से आवाज निकालना नहीं, इनकी कहानी अकथनीय है। सोच सोच कर क्या कहा जाय।

जायसी अकथ कथा का भेद बताते हुए कहते हैं—

आपुहिं कागद, आपु मसि, आपुहिं लेखनहार,
आपुहिं लिखिनी, **आखर** आपुहिं पंडित अपार

१५. जायसी ग्रंथावली, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, पृ० ३४३।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थात् आपही कागज, आपही रोशनाई, आपही लिखनेवाला
आपही कलम, आपही आखर और आपही उसका अपार पंडित।

सारांश यह है कि 'वह' सब कुछ है और आखर भी। यह है आखर की महिमा। यही आखर जायसी की दोनों कृतियों का विषय है। अखरावटी में आखर की ओट से (अबजद के पर्दे में) बातें कही गई हैं और आखरी कलाम में इस ओट को हटा कर, वहाँ आखर 'हर्फ़' है—'मानी' उसमें छुपा हुआ है। यहाँ अर्थ प्रकट हुआ तो हर्फ़ ऐन-ए-मानी (निरपेक्ष अर्थ) बन गया। यह बड़ी ऊँची, बहुत ही गहरी सूफ़ी कल्पना है। रूमी फरमाते हैं :

हर्फ़ ज़र्फ़ आमद दरो-मानी चु आब
बह्र ए मानी इन्दहू उम्मुल किताब।

अर्थात् हर्फ़ वह बर्तन है जिसमें पानी पानी की तरह भरा हुआ है। वही पानी समुंदर बनकर उम्मुल किताब में है।

जायसी कहते हैं :

अलिफ़ एक, अल्लह बड़ सोई
दाल दीन दुनियाँ सब कोई
मीम महम्मद, प्रीति पियारा
तिनि आखर यह अरथ विचारा

जायसी का 'आखर' और 'अरथ' और रूमी का 'हर्फ़' और 'मानी' एक ही हैं। संस्कृत में अक्षर < आखर से वर्ण का अर्थ भी निकलता है। वर्ण, अथवा रंग, बदल सकता है। अरबी में हर्फ़ बदलती हुई हालत को भी कहते हैं[१६] और 'मानी' हकीकत को, रूहानियत को और इनके अतिरिक्त संसार की हर वस्तु को, चुनांचे 'इल्मे मानी = संसार की प्रत्येक वस्तु का ज्ञान, आलम-ए-मानी = आलम-ए-रूहानियत और सूरत-ए-बेमानी = वह सूरत जिसकी कोई हकीकत न हो।

वहदतुलवजूद के दर्शन के अनुसार 'ज़ात' और सिफ़ात के रहस्य को 'मानी' और 'हर्फ़' (अर्थ और शब्द) के इसी परस्पर संबंध को माध्यम बनाकर समझा समझाया गया है। उदाहरणार्थ :

१६. बाज़ीच ए कुफ़्र-ो दीं ब तिफ़लाँ बिस्पार
बुगज़र जे ख़ुदा हम कि ख़ुदा हम हर फ़े-स्त।
अर्थात् धर्म अधर्म की बातें बच्चों का खिलवाड़ है परम सत्य तक पहुँचना है तो खुदा के मात्र नाम से भी गुजरजा इसलिये कि खुदा भी केवल हर्फ़ है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चूँ अलिफ गर तू मुजर्रद मीशवी
अंदरीं रह मर्द-ए मुफ़रद मीशवी। (रूमी)

अर्थात् तू अलिफ जैसा बेलाग हो जा तो इस रास्ते में तेरा कोई जवाब न हो: 'अबजदनामा', 'इलाहीनामा', अताईनामा', 'मेहमूदानामा' जैसी मसनवियाँ इसी लक्ष्य को लेकर लिखी गईं। अखरावटी भी ऐसी ही एक मसनवी है:

ख खाविन्द, वो नांह है न्यारा,
सो न देख तू दसौं द्वारा।

यह शाह वजहन की बेत है—जायसी कहते हैं:

घा - घट जगत बराबर जाना।
जेहि मँह धरती सरग समाना।

इन चौपाइयों का अर्थ ही एक नहीं वर्णन शैली भी एक है और वर्णन का उद्देश्य भी वही है। यह सूफी मत की एक बड़ी महान साधना है। इसे आज भी बड़ा महत्व दिया जाता है और 'जिक्र' या 'जिक्र-ए-महमूद' कहा जाता है। अखरावटी में यही जिक्र है। 'आखरी कलाम' में इसी जिक्र का परिणाम वर्णित हुआ है। 'तरीकत' की रू से पहली रचना 'जिक्र' की मंजिल में है और दूसरी 'मुशाहिदा' (साक्षात्कार) की मंजिल में। उसमें आखरों के माध्यम से सिफात का 'ज़ात' में 'ज़म' (विलीन) हो जाना दिखाया गया,

अखरावटी में कहा गया था,

व–वह रूप न जाय बखानी।
अगम अगोचर अकथ कहानी।

और, आखरी कलाम ने सूचना दी जाती है कि:

भंजन गढ़न सँवारन, जिन खेला सब खेल
सब कँह टारि मुहम्मदे अब होइ रहा अकेल

वहाँ रूप (हुस्न) कल्पना सीमा से परे था और ज्ञानेंद्रियों से दूर। यहाँ तोड़ने, गढ़ने सवाँरने का खेल समाप्त हो चुका है: कसरत वहदत में समा गई है। अब 'वो' अकेला है:

एक चमकार होइ उजियारा,
छपे बीजु तेहि के चमकारा।

अर्थात् अब एक चमक होगी ऐसा उजाला फैलेगा कि बिजलियाँ मंद पड़ जायँगी। सारांश यह कि दोनों मसनवियाँ एक ही क्रम की हैं। एक सृष्टि से आरंभ होती है और दूसरी प्रलय में समाप्त। इन्हें एक साथ पढ़ना चाहिए और 'आखरी' साहित्य होने के नाते इसके नाम 'अखरावटी' और 'आखरी कलाम' होने चाहिएँ।

*

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पौराणिकी

एक आर्त्त, दूजे कहे, जिज्ञासू मतिमान।
तीजे अर्थार्थी मनुज, चौथे ज्ञानी जान ॥२२८॥

इनमें पहिले जे कहे, तीन भक्त यहि ठाम।
ते सब स्वारथ वश करत, हरत भजन अविराम ॥२२६॥

चौथो ज्ञानी हरि निरत, परा भक्ति जब पाय।
शुद्ध कामना तें रहित, प्रेम मगन ह्वै जाय ॥२३०॥

ब्रह्म भावना भरित चित, परम मगन मन मीत।
नहि सोचे चाहे न कछु, लहि आनंद पुनीत ॥२३१॥

सकल चराचर जीव हित, शांति निकेतन धीर।
परा भक्ति पावत परम, पावन पुलक शरीर ॥२३२॥

अंतरंग बहिरंग, ये, द्वै विध भक्ति विधान।
अंतरंग भाषी परा, जेहि देत भगवान ॥२३३॥

अपरा है बहिरंग यह, जप तप पूजन रूप।
याकें सिद्ध भयें परा, पावत भक्त अनूप ॥२३४॥

कारण अपरा है, परा, भक्ति माँहिं यह सिद्ध।
कबहूँ बिन अपरा, परा, पावत भक्त प्रसिद्ध ॥२३५॥

कहे कीर्तनादि यदपि, परा भक्ति के अंग।
तदपि अधिक रुचि वश वही, मुख्य होत लहि संग ॥२३६॥

पराभक्ति - अंतरगता मुख्य कही है भक्ति।
साँची सोई जानिये, जो साँची अनुरक्ति ॥२३७॥

श्रवण भजन कीर्तन करत, श्री हरि भक्त उदार।
प्रेम सहित स्वारथ रहित, साँचे मन रिझवार ॥२३८॥

यही कर्म निज पाप के, प्रायश्चित्त स्वरूप।
करत आर्त्त जो, सो नदी, निकट खनत है कूप ॥२३९॥

निज पापक्षय हेतु जो, कीर्तन आर्त्त कराहिं।
सो सावधि सामान्य है, निरवधि जानहु नाँहि ॥२४०॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चाहे जेतो कर्म कोउ, करै बनाइ बनाइ।
बिना भक्ति सब व्यर्थ है श्रुति यह कहति सुनाइ ॥२४१॥

भक्ति रहित जे कर्म ते, सबै व्यर्थ जग जानु।
बिना भक्ति रीझै नहीं, श्री हरि गोकुल भानु ॥२४२॥

कर्म वही जातें हरी, रीझत, व्यर्थ सु अन्य।
बिद्या सोइ लहि होत जेहि, श्री हरि राग अनन्य ॥२४३॥

याही तें जे भक्त हैं, ते सब कर्म बिहाइ।
मनसा बाचा कर्मणा, भक्ति करत सरसाइ ॥२४४॥

अंत वंत सब कर्म लखि, यातें तिन सब छोरि।
अंत-समय-संबल समुझि, करु हरि भक्ति अथोरि ॥२४५॥

अति लघु भक्ति हु करति है, पाप शैल को नाश।
अंधकार नहिं रहि सकै, दिनकर भये प्रकाश ॥२४६॥

भक्तन कों नहिं नाश यह, करी प्रतिज्ञा आप।
यातें हित करि कीजिये, परम यज्ञ जो जाप ॥२४७॥

भगवत-शरण कहे कबहुँ, रहि न सकत कछु पाप।
पड़े ओखली धान की, भूसी बिलगति आप ॥२४८॥

सब मनुजन कों सम अहै, भक्तियोग-अधिकार।
ऊँच नीच सब एक हैं, श्री हरि के दरबार ॥२४९॥

द्विज तें लै, चंडाल लौं, सबै वर्ण सब जाति।
भक्ति भाव करि सकत सब, स्वरुचि कुपाति सुपाति ॥२५०॥

मनुज योनि तें इतरहूँ, बानर गीध गजादि।
भक्ति योग करि चित चही, पाई सिद्‌ध अनादि ॥२५१॥

देव दनुज मनुजादि सब, केवल भक्ति दृढ़ाइ।
भये सिद्ध अरु होइहैं, अमृत मधुर फल पाइ ॥२५२॥

परा भक्ति में जो नहीं, पगे सोऊ हरि धाम।
पावत नाते भक्त के, कामी कुटिल निकाम ॥२५३॥

बहु जन्मन के अंत जो, ज्ञानी तरत सुजान।
सो ज्ञानी की है कथा, कही याहि भगवान ॥२५४॥

सिद्धि पाइ बहु जन्म की, लहत परम गति जोइ।
सोई ज्ञानी जानिये, ताहि कों यह होइ ॥२५५॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ज्ञानी कर्मी बहु जनम, धारण करत तराहिं।
जनम मरण दुख साँचहूँ, भक्त सहत कहुँ नाहिं ।।२५६।।

अपराहू यदि भागते, मिलै भक्ति कहुँ मीत ।
जनम मरण दुख दूर करि, भक्तन करत अभीत ।।२५७।।

पुनि का कथा बखानिये, परा भक्ति जो होय।
बिन हरि कृपा कहा कहो, या कों पावत कोय ।।२५८।।

होत नाश नहिं भक्त कों, यह कह रमा निवास।
जो चाहो भव तरन तो, करौ सुजन विश्वास ।।२५९।।

विप्र छत्र बिश शूद्र अरु, नारी लौं चंडाल।
शरणागत ही तरत हैं, करुणा पाइ विशाल ।।२६०।।

निज निज कर्म करे तरैं, अहंकार तें हीन।
श्री हरि भक्ति प्रताप तें, भव बंधन करि छीन ।।२६१।।

बार बार बहु लोक में, भ्रमत रहत यह जीव।
अहंकार वश सहत है, सुख दुख सहज अतीव ।।२६२।।

अहंकार के छुटत ही, करि निज कर्म रहेत।
भक्ति भाव वश लहत है, प्राणी ईश निकेत ।।२६३।।

योग याग जप तप नियम, संयम व्रत उपवास।
विना भक्ति सब धूर है, ज्ञान-दान की रास ।।२६४।।

कहा कर्म करि कीजिये, जो बंधन को मूल।
वही कामना रहित तो, मेटत भव-भय शूल ।।२६५।।

यातें हरि हित कर्म करि, सांची भक्ति समेत।
भवबंधन ते छूटि नर, पावत दिव्य निकेत ।।२६६।।

सब कर्मन कों त्यागि कै, सिद्धि लहत जे भक्त।
सद्योगति पावत मनुज, श्री हरि चरणासक्त ।।२६७।।

दुराचार हू भक्त है, जग में पूजन जोग।
श्री हरि भक्ति प्रताप तें, तजत जगत के रोग ।।२६८।।

का समता हरि भक्त की, कोउ करि सकत सुजान।
को वा सम या जगत में, जाके वश भगवान ।।२६९।।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सब जाके आधीन सो, प्रभू भक्त-आधीन।
साँचे मन के मेल तें, लेहु अमृत फल बीन ॥२७०॥

आर्त्त जीव की भक्ति है, जौ लौं कष्ट न जाय।
या भक्ती मैं सुख कहाँ, जो नहिं सहज लखाय ॥२७१॥

या ही विधि जो पातकी, पाप नशावन हेत।
भजत भूरि भगवान कौं, सोऊ कछु फल लेत ॥२७२॥

महा पातकीहूँ बिषैं, सहज भक्ति यदि होय।
पहुँचाहूँ हरि धाम चट, सब पापन कौं खोय ॥२७३॥

होय अचल एकान्त जो, भाव राग मैं मीत।
परा भक्ति सोई सुखद, हरि पद देत पुनीत ॥२७४॥

नेकहुँ होति प्रवृत्ति जो, श्रीहरिचरणन ओर।
ताकौं चित वृति आपुहीं, परा भक्ति हग कोर ॥२७५॥

ईश सच्चिदानंदमय, सृजनेच्छा जब कीन।
तब सदंश तें आपु प्रभु, जड़ प्रपंच रचि लीन ॥२७६॥

त्यों चिदंश ते प्रगट किय, प्रभु चैतन्य प्रपंच।
यातें सत्यहिं जानिये, जगत न मिथ्या रंच ॥२७७॥

है वियोग आनंद तें, अमित काल तें मीत।
ताहि मिलावन जीव कौं, भक्ति हि एक पुनीत ॥२७८॥

है चिदंश जो जीव सो, मिलै जाइ जब धाइ।
ईश रूप आनंद तें, तब बंधन छुटि जाइ ॥२७९॥

श्रीहरि श्रीहरि जन दया, पाइ जबै यह जीव।
आनँद रूप वियोग को, अनुभव करत अतीव ॥२८०॥

यह वियोग को स्मरण ही, जानहुँ एक निदान।
याकैं होतैंहिं देत हैं, आनँद श्रीभगवान ॥२८१॥

वा आनंदानुभव को, को करि सकै बखान।
ज्यौं गूंगो गुड़ खाइ कै, का कहि सकै सुजान ॥२८२॥

सत चित आनँद रूप यह, जगत जीव औ ब्रह्म।
हैं कहिं त्रयरूप यह, सत्य सत्य सब ब्रह्म ॥२८३॥

वही जगत है, जीव वहि, वही ब्रह्म पहिचानु।
वही एकही रूप तें, हैं त्रिरूप सच जानु ॥२८४॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह चेतन आनंद तें, है वियुक्त अति काल।
पावे यदि यह वाहि तौ, छिन महँ होय निहाल ॥२८५॥

या वियोग की सुधि जबै, चेतन करत विचारि।
तबै दयानिधि देत हैं, माया को पट टारि ॥२८६॥

बुद्धि योग कों पाइ तब, यह चेतन मन लाइ।
होइ जात कृत कृत्य चट, अभिमत प्रभुघर पाइ ॥२८७॥

सत सह चित आनंद लहि, होत जबै स्वच्छंद।
तबै सांच होइ जात है, सुभग सच्चिदानंद ॥२८८॥

एक सच्चिदानंद तें, सत चित जब बिलगाय।
तबै चराचर विश्व यह, माया लसित दिखाय ॥२८९॥

माया परिहरि सत समुझि, चित जब आनँद चाहु।
तब तेहि लहि तरि जात यह, चट भव सिंधु अथाहु। २९०॥

यातें आनँद लहन कों, कीजे सहज उपाय।
जातें माया जनित यह, भव बंधन मिटि जाय ॥ ९ ॥

भूलि रह्यौ अतिकाल तें, आनंदहिं यह जीव।
याही तें भव भ्रमत नित, सहत कलेश अतीव ॥२९२॥

सुधिकरि वा आनंद लहि, जब यह जीव जुड़ाय।
तबै मुक्त है बँधतें, अविचल सुख सब पाय ॥२९३॥

या कारन मन लाइकै, भजहु सच्चिदानंद।
मुक्ति मिलै मन भावनी, छुटैं सबै दुख द्वंद ॥२९४॥

सबै मनोरथ होत हैं, पूरन लहि आनंद।
सब बंधन तें मुक्त है, जीव होत स्वच्छंद ॥२९५॥

जौ लौं छूटै नाहिं यह, कर्मफलन को संग।
तौ लौं मुक्ति मिलै नहीं, करत रहौ जड़ जंग ॥२९६॥

नहिं स्वतंत्र कोउ वस्तु है, माया यह जिय जानु।
अहै ईश की शक्ति वह, विमल बुद्धि पहिचानु ॥२९७॥

है जु सहज चैतन्यता, शून्य ईश की शक्ति।
अन्य चिदंश समान यह, माया जानहुँ रक्ति ॥२९८॥

प्रथक नहीं यह ईश तें, जड़हु नाहिं चैतन्य।
इच्छाधीन करै सदा, कर्मस्वरूप अनन्य ॥२९९।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यही योगमाया महा, अखिल विश्व को कृत्य।
हरि इच्छा आधीन है, करति रहति है नित्य ॥३००।

जब याके बहु फंद तें, छुटै जीव बड़ भाग।
तबहीं आवागमन तें, रहित होत रस पाग ॥३०१॥

वह रस श्री हरिभक्ति है, परम प्रेम अनुरक्ति।
करुणाकर करुणा बिमल, मुक्ति करन धृति शक्ति ॥३०२॥

झुठहुँ टेरें साँचही, सुमुख होत भगवान।
करुणाकर बितरत तुरत, निज पद प्रेम महान ॥३०३॥

वही प्रेम हरि भक्ति है, ईश चरण अनुरक्ति।
जातें या संसार तें, उपजे चित्त बिरक्ति ॥३०४॥
जबै होय अनुरक्ति औ, हरि चरनन में मीत।
तबै जीव भव भय विरत, लेत मुक्ति पद जीत ॥३०५॥

यह सत चित आनंद को, मेल सच्चिदानंद।
वितरत आपुहि करि दया, काटन कों भव फंद ॥३०६॥

व्यापक है यदि सत्य तो, अहै व्याप्यहु सत्य।
है ईश्वर यदि नित्य तो, कैसे जगत अनित्य ॥३०७॥

है सदंश में व्याप्त यह, लखु चिदंश सुनु मीत।
त्यों चिदंश में व्याप्त है, आनंदांश पुनीत ॥३०८॥
भाव व्याप्य व्यापक यही, समुझावत सच बात।
व्याप्य अहै संसार औ, व्यापक ईश्वर, तात, ॥३०९॥

स्वाभाविक या जीव कृत, यह जग नाहिं सुजान।
कर्ता एक बखानिये, सर्व शक्ति भगवान ॥३१०॥

नाहिं अंत ब्रह्माण्ड को, नेक विचारहु मीत।
स्वाभाविक कैसे कहैं, जो है बुद्धि अतीत ॥३११॥

को ऐसो प्राणी अहै, जो सिरजत जग भ्रात।
काकी ऐसी बुद्धि है, को बलवान दिखात ॥३१२॥

जा जग के बिस्तार लखि, कुंठित बुद्धि लखाति।
ताको सिरजनहार कोउ, अलख अगोचर जानि ॥३१३॥

मानबानी ते जो परे, बुद्धिगम्य जो देव।
सोई या संसार को, सिरजत, जानत भेव ॥३१४॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वेद नेति जेहि कहत है, पुनि उपनिषद बखान ।
सोई या संसार को, सृजत आपु भगवान ॥३१५॥

जैसे पुत्रन को पिता, शिक्षा देत सहेत ।
तैसे रचि नर वेद कह, आपुहिं रमानिकेत ॥३१६॥

तापर मुनि मानस प्रगट, उपनिषद अनेक ।
ज्ञान सिंध जातें प्रगट, माया-ब्रह्म विवेक ॥३१७॥

इन सबकों मथि तत्व कह, गीता में भगवान ।
यही सनातन धर्म है, और नहीं कछु आन ॥३१८॥

गीता गीतहिं गाइये, अन्य शास्त्र तजि मीत ।
यातें है जग अधिक को, सुंदर शास्त्र पुनीत ॥३१९॥

ईश्वर कृत नहिं वेद यह नास्तिक वचन सुजान ।
नहिं हिंसा है वैदिकी, है यह शास्त्र प्रमान ॥३२०॥
यदि हिंसहु है तदपि सो थोरी ही जान ।
अग्निष्टोमादिक विषैं, सोऊ तजहु सुजान ॥३२१॥

हिंसामूलक यज्ञ सब, तजि भजिये भगवान ।
सार धर्म श्रुति मूल यह कृत उपनिषद विधान ॥३२२॥

ज्ञान कर्म ते मोड़ि मुख, करिय उपासन ईस ।
सबै छुटै भव फंद यह, काज होय इक्कीस ॥३२३॥*
भक्ति भाव भगवान में, भूलेहूँ है जाय ।
जन्म जन्म के पाप तजि तुरतहिं जन तरि जायि ॥३२७॥

जो चाहै भव तरन तौ, हरिहिं भजहु मन लाइ ।
नसै कर्मफल भोग अरु, मुक्ति मिले सुखदाइ ॥३२८॥

भक्ति भाव को सहज सुख, बरनि सकै को मीत ।
याकें पायें मिलत प्रभु, श्रीहरि त्रिगुणातीत ॥३२९॥

ऐसी भक्ति सराहिये, जो बिन कारन होय ।
प्रेम करै, चाहै न कछु, ऐसो नर कहूँ कोय ॥३३०॥

* पांडुलिपि में ३२३ दोहे के बाद दूसरी कापी का एक पृष्ठ फट गया है जिससे ३२३ के बाद क्रमशः ३२४, ३२५, ३२६ संख्यक दोहे नहीं हैं। —संपादक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर्म आपु फल देत है, यह जनि कहहु सुजान ।
कर्म कहा फल देइगो, फल दाता भगवान ॥३३१॥

जैसो कर्म करौ लहौ, तैसो फल यह सांच ।
होत एक कौ सौ गुनो, यहू बात नहिं कांच ॥३३२॥

होत सौगुनो खेत में, रोप्यौ नाज सुजान ।
यही कर्म फल की दशा, होत सुनहु दै कान ॥३३३॥

पै यह है संकल्प में, जहां अंहकृत होय ।
कियें समर्पण नेकहू, फल नहि पावत कोय ॥३३४॥

ऐसें जब ह्वै जात है, सकल कर्म फल नाश ।
तबै होत है मुक्त यह, जीव छोड़ि भव पाश ॥३३५॥

जैसे नृप संतोष हित, करहु कर्म मन लाइ ।
पै वाके फल देन की, नृप इच्छा है भाइ ॥३३६॥

कहूं बुरो करते मिले, रीझ अनोखी आप ।
कहूं भलो करते मिले, खीझ भरी संताप ॥३३७॥

कहूं किये हू न मिलै, कछु यहू बहु दोस ।
कहूं बिनाही कर्म के, किये मिलै बकसीस ॥३३८॥

सदा कर्म फल है लखौ, राजा के आधीन ।
किये देत औ न कियें, देत, न देत प्रवीन ॥३३९॥

ऐसें ही भगवान हूं, सदा कर्म फल देत ।
करौ कर्म, कै ना करौ, भजौ सदैव सहेत ॥३४०॥

श्री हरि को संतोष नहिं, कबहुँ कर्म आधीन ।
साधक हैं संतोष मैं, कर्म न कछु स्वाधीन ॥३४१॥

यातें करि सब कर्म तुम, करौ समर्पण मीत ।
तब आपुहिं हरि रीझि कै, दै हैं सुगति पुनीत ॥३४२॥

भोग करन कों कर्मफल, जब नहिं रहै सुजान ।
तबै करत हैं मुक्त या, जीवहिं श्रीभगवान ॥३४३॥

कठिन कर्म को फंद है, सहजहिं छुटत न मीत ।
याको साधन अति कठिन, अरु अति सहज पुनीत ॥३४४॥

साधन सहज बखानिये, करौ समर्पण भ्रात ।
याही मैं सब जानिये, मुक्त होन कुशलात ॥३४५॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निज इच्छा तें देत जिमि, पुरस्कार नृप वृन्द।
तिमि फलदाता जानिये, जीवन हित गोविंद ॥३४६॥

अद्भुत दैन बड़ेन की, को करि सकै बखान।
बिन जाँचें ही देत हैं, राजा अरु भगवान ॥३४७॥

लाख लाख बिनती करौ, सुनैं बड़े नहिं एक।
जौ चुप्पी साधे रहौ, तौ बरु मिलै अनेक ॥३४८॥

माँगे तें जब ना मिले, तब चुप रहै मिलै न।
ऐसो मन महं ना गुनौ, अजब बड़े की देन ॥३४९॥

सौ की सीधी बात हम, जानत यही सुजान।
टेर दीन जन की सदा, सुनत रहत भगवान ॥३५०॥

जो हरि सौं लागो रहै, ताकों तजत न ईस।
चाहै जो, तेहि देत हैं चित चाही बकसीस ॥३५१॥

सेवा को फल सुजन जन, देत सहित बकसीस ॥
मनुज मजूरी देत जब, क्यों न देइहैं ईस ॥३५२॥

कोऊ कृपण लबार शठ, दुष्ट अधम कुविचार।
काम कराइ रिसाइ धरि, मारत देत निसार ॥३५३॥

यह है असुरन की रीति है, है ससुरन की नीति।
ऐसे अधमन पै कबौं, कोउ नहिं करत प्रतीति ॥३५४॥

पै सज्जन जन एक को, देत अनेक अघाइ।
काम कराइ कृतज्ञता, कबहुँ न देत भुलाइ ॥३५५॥

यह है प्राकृत जन कथा, देखहु नैन पसार।
यहाँ होत कुविचार कहुँ, कतहुँ होत सुविचार ॥३५६॥

पै जो अप्राकृत परम, करुणाकर भगवान।
वह निज जन कौं कबहुँ नहिं, भूलत कृपानिधान ॥३५७॥

यातें मन तें बैन तें, काया तें निशियाम।
भजत रहौ भगवान कौं, छोड़ि सबै जग काम ॥३५८॥

भक्ति भाव के भेद तजि, जैसें हूँ बनि जाय।
भजन करहु भगवान कौं, मान सहित मन लाय ॥३५९॥

जा क्रम तें उत्पत्ति है, जानहु समुझि सुजान।
तातें उलटो क्रम अहै, लय को यहै प्रमान ॥३६०॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रहत समानी एक में, जैसे डिबिया मीत।
वैसे सब जग ब्रह्म में सदा बसत यह रीत ॥३६१॥

जा क्रम तें डिबिया सबै, बिलग होति हैं जाय।
ताके उलटे क्रम लखौ, वह सब जाहिं समाय ॥३६२॥

ऐसें ही जो ब्रह्म तें, प्रकृति महत्तत्त्वादि।
जा क्रम तें ये होत ता, उलटे क्रमहिं समाति ॥३६३॥

सत तें सत ही होत औ, सत में सतहि समात।
यातें या संसार कौं, समुझहु सत्यहि तात ॥३६४॥

ज्ञान सत्य जब होत है, तबहीं उपजे प्रीति।
यही भक्ति को मार्ग है, यही सनातन रीति ॥३६५॥

है नानात्व उपाधि कृत, निरुपाधिक वह एक।
द्वैताद्वैत विचार को, है यह सत्य विवेक ॥३६६॥

रवि-मंडल-गत ध्याइए, श्री नारायण रूप।
रवि मंडल औ श्री हरी ह्याँ द्वै रूप अनूप ॥३६७॥

हैं वास्तव में पृथक नहिं, ये द्वै रूप सुजान।
मंडल को अपनाइ के, एक रहत भगवान ॥३६८॥

मंडल को लय होत जब, श्रीहरि में सुनु तात।
एक मात्र तब श्री हरी, एकहिं एक दिखात ॥३६९॥

याही विधि संसार को लय करि अपने माँहि।
तब केवल भगवान हीं एकहिं एक लखाहिं ॥३७०॥

भिन्न न कोउ भगवान तें, वस्तु विशेष दिखात।
जैसें पहिले हम कही, हरि अरु रवि की बात ॥३७१॥

रवि तें भिन्न दिखात पै, भिन्न न अहै प्रकाश।
एसें माया जीव अरु ब्रह्म न भिन्न विकास। ३७२॥

एक है बहु रूप अरु बहु रुपहु है एक।
प्रकृति पुरुष अरु ईश को, भिन्नाभिन्न विवेक ॥३७३॥

'वासुदेव है सब' यही, कही सही भगवान।
देखहु गीता खोलिकै, जो तुम हौ मतिमान ॥३७४॥

पृथक् करण में होइगो, असंबंध अनिवार।
द्वैत भाव को होइगो, तब पूरो संचार ॥३७५॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं द्वैत को ठौर ह्याँ अद्वैतहुँ को नाहिं।
द्वैताद्वैत विधान तें, समुझहु तत्त्व सदाहिं ॥३७६॥

वही एक ही होत बहु, बहुतें पुनि ह्वै एक।
त्रिविध ब्रह्म की एकता, भिन्नाभिन्न विवेक ॥३७७॥

आत्मा अविकारी अहै, ज्यों अविकारी ईस।
अविकारी तें जो भयो, ह्याँ विकार कहँ दीस ॥३७८॥

सत तें असत न होत कहुं, असत असत तें होय।
जो सत ब्रह्म बखानिए, तो जग असत न होय ॥३७९॥

यह सब माया ब्रह्म की, कौतुक करति अनंत।
जामें भ्रमबस जीव फँसि, भव भय भरित भ्रमंत ॥३८०॥

जब आवै हरि शरण में, माया तबै पलाति।
छुटै(टै?)तुरन भव फंद अरु,सुगति होय सब भाँति ॥३८१॥

शरणागत वत्सल सुमुख, सदा सदय भगवान।
नाहिं बिसारत निज जनहिं, कबहूं कृपानिधान ॥३८२॥

जग हरि के आधीन है, हरि हैं भक्ताधीन।
भक्त वश्यता वे लखैं, जे जन परम प्रबीन ॥३८३॥

है आनन्द न सुलभ जग, देखहु नैन पसार।
तौ जन परमानन्द कब, पावत सहज अपार ॥३८४॥

कृपा करैं आनन्दमय, जबहीं मोहन लाल।
तबहीं निज जन होत हैं, जग सब भांति निहाल ॥३८५॥

श्री श्री परमानन्द मय श्री हरि में अति धन्य।
करत करत अभ्यास के, उपजति भक्ति अनन्य ॥३८६॥

होत जबै परिपक्व वह, अविचल अचल समान।
तबै होत तद् बुद्धि शुभ, भृंगी कीट समान ॥३८७॥

पुनि वा बुद्धिहु को जबै, शुभ लय होत पुनीत।
तबै परात्म वियोग कृत, दुःख होत अपनीत ॥३८८॥

तब सब सुधि बुधि खोइ कै, सकल वासना धोइ।
परमानन्द समाधि मैं, मग्न होत रस मोइ ॥३८९॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुनि वह भक्त शिरोमणी, भक्ति विभव सुख पाइ।
श्री हरि लीला परिकरन, मध्य मिलत है जाइ ॥३९०॥

यही परम गति है, यही, मोक्ष महान कहात।
यही जन्म साफल्य है, यही कुशल कुशलात ॥३९१॥

याके बिन नहिं और कछु, सकल विश्व मैं सार।
याहि देत निज जनहिं हरि, करुणासिंधु उदार ॥३९२॥

मानुष तन लहि कीजिए, श्रीहरि भजन सहेत।
आवागमन मिटाइ हरि, निज शरणागति देत ॥३९३॥

जो चाहै भव तरन तो, हरि शरणागत होहु।
महापतित जो जगत मैं, हरिपद पावै वोहु ॥३९४॥

जो सुख श्री हरि भजन मैं, सो सुरपुर हू नाहिं।
संकट आवागमन कौ, छिनक माहिं नस जाहिं ॥३९५॥

श्रुति मूलक सिद्धान्त यह, हरि पग मैं अनुराग।
जो या रस मैं पगि रहे, सो साँचे बड़ भाग ॥३९६॥

पहिरि भक्ति भूषण विमल, भक्त शिरोमणि जीव।
परमानन्द सुधा सुरस, चाखत सहित अतीव ॥३९७॥

भक्ति विभव भगवान को, पावत भक्त अनन्य।
छूटत भव भय त्रास तें, कोटिन मैं कोउ धन्य ॥३९८॥

चौरासी लख योनि महं, भ्रमत भ्रमत यह जीव।
हरि शरणागत होत जब, तब सुख लहत अतीव ॥३९९॥

भक्ति बड़ी, कै भक्त यह, जानत श्री भगवान।
भक्ति-भक्त के साम्यय, जानत कौन निदान ॥४००॥

एक भक्ति-भावुक भलो, भक्त भाव-भंडार।
सुखदुख सम समुझत तरत, सहज सुजन संसार ॥४०१॥

संचित अरु प्रारब्ध कौ, भोग किए बिन मीत।
होत लाभ आनंद किमि जीवहिं परम पुनीत ॥४०२॥

प्रारब्धादिक भोग नित, भोगत दुर्भग जीव।
इनतैं मुक्त सदा रहैं, श्री हरि भक्त अतीव ॥४०३॥

संचित आदिक कर्म सब, छिन महँ आपु नसात।
सुमिरत श्री भगवान कैं, हरि भक्तन कैं तात ॥४०४॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

छिन छिन बीतत कल्प सम, हरि वियोग महँ जासु।
संचित अरु प्रारब्ध तहँ, टिकैं कौन विधि तासु। ४०५॥

अमित कल्प सम होत जेहि, छिन हरि विरह विचारि।
ते संचित प्रारब्ध कौं, देत छिनहिं महँ जारि ।४०६।
सुमिरत श्री हरि को सुखद, लीला संगम भक्त।
कोटि कल्प कृत स्वर्ग सुख, छिनहिं लहत अनुरक्त ॥४०७॥

या विधि भक्तन के सदा, भस्म होत तत्काल।
संचित अरु प्रारब्ध के, भोग असंख्य कराल ।४०८।
हरि वियोग संयोग के, अनुभव तें छिन मांहिं।
सकल कर्म बंधन अमिट, आपुहिं जरि जरि जाहिं ॥४०९॥

यातें भजिए सहित हित, करुणाकर भगवान।
यही परम गति जीव की, यही सुमुक्ति निदान ॥४१०॥
मन-मन्दिर पधराइले, श्री हरि चरन सरोज।
बंध मोक्ष की नेकहूँ, जनि करिये कछु खोज।४११॥

होत जबै रति ईश मैं, अचल अमल अनकाम।
तबै बिरति अति होत है, जग मैं सुमुक्ति निकाम ॥४१२॥
यहै भक्ति भगवान की, जहां कामना नाहिं।
सबै काम पूरन करत, आपुहिं हरि छिन मांहिं ॥४१३॥

जग कारण भगवान मैं, है जु अभक्ति सुजान।
हेतु सोई संसार की, जानहुँ, नहिं अज्ञान ॥४१४।
जगत हेतु भगवान मैं जो अभक्ति सोइ तात।
कारण बंधन को अहै, सांची है यह बात ॥४१५॥

बंध-मोक्ष-दाता हरिहिं, अधम भूलिगो जोइ।
जन्म मरण के फेर मैं, भ्रमो करत है सोइ ॥४१६॥
श्री हरि मुक्ति निदान कौं, भूलि रह्यौ जो जीव।
मोक्ष, कहौ सो, किमि लहै, बंधन ग्रसित अतीव ४१७॥

बंध मोक्ष स्वामी अहो, जातें रूठो मीत।
अधम जीव, सो, किमि लहै मुक्ति पियूष पुनीत ॥४१८॥

यातें सब तजि हरि भजहु, जो चाहहु कल्यान।
काटि सकै हरि बिन नहीं, भव बंधन कोउ आन ॥४१९॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

खीझि देत भव बंध हरि, रीझि देत तेहि काट।
यातैं भजि भगवान कौं, खोलहु मुक्ति-कपाट ॥४२०॥

मानव बुद्धि विवेक तें, भली भांति यह जान।
कैसें करुणा करि छिनहिं, मुक्ति देत भगवान ॥४२१॥

भली भांति जानी परे, जानन चह जो कोय।
आप्त वचन, अनुमान, अरु, अद, देत भ्रम खोय ॥४२२॥

यही नेत्र हैं जीव के, तीन महेश समान।
इनतें जो देखें तिनहिं, दीख परैं भगवान ॥४२३॥

इन तीनन तें होत है, सत्यासत्य विवेक।
मिटैं भेद के भाव सब, शेष रहे सोइ एक ॥४२४॥

नर तन पायें कों यही, परम लाभ जिय जान।
साँचे मन के मीत हरि, भजहु सहेत सुजान ॥४२५॥

ऐसे स्वामी पाइ मन, क्यों डोलत भरमाइ।
जो टेरै हरि हेतु करि, ताको भव भय जाइ ॥४२६॥

अविकारी भावन विषैं, होत प्रतीत विकार।
यह संयोग क्रिया फलक, लीजै सुजन विचार ॥४२७॥

ज्ञान भयें हरि रूप कें लहै भक्ति नर चारु।
तब निश्चय भगवान तेहिंविभ' तें देत उबारु ॥४२८॥

अविकारी के शरण में, अविकारी जब जाय।
तब वह परमानंद सुख, पाइ अतिहिं हरषाय ॥४२९॥

वर्णन श्रीहरि भक्ति कौं, करत सहेत सुजान।
परम प्रेम रूपा सोई, श्रीहरि में पहिचान ॥४३०॥

अमृत रूपिणी ताहि लहि, अमृत सिद्ध नर होइ।
श्रीहरि चरण सरोज रस, चखत तृप्त है सोई ॥४३१॥

जेहि लहि पुनि कछु ना चहत, सोच न द्वेष न राग।
रमत न उत्साही विषऽरु भोग मांहिं बड़भाग ॥४३२॥

होत मत्त जेहि लहि मनुज, स्तब्ध अनवरतकाल।
आत्माराम अकाम मुद, मानस निपट निहाल ॥४३३॥

नाहिं कामना के लियें, भक्ति कही सुनु मीत।
है निरोध रूपा सुखद, सुंदर परम पुनीत ॥४३४॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विमर्श

राजस्थानी विश्वविद्यालयों के शोधप्रबंधों के संदर्भ में

प्रतापरासो—एक अवलोकन

प्रतापरासो कछवाहों के नरूका वंश के अलवर राज्य के संस्थापक महाराज प्रतापसिंह के जीवन तथा युद्धाभियानों पर आधारित ऐतिहासिक काव्य कृति है। ग्रंथकार जीवण जाचिक ने जिस प्रकार घटनाओं का उल्लेख किया है उससे प्रमाणित होता है कि यह ग्रंथ चरित्र नायक की समकालिक रचना है। विवेच्य ग्रंथ का संपादन डा० मोतीलाल गुप्त ने किया है तथा प्रकाशन राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर से हुआ है। डा० गुप्त ने अपनी संपादकीय प्रस्तावना में यह संकेत नहीं दिया है कि यह ग्रंथ उनकी डी० लिट् की उपाधि हेतु संपादित शोध-प्रबंध है, किंतु जोधपुर विश्वविद्यालय से इस ग्रंथ पर वे डी० लिट् की उपाधि प्राप्त कर चुके हैं।

डा० गुप्त ने अपनी १७६ पृष्ठों की विस्तृत संपादकीय प्रस्तावना में ग्रंथ की ऐतिहासिक प्रामाणिकता, उसका महत्व और भाषाशास्त्रीय विश्लेषण प्रस्तुत किया है। प्रस्तावना को हल्दिया परिवार, प्रतापरासो के अध्ययन का आधार, प्रतापरासो का वस्तु - विषय - विवेचन, कवि - परिचय, ऐतिहासिक विवेचन और प्रतापरासो की भाषा प्रभृति उपशीर्षकों में विभाजित कर महत्वपूर्ण विवेचन किया है। तदनंतर ९३ पृष्ठों में ग्रंथ का मूल पाठ संपादित रूप में प्रस्तुत किया है। अंत में दो परिशिष्टों के रूप में कवि खुसाल कृत प्रतापरासो (लछिमनगढ़ रासो) और ग्रंथ में आए हुए व्यक्ति नामों की शब्दानुक्रमणिका संमिलित की है। कहीं कहीं ग्रंथ में प्रयुक्त कठिन शब्दों के अर्थ और संक्षिप्त ऐतिहासिक प्रसंगों के स्पष्टीकरण के लिये पाद टिप्पणियाँ भी दी हैं। वैसे ग्रंथ की भाषा दुरूह नहीं है। ग्रंथ लेखक ब्रजभाषा क्षेत्र का विद्वान् था। किंतु रासो परंपरा का ग्रंथ लिखने की उसकी अभिलाषा ने ब्रजभाषा के इस ग्रंथ में बीस प्रतिशत शब्द राजस्थानी के व्यवहार में लिए हैं, जिनके अर्थ, राजस्थान के स्थानों की भौगोलिक जानकारी, ऐतिहासिक पात्रों का संक्षिप्त परिचय और घटनाओं पर आवश्यक टिप्पण दिए जाते तो ग्रंथ की उपयोगिता भाषा विवेचन तक ही सीमित न रह जाती। विद्वान संपादक अपनी प्रस्तावना की भारी-भरकमता के व्यामोह में इस ओर ध्यान नहीं दे पाए हैं, फलस्वरूप राजस्थानी भाषा, यहाँ की मध्यकालीन परंपराओं, सैनिक अभियानों, सांस्कृतिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मर्यादाओं और राजसी रीतिरिवाजों से अपरिचित अन्य क्षेत्रों के विद्वानों के लिये ग्रंथ को समझना श्रमसाध्य बन गया है ।

डा० गुप्त वर्षों से राजस्थान के निवासी हैं और यहाँ के शिक्षा-क्षेत्र के संमान्य विद्वान् माने जाते हैं । उनके द्वारा संपादित तथा शोध प्रबंध के रूप में प्रस्तुत ग्रंथ में ऐसी भ्रांतियाँ जिनकी कल्पना नहीं की जा सकती, एक विचारणीय विषय है। यहाँ सहज दृष्टिगोचर होनेवाली कुछ भूलों की ओर विचार किया जा रहा है ।

डा० साहब ने ग्रंथ को भाषाशास्त्रीय निकष पर परखने का प्रयत्न किया है। भाषाशास्त्र की दृष्टि से ग्रंथ का पाठ निर्णय महत्वपूर्ण अंग माना जाता है। पाठ-निर्णय में शब्दों का विच्छेद और संयोजन भली प्रकार अर्थों के समझने से संभव हो पाता है । विवेच्य दृष्टि से पद-विच्छेद और पद-संयोजक दोनों ही प्रकार की त्रुटियाँ पर्याप्त संख्या में उपलब्ध हैं । पहले यहाँ पद-विच्छेद की असंगतियों के दो चार उदाहरण प्रस्तुत किए जा रहे हैं --

१--संपादक का पाठ--

अैनि बोलि मुख बैन आप समीर सु नायब ।
कर नर टक नृप कटक धाय सूधे धकि आयब ।

पृ० २५ छं० १२८ ।

शुद्ध पाठ--

अैनि बोलि मुख बैन आप समीर सुनायब ।
करन रटक नृप कटक धाय सूधे धकि आयब ।।

यहाँ उपर्युक्त दोनों पंक्तियों में समीर सुनायक और कर नर टक पाठ अर्थ तथा छंद की दृष्टि से भ्रष्ट है । कवि का दोनों पंक्तियों 'सब उमरावों को सुनाने' और 'नृप की सेना से टक्कर' लेने से प्रयोजन है ।

२--

छर छर होय छड़ा लस पार ।
जर जर जोय बहै खग धार ।।

पृ० २६ छं० १३१ ।

प्रस्तावित पाठ में छड़ा लस शब्द कोई अर्थ नहीं देता । यहाँ कवि का अभिप्राय भालों के अंग छेद कर पार निकल जाने से है ।

राजस्थानी में छड़ाल शब्द भाले के लिये व्यवहृत होता है । इसलिये पाठ होना चाहिए--

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

छर-छर होय छड़ाल सपार।
जर-जर जोय बहै खग धार॥

३—इसी पृष्ठ पर आगे की पंक्तियाँ देखिए—

झर-झर श्रोन बहैत सुरंग।
नर-नर रूप चढ़्यो नर अंग॥

उपर्युक्त पंक्तियों में बहैत सुरंग छंदविधान की दृष्टि से तो ठीक है किंतु अर्थ-विचार की दृष्टि से गलत है। हमारे विचार से यहाँ यह पाठ होना चाहिए—

झर-झर श्रोन बहै तसु रंग।
नर नर रूप चढ़्यो नर अंग॥

बहै तसु रंग से कवि का भाव रक्त के रंग की भाँति बहने से है।

४-अमावती सम राजगढ़, नृप सो पातिल राव।
जवर जानि राज रु दिये, हत नद गा के दाव॥ पृ० ३२ छंद १६०॥

चिह्नित पंक्ति की पाद टिप्पणी में संपादक ने लिखा है—अर्थ स्पष्ट नहीं है। हतनद गाँव केदाव से दो गाँवों का अर्थ निकल सकता है। किंतु इन गाँवों का पता नहीं लगता। इस टिप्पणी से स्पष्ट है कि उल्लिखित त्रुटियाँ प्रेस, प्रूफ अथवा असावधानी से नहीं हुई है। स्पष्टतः यह शब्द-विच्छेद सही रूप में न कर पाने के कारण हुई है। हतनद गाँव और केदाव से कवि का संकेत किन्हीं गांवों की ओर नहीं है अपितु हतन दगा के दाव का अर्थ है छलाघात के द्वारा मारने से। इसलिये सही पाठ होना चाहिए—

अमावती सम राजगढ़, नृप सो पातिल राव।
जवर जानि राजरु दिये, हतन दगा के दाव॥

५—कर देख वैरावक सेक करी॥ पृ० ८३ छं० ४०४॥

यहां चिह्नित शब्दों का कोई भी प्रसंगानुकूल अर्थ स्पष्ट नहीं होता। वस्तुतः पाठ होना चाहिए—

कर देखवे राव कसेक करी। अर्थात देखिए राव ने कैसी की है।

६-जग बात जगत रहसीरि धू अमर निरंजन नाम यक। पृ० ९२ छं० ४६१।

ऊपर उद्धृत पंक्ति का पाठ भी भली प्रकार शब्द-विच्छेद न कर पाने के कारण त्रुटिपूर्ण है। अर्थ के पक्ष तथा शब्द की दृष्टि से रहसी और सिधू दो भिन्न-भिन्न शब्द हैं। संपादक ने रहसीरि और धू शब्दों को काट-मिला कर धू का शब्दार्थ ध्रुव टिप्पण में लिखा है, पर रहसी शब्द के साथ रि का संयोग कर 'रहसी',

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के अर्थ 'रहेगा' की सार्थकता समाप्त कर दी है। वास्तव में शब्दों का कवि कृत पाठ होना चाहिए—**रहसी रिधू** अर्थात् स्थिर रहेगा। रिधू का इसी अर्थ में राजस्थानी के अनेक काव्यों में प्रयोग हुआ है। वीरभाण रतनू कृत राजरूपक की निम्न पंक्ति द्रष्टव्य है—**रिधू गोत कनवज रहायो**, पृ० १२। इसी प्रकार अनेक शब्दों को गलत रूप से तोड़कर उनके अर्थों और स्वरूपों को भी कम हानि नहीं पहुँचाई है। उदाहरण के लिये दो चार शब्द देखिए—पृ० ४० छं० १८६ पर शस्त्रों के वर्णन के अंतर्गत सत्र नाले अंकित है जब कि शब्द सत्रनाले (शतुरनाले, ऊंटों पर रखकर चलाई जावनोली तोपें) है। पृष्ठ २४ छं० १२६ पर चत्र-भुजोत पाठ दिया है जो होना चाहिए चत्रभुजोत। चत्रभुजोत कछवाहों की बगरू महलां ठिकाने के सामंतों की खांप का नाम है, पृ० १६ छं० ८८, लूट लीनी सब लछ घण में लछ (लक्ष्मी-द्रव्य) और घण (स्त्रियों) के अपहरण की ओर इंगित किया है।

संपादकजी ने कठिन शब्दों के शब्दार्थ नहीं के बराबर दिए हैं। ग्रंथ में राजस्थानी के अनेक शब्द व्यवहृत हुए जिनका अर्थ हिंदी भाषाविदों के लिये देना आवश्यक था। यथा—हूल, आरावे, छड़ाल, तोवन, घमचक, खिस्यों, झिलम, चिलते, गोल, हरवल, कंत, थाट, वीराट, त्रमाट, साल, कीने, पटतरै, पलान, कटके, रटके, पाखरे, सीख, रजवाट, अवीह, राडि (राड़ि) सुत्रनाले, धाप गई, सर, कुंतलं, उथपन, थिर, तेंग और खिलत प्रभृति शब्दों के शब्दार्थ कम से कम देने ही चाहिए थे। क्यों कि इन शब्दों का राजस्थानी युद्ध काव्यों के वर्णन के अतिरिक्त सर्वत्र वर्णन नहीं पाया जाता। अब जहाँ कहीं कठिन शब्दों के अर्थ दिए हैं उन स्थलों और शब्दार्थों के भी एक दो उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

छड़ी सेन ले सहज सुधाये । पृ० १५ छं० ८४।

कथित पंक्ति में छड़ी सेन का अर्थ किया है—'थोड़ी सी सेना'। वास्तव में छड़ी सेन का अर्थ है चुनी हुई सेना। सेना में घोड़े, पैदल, हाथी, ऊँट बैल और तोपखाना आदि सब साथ में रहते हैं। उपर्युक्त छड़ी सेना से केवल चुने हुए अश्वरोहियों का अर्थ लिया जाना चाहिए। छड़ी अथवा छड़ा के प्रयोग गद्य में भी चुने हुए के रूप में उपलब्ध होते है। शाहपुरा राजाधिराज के रोजनामचे से छड़ी शब्द के चुने हुए अर्थ की पुष्टि के लिये कुछ पंक्तियाँ पाठनीय हैं—ओर अठां को हाल कै जनानो बुगैर लसकर तो फागुण सुद ५ अठै आया अर श्री हजूर ज्यो अलवर रस्ता म्हसुं बुतर पधारया **छड़ा** सो फागण सुद ८ अलवर रावराजा साहेब वा हजूर बारा पर ३ बज्यां अठै दाखल हुवा।

वटै जीन जोटे किलंकी समके।
वटे सेत ही गजगाह गरके ॥ पृ० ३६ छं० १८७॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपर्यंकित पद में गजगाह शब्द आया है। संपादक महोदय ने पाद टिप्पणी में गजगाज के अर्थ पर पिप्पणी करते हुए लिखा है—गजगाह-युद्ध, गज और ग्राह के पौराणिक आख्यान के आधार पर गजग्राह अथवा गजगाह का अर्थ ही युद्ध हो गया है। उद्धृत पंक्ति में गजगाह शब्द सेना की सजावट और युद्ध के हेतु प्रयाण करने के पूर्व युद्ध-सज्जा की तैयारी के समय प्रयुक्त हुआ है। राजस्थानी में गजगाह शब्द युद्ध के अतिरिक्त इस प्रकार के कई अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। कवि ने स्पष्ट रूप में सेना की तैयारी का उल्लेख भी छंद के प्रारंभ में किया है और साथ ही युद्ध में उपयोग में आनेवाले शस्त्रों और गजाश्वों के युद्ध-उपकरणों का भी वर्णन किया है। गजगाह शब्द झिलम, पाखर, लालिये आदि के साथ व्यहृवत हुआ है अतः गज-गाह का पौराणिक गजग्राह प्रसंग से ताल-मेल बैठाना निरी कल्पना के अलावा और कुछ नहीं है। गजग्राह का उद्धृत पंक्ति में अर्थ है—हाथी की झूल अथवा हाथी का कवच। मध्यकालीन योद्धाओं के चित्र जिन्होंने देखे हैं और राजस्थानी संस्कृति का सामान्य-सा भी अध्ययन किया है वे भली प्रकार जानते हैं कि लोहे की कड़ियों से निर्मित गजगाह हाथियों पर लटकते हुए, चित्रों में पाए जाते हैं।

डा० साहब के संपादित ग्रंथ के पृष्ठ १०, छंद ५१ में ये पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

सूने ईस रावत चैनम प्रवेसं।
सुनी सुत्त वैसो अखा इन्द्रेसं॥

इन पंक्तियों में व्यवहृत अखा शब्द पर टिप्पणी करते हुए लिखा है—आखा, अखा दोनों प्रचलित हैं, जिसका अर्थ अक्षय या पूर्ण है। यहाँ अखा शब्द व्यक्तिवाचक है और अक्षय सिंह नामक योद्धा के लिये व्यवहृत हुआ है, तब फिर अखा का अर्थ अक्षय या पूर्ण करना क्या सार्थक है ?

अब संपादक महोदय की प्रस्तावना के ऐतिहासिक स्थलों का भी अवलोकन उचित होगा—

प्रस्तावना के पृ० ९ की टिप्पणी में लिखा है—'आमेर पति प्रतापसिंह को पीथल तथा अलवर के राव प्रतापसिंह को पातल कई स्थानों पर कहा गया है।' टिप्पणी बिलकुल गलत है और ऐतिहासिक अज्ञानता का एक अद्वितीय उदाहरण है। राजस्थान में रचित ग्रंथों अथवा बोलचाल में प्रचलित लोकभाषा के शब्दों में कहीं भी प्रतापसिंह के लिये पीथल शब्द का प्रयोग नहीं मिलता है। पीथल का सीधा-सरल अर्थ है पृथ्वीसिंह। प्रतापरासो के कवि ने भी पृथ्वीसिंह के लिये ही पीथल शब्द का व्यवहार किया है। राजस्थान के इतिहास का सामान्य सा भी जिन्हें ज्ञान है, वे जानते है कि महाराजा सवाई माधोसिंह प्रथम के दो राजकुमार थे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बड़े पृथ्वीसिंह और छोटे प्रतापसिंह। महाराजा माधवसिंह के देहावसान के बाद पृथ्वीसिंह उनके उत्तराधिकारी बने और उनके अल्पकाल ही में घोड़े से गिरकर मारे जाने पर प्रतापसिंह जयपुर की गद्दी पर बैठे थे। अतः पीथल से रासोकार का स्पष्टः ही महाराजा पृथ्वीसिंह से अभिप्राय है।

पृष्ठ ८ की पाद टिप्पणी में लिखा है—'जैसा अन्यत्र संकेत किया जा चुका है—इस समय अलवर और आमेर दोनों राज्यों के अधिपतियों का नाम प्रतापसिंह ही था।' ग्रंथकर्ता ने राव और राजा विशेषण लगाकर इस भ्रमोत्पादक स्थिति को काफी दूर रखने की चेष्टा की है, किंतु कहीं कहीं गड़बड़ी हो ही गई है। जैसा कि ऊपर की पंक्तियों में इंगित किया जा चुका है कि कवि ने जिस घटना पर यहाँ प्रकाश डाला है उस समय जयपुर के शासक प्रतापसिंह नहीं अपितु पृथ्वीसिंह थे। इसलिये कवि ने तो गड़बड़ी नहीं की है किंतु रासो के संपादक डा० साहब ने कवि के अर्थ को न समझकर अवश्य गड़बड़ी की है।

प्रस्तावना के पृष्ठ ८ की मूल पंक्तियों में लिखा है—अलवर के प्रतापसिंह जी के विवाह का प्रसंग तो आता ही नहीं। हाँ, आमेरपति प्रतापसिंह जी के विवाह का किंचित वर्णन अवश्य है—बीकानेर के राजा ने स्वेच्छा से प्रसन्न होकर वैवाहिक संबंध स्थापित किया था—

दोहा—यों सुनि बीकानेर नृप, गजै आप उरधारि।
पीथल है आमेरपति, दीजै ताहि कँवारि॥

दोहा—लै टीको पीथल नृपति, कीनो चलन समाज।
ब्याहन बीकानेर घर, आमावर्ति के राज॥

उद्धृत छंदों में महाराजा पृथ्वीसिंह के बीकानेर में विवाह करने का कवि ने स्पष्ट वर्णन किया है। राजस्थान के इतिहास, टाड राजस्थान, वीर विनोद, जयपुर का इतिहास, बीकानेर की ख्यात, आमेर की ख्यात आदि सभी ग्रंथों में पृथ्वीसिंह का जयपुर के सिंहासन पर बैठना अंकित है, फिर डा० साहब ने इस प्रकार की बात कैसे लिखी, इस पर विस्मय होता है। वीर विनोद में कविराजा श्यामलदास ने स्पष्ट लिखा है—'वि० सं० १८२७ चैत्र कृष्ण ४ के लग्न पर जयपुर के महाराजा पृथ्वीसिंह का महाराजा गजसिंह बीकानेर की पौती और महाराज कुमार राजसिंह की बेटी विवाही थी।'[1] ऐतिहासिक टिप्पणियाँ इतनी भ्रष्ट और तथ्यों से दूर हैं कि इनके बारे में डा० साहब जैसे विद्वान् से ऐसी अपेक्षा नहीं की जा सकती थी। इतिहास और काव्य का सामान्य अध्येता भी ऐसी भूलें

१. वीरविनोद, कविराजा श्यामल दास, पृ० ५०६।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं करता, जैसी डा० साहब से हुई हैं। एक उद्धरण और —

कियो क्रोध पातल प्रबल, को नाथावत रतनेस।
येक न दूजो होयसो, यो माधव सुदी नरेस॥

पृ० ८, छंद ४६।

उपयु`क्त दोहे में प्रयुक्त रतनेस पर टिप्पणी करते हुए लिखा है—'नाथावत रत्नसिंहजी–उदयकरणजी की पाँचवीं पीढ़ी में पृथ्वीराज हुए, जिनके १६ पुत्रों में से १२ के वंश चले जो बारह कोठड़ियों के नाम से प्रसिद्ध हुए। नाथावत इन्हीं में से थे। रत्नसिंह जी राणी तँवर जी के पुत्र थे, जो अपने अन्य तीन भाइयों पूर्णमल, भीमसिंह, और आसकरण सहित अलग अलग स्थानों के राजा बने। सामोद, चीमू, अलीराजपुरा आदि इनके ठिकाने थे।' यह टिप्पणी भी हास्यास्पद और तथ्यों से कोसों दूर की कल्पना की प्रतीक है। पृथ्वीराज के पुत्र का नाम रत्नसिंह था। वह अपने पिता के बाद आमेर का राज्याधिकारी बना। उसका निधन जेठ बदि १० संवत् १६०४ में होने पर आसकरण गद्दी पर बैठा था, परंतु राजगढ़ के युद्ध की घटना सं० १८३८ वि० की है। इस प्रकार कालक्रम की दृष्टि से टिप्पणी में उल्लिखित रत्नसिंह काव्य में वर्णित रत्नसिंह से २३८ वर्ष पूर्व मर चुका था। ऐसी स्थिति में उपर्यंकित टिप्पणी में क्या सार है। सत्य तो यह है कि प्रतापरासो में निर्दिष्ट रत्नसिंह टिप्णीवाले राजा रत्नसिंह से भिन्न व्यक्ति था। वह नाथावत ठाकुर वीरसिंह का पुत्र और आमेर राज्य के प्रमुख सेनानायकों में से था। वह पृथ्वीराज के चतुर्थ पुत्र गोपाल के पुत्र नाथा की संतति परंपरा में था। नाथावत रत्नसिंह का राजगढ़ के युद्ध में जयपुर के पक्ष में लड़ना नाथावतों के इतिहास और तत्कालीन अन्य काव्य स्रोतों से भी सिद्ध होता है, यथा—

नाथाणी रतनेस जोध जीधातण जब्बर।
अणी हरौला अधमणी कजि घणी फतै कर॥

—राजगढ़ री चढ़ाई री निसांणी

इसी प्रकार पृ० ४४ पर प्रतापरासो में आए हुए प्रमुख व्यक्तियों के नामों की संक्षिप्त परिचिति कराते हुए लिखा है—

'माधवसिंह—आमेर अधिपति, सं० १८०६ से १८३४ वि०।' यह भी अयुक्त है। माधवसिंह का निधन तो मावंडा युद्ध के तत्काल बाद सं० १८२४ वि० में ही हो गया था।

पृ० ५६ पर दौलतरामजी के प्रसंग में 'तारीखवार घटनाएँ' के अंतर्गत लिखा है—'संवत् १८२२ में मचेड़ी के राव प्रतापसिंह के साथ मावंडा-युद्ध में ५०० सवारों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के साथ भरतपुर की फौज पर हमला किया।' इसमें संवत् गलत है। युद्ध का वास्तविक संवत् १८२४ है न कि १८२२ वि०।

सामान्य भूलों का तो उल्लेख ही क्या, एक ओर बड़ी भ्रांति द्रष्टव्य है—प्रस्तावना पृष्ठ ११ पर लिखा है—'प्रतापसिंह अपने आश्रयदाता माधवसिंह जी का दरबार छोड़कर निकल पड़ते हैं। प्रवास में साथ देनेवाले सरदारों की सूची भी दी हुई है। साथ में छाजूराम हल्दिया भी थे—**सजे संग छाजू सहाये अमानी।** डेरा करते हुए राव प्रतापसिंह जावली पहुँचे। वहाँ के सरदार ठा० गजसिंह ने पूछा—**देसपति तजि देस कों, सजो सेन कहाँ जात।**' यह टिप्पणी भी भ्रमोत्पादक है। प्रतापसिंह के जयपुर से निर्वासन के समय जावली का ठाकुर गजसिंह नहीं था। वह तो इस घटना के दस वर्ष पूर्व ही मर गया था। तब जावली का ठाकुर धीरसिंह (धीरतसिंह) था। धीरतसिंह गजसिंह का पुत्र था। कवि ने एक बार नहीं पाँच बार धीरतसिंह के और राव प्रतापसिंह के वार्तालाप में धीरतसिंह के नाम का उल्लेख किया है। प्रमाण के लिये रासो की निम्न पंक्तियाँ पढ़िए—

दोहा **ढलि डेरा गढ़ जावली, पातिल उतरे जाय।**
तहाँ राजत गजसिंह बत, मिले धीर बंधु धाय ॥६५॥
मिलि धीरज बुझे बचन, पातिल सों यक बात।
देसपति तजि देसकों, सजी सेन कहाँ जात ॥६६॥

* * *

धीर वचन यम उच्चरि, जो कछु चितै सो कीजिए।

* * *

फुरमाये पातिल वचन, धीर रहो यह ठाय।

* * *

धीरज सीख सु ठाँय। दीनि सु पातल नाम।

इस प्रकार संबंधित प्रसंग में विभिन्न छंदों में पाँच बार धीर और धीरज शब्द का प्रयोग स्पष्ट रूप में लक्षित है। यही नहीं—'तहाँ राजत गजसिंह बत' से तो स्पष्ट ही कवि ने गजसिंह के पुत्र विराजते हैं, कह दिया है।

अब नीचे की पंक्तियों में भाषाविज्ञान की दृष्टियों से तनिक विचार करना असंगतिपूर्ण नहीं कहा जायगा। सर्वप्रथम तो यही प्रश्न उठता है कि भाषाशास्त्रीय अध्ययन के लिये क्या मात्र दो प्रतियों का आधार पर्याप्त होता है, जब कि उनमें से एक भी कवि की कलमी प्रति नहीं है। यदि संपादक का दृष्टिकोण भाषावैज्ञानिक अध्ययन ही प्रस्तुत करना था, तो ऐतिहासिक पक्ष को स्पर्श करने की क्या आवश्यकता पड़ी? ऐतिहासिक पक्ष पर विचार किया तो कला पक्ष में छंद, रस, अलंकार, शैली और काव्य के गुण-दोषों पर विचार करना क्या उचित नहीं था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसी संदर्भ में ब्रजभाषा में रासो परंपरा और उसमें प्रतापरासो का स्थान आदि प्रश्नों पर भी प्रकाश डालना चाहिए था।

भाषाविज्ञान की दृष्टि से काव्य में प्रयुक्त डिंगल, फारसी, अरबी और पंजाबी भाषा के शब्दों पर भी विचार करना चाहिए था, जो नहीं किया गया। तेग, जमूरा, जजाले, नकीब, परवानन, सला, माफ, खिलत, चिलकत, कहर, नीढ़ि, नख, माहिमरातिब, गरद, गरूर, वजन, अरावन, राड़ि, लालिया, छड़ाल आदि अनेक शब्दों का प्रयोग-बाहुल्य ग्रंथ में प्राप्त है।

ध्वनिविचार से व और ब, ल और ल़ आदि शब्दों के प्रयोग के अंतर पर नहीं दिया गया आदि। यह तो मूल प्रति सामने न होने से दृढ़तापूर्वक नहीं कहा जा सकता कि उसमें मूल रूप में शब्दों के स्वरूप क्या थे किंतु स्वीकृत पाठ में अनेक शब्दों के विकृत रूप प्रतिलिपि में जागरूकता बरतने के बारे में भी संदेह उत्पन्न करते हैं, क्योंकि ब्रजभाषा क्षेत्र में तोबन (तोपों) को तोवन और अराबन (अराबा) को अरावन कहीं भी नहीं बोलते हैं। इसी प्रकार 'लालि़या' के लिये 'लालि़या' का प्रयोग भी चिंत्य है। 'लालि़या' घोड़े के जेरबंध को कहते हैं और छंद में जेरबंद के पर्याय रूप में ही काव्य में आया है, परंतु संपादक ने लालिया रूप प्रदानकर शब्द की अर्थवत्ता को नष्ट कर दिया है।

इस प्रकार ऐतिहासिक टिप्पणियाँ, शब्दान्वय, शब्दों के एकीकरण, पृथक्करण वर्ण भ्रांति, पाद टिप्पणियाँ, कठिन शब्दों के अर्थ, आदि अनेक प्रकार की अशुद्धियाँ भ्रांतियाँ और असंगतियाँ संपादित पुस्तक में पदे पदे अनायास ही मिल जाती हैं। कहना न होगा कि शोध-प्रबंध के रूप में डा० साहब ने शोध अन्वेषक के दायित्व के प्रति उपेक्षा बरती है। शोध-प्रबंध के रूप में प्रस्तुत ग्रंथ तो एक आदर्श और अनुकरणीय कृति होनी चाहिए थी, किंतु यह ग्रंथ तो शोध-प्रबंध के महत्व और उपादेयता को नष्ट करनेवाले उदाहरण के रूप में हमारे समक्ष उपस्थित होता है।

—सौभाग्यसिंह शेखावत

*

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विविध

हरियाणा की महिला का पहनावा

भारतीय संस्कृति और राष्ट्रभाषा हिंदी के स्वरूप की जानकारी तथा अभिवृद्धि के हेतु ग्रामीण जीवन का सूक्ष्म अध्ययन समस्त प्रांतों के जनपदीय लेखकों को करना चाहिए। प्रस्तुत लेख इसी दिशा में मेरा विनम्र प्रयास है जिसका उद्देश्य हरियाणा की महिला के पहनावे तथा तत्संबद्ध शब्दावली पर प्रकाश डालना है। हरियाणी महिला के उत्तरीय चूंदड़ी, च्यांदणी, पीलिया पोमचा, लहरिया, धनक, मीठड़ा, छयामा, दूबला, सोप हैं। आँगी तथा कांचली अंग वस्त्र हैं। स्त्रियों के अधोवस्त्र हैं घाघरा जिसके अनेक भेद हैं– लूँगी, लीली, खारा, लै, किलंदरा, फूल-बोरडा, फड़दी, मोटरपहिया, कीकरफूले तथा बेगमभड़गड़ा। इन समस्त वस्त्रों का सविस्तर विवरण हरियाणा-महिला का सजीव चित्र समुपस्थित करता है।

१. ओढ़ना जिस वस्त्र का बनाया जाता है, वह 'पोत' कहलाता है। पोत दो टुकड़ों को जोड़कर बनाया जाता है जिन्हें 'पाट' कहते हैं। एक पाट की चौड़ाई एक गज और दूसरे पाट की चौड़ाई आधा गज होती है। ओढ़नी एक पाट की होती है। छोटे बच्चों की ओढ़नी को 'टुकरी' कहते हैं। रंगे ओढ़ने को लुगड़ा या लुगड़ी कहते हैं जिस पर कोई बँधाई, छपाई और कढ़ाई का काम नहीं होता है।

२. जिस ओढ़ने का रंग लाल होता है उसे 'चुंदड़ी' (चूर्णिका) कहते हैं। इसकी लंबाई ढाई गज और चौड़ाई पौने दो गज होती है। इसकी कान्नी पर 'सुआतोते की बेल' और पल्ले पर 'सीढ़ियों या चक्रों या आमों की बेल' होती हैं। यह स्मरणीय बात है कि चुंदड़ी के पल्ले पर मछलियों की बेल जरूर बनती है। चुंदड़ी या ओढ़ने की लंबाई के किनारे को 'घटी' कहते हैं। इस पर पहले बलदमूतना भी लिखते थे। संभवतः यह 'गोमूत्रिका' कहलाती थी।

जो चूंदड़ी विवाह के अवसर पर नववधू को उढ़ाई जाती है उसे 'सिरगुंदी की चूंदड़ी' कहते हैं जिसकी पटी पर बलदमूतना, कान्नी पर बांग बेल, कान्नी के कोणों पर केले और बीच में चाँद और बतख होते हैं। जिस ओढ़ने पर दोमुँही मोरनी, अठागनी फूल, एकमुँही मोरनी, दस फांगड़ी की छोटी मोरनी, पाँखवाली मोरनी, बच्चे की पाँखवाली मोरनी होती है उसे 'च्यांदणी' कहते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

३. जिस ओढ़ने की कान्नी पर सखी, गूजरी, मोर और बूटा होते हैं उसे 'सखीगूजरी' कहते हैं।

जिसकी कान्नी पर अंगूर की बेल और पल्ले पर आम की बेल लाल रंग की तथा जिसका आंगन पीले रंग का हो जिसमें छोटा चाँद, बड़ा चाँद और खूंटा हो उसे 'पीलिया' कहते हैं। जिस स्त्री के लड़का उत्पन्न होता है वह पीलिया ओढ़कर कूआ पूजन करती है।

जिस ओढ़ने का आँगन पीला न होकर और किसी भी रंग का हो उसे 'पोमचा' कहते हैं। पोमचे का आंगन हरा, आसमानी, सफेद और काला होता है। इसको गौने जानेवाली स्त्री ओढ़ती है जिसे 'मुकलावली' (मुक्त+लापक) कहते हैं।

जिस पर लाल और पीली, गुलाबी और हरी, सफेद और आसमानी लहर के आकार की धारियाँ हों उसे 'लहरिया' कहते हैं। यह विशेष रूप से सावन में ओढ़ा जाता है।

४. जिस ओढ़ने के पोत का कपड़ा पीला हो उस पर उस रंग से भिन्न चौकोर काचरी या पत्तियाँ हों उसे 'धनक' कहते हैं। इसकी कान्नी और पल्लों पर अंगूर की बेल और उसके ऊपर बूंटें होते हैं।

जिस ओढ़ने की धरती लाल हो और उसपर पीली टिक्कियाँ हों' या पीली धरती पर लाल टिक्कियाँ हों उसे 'मोठड़ा' कहते हैं।

शीतकालीन ओढ़ने

'दूबले' को स्त्रियां सरदी में ओढ़ती हैं। इसकी लंबाई तीन गज और चौड़ाई डेढ़ गज होती है। इसमें तीन टुकड़े जुड़े होते हैं जिन्हें 'पाट' कहते हैं। जुड़े हुए पाट 'कसा' कहलाते हैं जिसे नीलगर से 'नामी रंग' का रंगवाया जाता है। सिरे के टुकड़ों को 'कान्नी' कहते हैं। बीच का टुकड़ा सिरे के टुकड़ों के साथ सिल कर जोड़ा जाता है। इस सिलाई को 'सीम्मण' कहते हैं।

दूबले के सिरे पर पीले, हरे, गुलाबी, उदे, धौले, पीले, आदि रंग की अठारह मोरनी होती हैं।

दूबला

दूबले की किनारी (कान्नी) पर कढ़ाई होती है शेष भाग पर कढ़ाई नहीं होती। दूबले की लंबाई की ओर आठ अंगुल जगह छोड़कर कढ़ाई की जाती है। इसके चारों ओर काले रंग के कपड़े को मोड़कर सिला जाता हैं जिसे 'गोठ' कहते हैं। एक चौकोर कोने के ऊपरी दोनों सिरों पर जो दो चौकोर कोने बनाए जाते हैं, उसे 'तीन बटन का सिरटा' (जाली) कहते हैं। इनके नीचे सफेद धागे की टेब से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

टेढ़ी मेढ़ी ७७ शकल बनाई जाती है जिन्हें 'कोठे' कहते हैं। कोठों के नीचे चार तागों (धागों) की एक पतली लकीर काढ़ी जाती है जिसे 'डाँडी' कहते हैं। इसके पश्चात् एक धागे की जगह छोड़ी जाती है जिसे 'जाम्मण' कहते हैं।

नामी रंग के तीन पाटों का ओढना 'छामा' कहाता है। इसकी चौड़ाई की ओर दो अंगुल जगह छोड़कर कढ़ाई की जाती है। चौड़ाई के पल्ले की ओर एक कोण में पांच कोण बनाए जाते हैं। इन कोणों की कढ़ाई को 'लहरिया' कहते हैं। लंबाई के किनारों पर जो पीले टेब मारे जाते हैं वे 'जौ' कहलाते हैं।

जिन गोटों से जोड़ने पर कढ़ाई की जाती है उनके भी भिन्न भिन्न नाम हैं। ठप्पी के अग्रिम प्रांत भाग पर जो टेढ़ा मेढ़ा गोटा लगता है उसे 'बांकड़ा' कहते हैं। ठप्पी के आगे और पीछे लगनेवाला त्रिकोणाकार सा गोटा 'बिजिया' कहलाता है। बारीक जंजीर की तरह गूँथा हुआ गोटा 'कांगणी' कहलाता है।

अंगवस्त्र

स्त्रियों के स्तनों को 'चूची' कहते हैं। इनको ढकने के लिये 'आंगी', (आंगिका), चोली और 'कब्जा' पहने जाते हैं। इसका वह कटोरीनुमा हिस्सा जो स्त्री के स्तनों को ढकता है 'टुक्की' कहाता है। दोनों टुक्कियों के ऊपर जो गोल-गला-सा बनाया जाता है उसे 'कंठा' कहते हैं। टुक्की के नीचे की पट्टी को 'बाढ़' कहते हैं। आंगी को कसने के लिये जो नाल बाँधे जाते हैं वे 'कसाण' कहलाते हैं। दोनों टुकड़ियों के निचले किनारे पर पेट ढकने के लिये जो कपड़ा जोड़ा जाता है उसे 'तनकी' कहते हैं।

जो आंगी सामान्यरूप से पहनी जाती है उसे 'देसवाली' कहते हैं। देसवाली की टुक्की बड़ी होती है और उसपर फूल या गोटा लगा हुआ होता है तथा शेष भाग पर भी गोटे का काम होता है। ओसवाल वैश्य स्त्रियाँ जिस आंगी को पहनती हैं वे 'ओसवाली' या 'कांचली' कहलाती हैं। ओसवाली की टुक्कियाँ बिना गोट की होती हैं। दोनों कुचों के निम्न प्रांत के साथ जिस कपड़े को मोड़कर नाला डाला जाता है वह 'नेफा' कहलाता है।

घाघरा

स्त्री के नाभि से लेकर पाँव के टखने तक गुप्त अंगों को ढकनेवाला वस्त्र 'घाघरा' कहलाता है। दैनिक जीवन में जो घाघरा स्त्रियाँ पहनती हैं उसे 'घाघरी' कहते हैं। बढ़िया और भारी घाघरा 'दाम्मण' कहलाता है। घाघरे के लिये 'तिगना', 'तिगनी' शब्द भी प्रयुक्त होता है। घाघरे में कपड़ा जोड़कर जो नाला बाँधने के लिये स्थान बनाया जाता है उसे 'नेफा' कहते हैं। नेफे व चीण का वह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

खुला हुआ भाग जहाँ नाले की गाँठ बाँधी जाती है उसे 'खीसा' (नीवि) कहते हैं। घेर के निम्न प्रांत पर जो दो अंगुल चौड़ी पट्टी जोड़ी जाती है उसे 'मगजी' और चार अंगुल चौड़ी जो पट्टी जोड़ी जाती है उसे 'लाम्भण' कहते हैं।

छपाईवाले घाघरों के नाम

छपाई को 'ठेका' कहते हैं। जिसका कपड़ा (धरती) लाल हो और उस पर पीली बुंदी हो, उसे 'मोटड़ा' कहते हैं। जिसकी धरती काली हो और उसपर लाल बूँदी हो, उसे 'कैरी' कहते हैं। जिसकी धरती हल्की लाल या भूरी हो और उस पर लाल या नीली बुंदियाँ हों उसे 'बोहड़ा' कहते हैं। जिसकी धरती काली, फूल धौला लाल और पीली टिक्कियाँ सहित हो उसे 'कीकरफूला' कहते हैं। जिस घाघरे का कपड़ा लाल रंग का हो और उस पर पीले पाट (रेशमी धागे) की कढ़ाई होती है उसे 'लीली' कहते हैं। जिस घाघरे के ताने के धागे नीले और पेटे के धागे लाल होते हैं और जिसमें लाल और नीली क्यारियाँ सी बुनी जाती हैं उसे 'लूँगी' कहते हैं। जिस घाघरे के कपड़े का ताना नीला और पेटा लाल होता है और जिसमें सीधी लकीर सी बुनी जाती है उसे 'खारा' कहते हैं। लालरंग के कपड़े पर धौली (सफेद) छपाईवाला घाघरा 'प्लैचा' कहलाता है। 'किलंदरा' घाघरे की लकीर खारे से मोटी होती है। 'खरब्रास' घाघरे का रंग धौला (सफेद) होता है। जिस घाघरे का खद्दर नीला (लीला) होता है और उस पर कढ़ाई की जाती हैं उसे 'लै' कहते हैं।

—विष्णुदत्त भारद्वाज

*

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हाड़ौती बोली का स्वरूप

कन्हैयालाल शर्मा

•

हाड़ौती शब्द की उत्पत्ति 'हाड़ा' शब्द से हुई है। हाड़ौती उस भूभाग की बोली है जिस पर चौहान वंश की शाखा हाड़ा राजपूतों का शताब्दियों तक अधिकार रहा है हाड़ा हाड़ौती प्रदेश में प्रमुख रूप से बसे निवासी नहीं हैं[1], अपितु यहां के शासक रहे हैं। उन्हीं के नाम पर बने 'हाड़ौत'[2] से उसी प्रकार 'हाड़ौती' शब्द बना है जिस प्रकार शेखावत से शेखावाटी और तोरावत से तोरावाटी।

डा० ग्रियर्सन ने हाड़ौती बोली के क्षेत्र को इतना विस्तार दिया है कि 'सीपरी' को भी उसी के अंतर्गत स्वीकार कर लिया है, पर यह हाड़ौती से भिन्न बोली है।[3] हाड़ौती वर्तमान कोटा एवं बूंदी जिलों तथा झालावाड़ जिले के उत्तरी भाग की प्रमुख बोली है। कोटा जिले की शाहाबाद एवं पूर्वी किशनगंज तहसील के निवासी हाड़ौतीभाषी नहीं हैं और बूंदी जिले की इंद्रगढ़ और नैनवा तहसीलों के उत्तरी भाग भी इस बोली के क्षेत्र से बाहर हैं। इस प्रकार हाड़ौती विशाल भूभाग की बोली है जिसके बोलनेवालों की संख्या सन् १९५१ की जनगणना के अनुसार ८१५८५९ है।[4]

'प्रति बारह कोस पर बोली बदलती है' की मान्यता के अनुसार इतने विशाल भूभाग की बोली में सर्वत्र एकरूपता नहीं पाई जाती। तत्कालीन कोटा और बूँदी के राज्य क्रमशः दक्षिणी हाड़ौती और उत्तरी हाड़ौती की सीमा बनाते हैं। हाड़ौती के दोनों रूपों में इस प्रकार अंतर मिलता है—

१. ग्रियर्सन, लिंग्विस्टिक सर्वे आफ इंडिया, भा० २, पृ० २०३।

२. 'हाड़ौत', एक काल्पनिक शब्द है और इसकी उत्पत्ति हाड़ा + पुत्र > हाड़ा + हाड़ाउत > ऊत हाड़ौत से हुई है। इसकी कल्पना का आधार रामसिहोत आदि शब्द रहे हैं, जो राजस्थान की क्षेत्रीय जाति में परंपरागत हैं।

३. प्रस्तुत लेखक—हाड़ौती बोली और साहित्य—बोली खंड, पृ० १०।

४. सेंसस आफ इंडिया, पेपर १, १९५४, पृ० १२।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१. उत्तरी हाड़ौती में पुरुषवाचक सर्वनामों में उत्तम पुरुष और मध्यम पुरुष में 'मैं' और 'तै' रूप प्रायः सुनाई पड़ते हैं, जो दोनों वचनों में प्रयुक्त होते हैं। पर अन्वित क्रिया सदैव बहुवचन में रहती है। दक्षिणी हाड़ौती में म्हूं, तू या थू एकवचनीय रूप हैं और म्हां, थां बहुवचन के रूप हैं, जो उत्तरी हाड़ौती क्षेत्र में भी प्रयुक्त होते हैं।

२. दक्षिणी हाड़ौती के सामान्य भविष्यत् के रूप क्रिया के वर्तमान निश्चयार्थ के साथ गो, गूं, या गा आदि प्रत्यय जोड़ने से संपन्न होते हैं, पर उत्तरी हाड़ौती के ऐसे रूप धातु शब्दों के साथ सी,-स्यूं आदि प्रत्ययों के योग से संपन्न होते हैं, यथा, तू जावैगो (दक्षिणी हाड़ौती) और तू जासी (उत्तरी हाड़ौती)

३. दक्षिणी हाड़ौती के स्थानवाचक क्रियाविशेषण ह्यां, ज्यां, त्यां आदि हैं और और स्थान संकेतवाचक क्रियाविशेषण अठी, कठी आदि हैं। उत्तरी हाड़ौती में इनके स्थान पर उठै, कठै आदि प्रयुक्त होते हैं।

हाड़ौती बोली की कुछ ध्वनिगत और रूपात्मक प्रमुख विशेषताएं इस प्रकार हैं—

१. स्वरगत विशेषताएँ

१. हाड़ौती बोली में आठ स्वर प्रयुक्त होते हैं। वे हैं—अ, अै[५], आ, ई, उ, ऊ, ए तथा ओ। इन स्वरों में अै अर्द्ध संवृत, दीर्घ, मध्य स्वर है, जो 'आ' विवृत, दीर्घ, मध्यस्वर से भिन्न है। इसे ह्रस्व 'अ' का दीर्घ, दीर्घ रूप कहा जा सकता है। 'अ' को 'आ' का ह्रस्व रूप व्याकरणिक आवश्यकता से माना है।[६] 'अ' शब्द के आदि में प्रयुक्त नहीं होता और न स्वतंत्र रूप से ही शब्द में प्रयुक्त होता है।

५. उपर्युक्त लिपि-चिह्न के अभाव में संकेत से काम लिया गया है।

६. 'यदि ह्रस्व 'अ' को दीर्घ 'आ' से इस दिशा में भिन्न समझा जाता तो 'तुल्यास्य प्रयत्नं सवर्णम्' (१-१-९) बाधक हो जाता और उक्त सूत्रगत एकरूपता समाप्त हो जाती। ह्रस्व 'अ' को अपना स्वाभाविक अधिकार, जो अब तक पाणिनि की अष्टाध्यायी में बाधित था, दिलाने के लिये वे 'अ अ इति' (८.४।६८) सूत्र की सृष्टि करते हैं, जिससे तात्पर्य यह है कि अब जब पुस्तक समाप्ति पर है तब ह्रस्व 'अ' को संवृत मानना चाहिए. जिसे अब तक आवश्यकतावश विवृत माना गया था।' डा० बैलेंटाइन-श्रीशचंद्र वसु, सिद्धांतकौमुदी, पृ० ११।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२. हाड़ौती में 'इ', 'ऐ' तथा 'औ'[७] स्वरों का प्रयोग नहीं मिलता यथा आमली (हि० इमली), अस्यो (हि० ऐसा) तथा वोरत् (हि० औरत)। हाड़ौती में 'इ' स्वर का एकांत लोप उसकी ऐसी विशेषता है जो उसे अन्य राजस्थानी बोलियों से पृथक कर देती है, जैसे हा० मनरच्, मार० मिनरच, हा० कस्तूरी जय० किस्तूरी।

३. 'अ' स्वर का उच्चारण असंयुक्त अंत्य व्यंजन रूप में तथा दो दीर्घ स्वरों के मध्य में नहीं होता (यद्यपि लिखा जाता है) यथा, रांगस्, वेल्, छाप्को (चाबुक), तोव्रो।

४. हाड़ौती में स्वर संकोच की प्रवृत्ति आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं की अपेक्षा अधिक विकसित है, यथा—ह्यां (हि० यहाँ), ग्या (हि० गया), वोतार (हि० अवतार)।

५. हाड़ौती स्वर-ध्वनियों में अकारण अनुनासिकता के अनेक उदाहरण मिलते हैं, यथा घाँस् (हि० घास), रांगस् (सं० राक्षस), काँच् (हि० काच), दैंत् (दैत्य)।

२. व्यंजनगत विशेषताएँ

१. हाड़ौती में प्रयुक्त ३६ व्यंजन ध्वनियों में 'ल्' तथा 'व्' ऐसे व्यंजन हैं जो हिंदी में प्रयुक्त नहीं होते हैं, पर ये दोनों व्यंजन राजस्थानी बोलियों में मिलते हैं। हाड़ौती का 'ल्' अल्पप्राण, सघोष, उत्क्षिप्त, पार्श्विक, मूर्द्धन्य व्यंजन है और इसका व्यवहार शब्द के आदि में नहीं होता। चालीस् रूपाली आदि शब्दों में में यह प्रयुक्त होता है।, 'व्' व्यंजन द्वयोष्ठ्य, सघोष, अर्द्धस्वर है और इसका उच्चारण अंगरेजी 'व्ही' के समान होता है। इसका प्रयोग बहुत कम शब्दों में होता है, यथा वाने, ल्वारी (लुहारी)

२. हाड़ौती अनुनासिक व्यंजनों में 'ङ्' का स्वतंत्र रूप से प्रयोग नहीं होता और शब्द के आदि में यह प्रयुक्त होता है—यथा, जङ्ग् (युद्ध) नङ्ग् घङ ङ्ग् (नग्न)। 'ञ्' हाड़ौती कक्का (व्यंजन माला) में स्वीकृत है [नन्नो (ञ्ञो) खांडो चंदरमा], इसका प्रयोग संयुक्त या असंयुक्त व्यंजन के रूप में किसी भी शब्द में नहीं सुना जाता।

३. हाड़ौती में मध्य-व्यंजन-संयोग के तो विविध रूप मिलते हैं, पर आदि-व्यंजन-संयोग में उत्तर व्यंजन अर्द्धस्वर होता है, यथा, फ्याली (पहेलिका), स्याली (शलली), फ्वारो (फव्वारा)।

७. यद्यपि 'हाड़ौती' शब्द में यह स्वर नहीं है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

४. हाड़ौती में महाप्राण ध्वनि शब्द में एक ही बार प्रयुक्त होती है (अनुकरणात्मक शब्द इसके अपवाद हैं) और वह शब्द के आदि की ओर बढ़ने की प्रवृत्ति अपनाते हुए, यथा हाती (हि० हाथी), खां (हि० कहां), संज्या या सांज् (संध्या), फाव्णू (हि० पाहुन) । अनेक शब्दों में अकारण महाप्राणता भी पाई जाती है, यथा फाणी (हि० पानी), छाप्को (हि० चाबुक) ।

३. रूपगत विशेषताएँ—

१. हाड़ौती शब्दरचना में 'ड़्' प्रत्यय का बड़ा महत्व है। यह स्वार्थे प्रत्यय शब्द की प्रियता, घृणा या लघुता सूचकता में प्रयुक्त होता है, जैसे, मुव्ड़ो (मुव्), न्हारड़ो (न्हार) ।

कहीं-कहीं इसके स्थान पर 'ट्' प्रत्यय भी प्रयुक्त होता है, यथा, तेल्टो (तेली), बलाव्टो (बलाव्) ।

वस्तुतः ये दोनों प्रत्यय एक दूसरे के रूपांतर हैं। प्राकृत में प्रयुक्त 'ट्' प्रत्यय राजस्थानी में 'ड़्' भी बन गया है। अपभ्रंश में भी 'ड़' के प्रयोग की बहुलता थी।[८]

२. हाड़ौती संज्ञा 'शब्दों के एकवचन पुंलिंग रूपों की विशेषता उनकी ओकारांतता है, जैसे–घोड़ो, छोरो, फाथो (पैर का अग्र भाग)। यह विशेषता समस्त राजस्थानी बोलियों में मिलती है तथा ब्रजभाषा में भी पाई जाती है। हाड़ौती संज्ञा शब्द तो विभिन्न स्वरांत या व्यंजनांत हो सकते हैं, पर सप्रत्यय गुणवाचक विशेषणों में यह प्रवृत्ति नियमित है, यथा – कालो घोड़ो, धोलो बैल, रातो तेली ।

३. हाड़ौती में दो लिंग होते हैं—पुंलिंग और स्त्रीलिंग। यदि संज्ञा शब्दों की ओकारांतता पुंलिंग की द्योतक है तो उनकी ईकारांतता स्त्रीलिंग की द्योतक है, पर कर्तृवाचक पुंलिंग शब्द ईकारांत होते हैं, यथा, तेली, माली। हाड़ौती का प्रमुख स्त्री-प्रत्यय ई है, जैसे—बांदरा-बांदरी, ग्वाल्यो ग्वाली। अण-आणी, आई प्रत्यय भी पुंलिंग शब्दों से स्त्रीलिंग शब्द बनाने के लिये प्रयुक्त होते हैं, यथा, मोग्यो-मोगण, पंडत्-पंडताणी, लोग-लुगाई। शेष, वण्, -णी आदि प्रत्यय इन्हीं प्रत्ययों में से किसी एक के रूपांतर हैं।

४. हाड़ौती में दो वचन मिलते हैं। बहुवचन का प्रत्यय 'आ' है, जो स्त्रीलिंग शब्दों में 'आँ' रूप में मिलता है, यथा, छोरो-छोरा, छोरी-छोरयाँ,

८. नामवर सिंह—हिंदी के विकास में अपभ्रंश का योग, पृ० ५० ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नाई-नाएयां। प्रा० भा० आ० तथा म० भा० आ० में जहाँ स्त्रीलिंग शब्द में 'इ' या 'ई' स्वर ध्वनि थी वह हाड़ौती में आकर लुप्त तो हो गई, पर बहुवचन शब्दों में अपना अस्तित्व बनाए रही—मालएयां, नाएयां आदि ऐसे ही उदाहरण हैं। व्यक्तिवाचक संज्ञा शब्दों के बहुवचन का प्रत्यय—'होणू' है, जैसे, गोप्याहोणू।

५. हाड़ौती कारक रूपों की प्रक्रिया अत्यंत सरल है। शब्द-रूपों में दो अविकारी तथा दो विकारी रूप मिलते हैं। विकारी रूपों के साथ विभिन्न परसर्ग जुड़कर भिन्न-भिन्न कारकीय संबंधों को प्रकट करते हैं। अविकारी एक वचन का प्रत्यय शून्य० है और बहुवचन का—'आ' है। जिनसे छोरो और छोरा रूप संपन्न होते हैं। स्त्रीलिंग के ऐसे बहुवचन रूपों का प्रत्यय 'आं' है जो शब्द के अंत्य स्वर के मात्रा-भेद से—'यां' या 'वां' रूप ले लेता है। विकारी पुंलिंग शब्द के एक वचन का 'आ' प्रत्यय है और बहुवचन का—'आं' जिनसे छोरा और छोरयां रूप बनते हैं।

हाड़ौती में रूपों की अल्पता से जो अस्पष्टता आ सकती थी उसकी पूर्ति परसर्गों द्वारा हो जाती है। हाड़ौती के परसर्ग हैं—

कर्ता – ने

कर्म एवं संप्रदान – ने, ईं

करण और अपादान – सूं, से

संबंध–के, का, की को, रे, रा, री, रो, णे, णा, णी णं

अधिकरण – में, पे,

संबंधकारक के परसर्गों की चार श्रेणियाँ हैं जिनसे भेद्य के लिंग वचन और कभी-कभी कारक रूप का बोध इस प्रकार होता है—

१ – ओकारांत परसर्ग—भेद्य पुंलिग, एक वचन और अविकारी कर्ता।

२ – आकारांत परसर्ग—भेद्य पुंलिंग, एक वचन या बहुवचन तथा अविकारी कर्ता के अतिरिक्त कारक रूप।

ईकारांत परसर्ग-भेद्य स्त्रीलिंग, सभी वचन और कारकरूप।

ओकारांत परसर्ग-भेद्य अविकारी रूप में।

र-कार-युक्त तथा ण-कार-युक्त परसर्ग तो सर्वनामों के साथ ही प्रयुक्त होते हैं और क-कारयुक्त परसर्ग शेष नामिकों में प्रयुक्त होते हैं।

६. सर्वनामों के प्रायः सभी रूप हाड़ौती में मिलते हैं। पुरुषवाचक अन्य पुरुष सर्वनामों तथा दूरवर्ती निश्चयवाचक सर्वनामों के रूप एक ही हैं। वे हैं—ऊ, वे, वा। इसी प्रकार निज वाचक, 'आप्' और आदर सूचक 'आप्' अपने प्रातिपदिक तथा अन्य रूपों में समान हैं पर निजवाचक सर्वनाम के साथ संबंध कारक में रौ, णी आदि परसर्ग प्रयुक्त होते हैं, जब कि आदरसूचक सर्वनाम के साथ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसी कारक में को, का आदि परसर्ग प्रयुक्त होते हैं। हाड़ौती में निजवाचक सर्वनाम के रूप में पुरुषवाचक सर्वनामों के प्रयोग भी प्रायः मिलते है, यथा, तू थारो काम कर, म्हूँ म्हारा घर जाऊँ।

७. हाड़ौती गुण वाचक विशेषणों के बने रूप मिलते हैं—

क. सप्रत्यय गुणवाचक विशेषण, जिसका प्रत्यय-विधान इस प्रकार है-

अविकारी पुंलिग एक वचन में—ओ।

विकारी पुंलिग शेष रूपों में—आ।

स्त्रीलिंग के सभी रूपों में—ई।

इनके उदाहरण हैं—कालो बैल्, ऊँचा मकान्, धोली गाय।

ख. अप्रत्यय गुणवाचक विशेषण प्रायः व्यंजनांत होते हैं, जैसे, लाल् फागड़ी (पगड़ी), लाल् स्यापो (साफा), पर संज्ञा शब्दों से बने ऐसे विशेषण स्वरांत होते हैं, यथा देशी गाय् या बैल्।

हाड़ौती में समूहवाची संख्यावाचक विशेषणों मे जोड़ो (दो का समूह), गंडो (चार का समूह) और पचोल (पाँच का समूह) उल्लेखनीय हैं। संख्या की अनिश्चितता प्रकट करने के लिए बीसेक्, दसेक् की प्रणाली अपनाई जाती है।

८. क. हाड़ौती के अस्तित्ववाचक क्रिया रूप छै, छौ आदि उसे पश्चिमी तथा पूर्वी राजस्थानी की अनेक बोलियों से पृथक् कर देते हैं। इस दृष्टि से वह जयपुरी के समीप है। डा० ग्रियर्सन ने ऐसी समानताओं को ध्यान में रखकर हाड़ौती को जयपुर की उपबोली के रूप में स्वीकार किया हैं, पर दोनों में ऐसी अनेक असमानताएँ हैं, जो उक्त संबंध स्थापन में बाधक है।

ख. हाड़ौती के वर्तमान निश्चयार्थ का विकास में हिंदी के समान संस्कृत 'शतृ' कृदंत से न होकर लट् लकार से हुआ है। इसलिये ऊ जावे, ऊ दौड़े रूप हाड़ौती में मिलते हैं। इसी भाव को व्यक्त करने के लिये अस्तिवाचक सहायक क्रिया का वर्तमान निश्चयार्थ का रूप भी प्रयुक्त होता है, यथा, ऊ जावे छे, ऊ दौड़े छे।

ग. हाड़ौती का भूत निश्चयार्थ संस्कृत के भूतकालिक कृदंत से बना है। यहाँ क्रिया के लिंग-वचन सकर्मक क्रिया में कर्म के अनुसार होते हैं और कर्ता तृतीया में प्रयुक्त होता है। यथा, मने रोटी खाई, पर वर्तमान निश्चयार्थ में इससे भिन्न स्थिति है। यथा, म्हूँ रोटी खाऊँ छूँ। अकर्मक में कर्ता का अन्वय क्रिया के साथ होता है। यथा, म्हूँ दौड्यो, वा दौड़ी।

घ. हाड़ौती क्रियार्थक संज्ञा धातु के साथ—'बो' प्रत्यय या 'णू' प्रत्यय जोड़ने से संपन्न होती है, यथा, करबो, करणू।

ङ. वर्तमान कालिक कृदंत प्रत्यय 'तो' (पु०) और 'ती' (स्त्री०) है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और भूतकालिक कृदंत के प्रत्यय 'यो' (पु०) और 'ई' (स्त्री) है, जो धातु के साथ इस प्रकार लगते हैं—उग तो, खा-ती, खा-यो, खाई। काल रचना में ये कृदंत प्रयुक्त होते हैं। इनके अतिरिक्त मुख्य क्रिया के वर्तमान निश्चयार्थ के रूप भी सहायक होते हैं। इनके उदाहरण हैं—ऊचालतो होवैगो (भविष्य-अपूर्ण निश्चयार्थ), ऊचाल्यो छै (भूत-पूर्ण निश्चथार्थ) तथा ऊचालै छै (वर्तमान पूर्ण-निश्चयार्थ)।

च. प्रेरणार्थक धातु रूपों में—'आ' या 'वा' प्रत्यय मूल धातु के साथ लगते हैं। 'आ' के योग से सामान्य प्रेरणार्थक धातु बनती है, जब कि 'वा' प्रत्यय के योग से द्विगुणित प्रेरणार्थक धातु बनती है, यथा, पका-पक्वा, चुरा-चुर्वा।

छ. पूर्वकालिक क्रिया के हाड़ौती के रूप दो मिलते हैं—

धातु 'के' प्रत्यय के योग से संपन्न।

धातु 'अर्' प्रत्यय के योग से संपन्न।

इनके उदाहरण हैं—खाके, खार्। यदि धातु की द्विरुक्ति के उपरांत में, प्रत्यय प्रयुक्त हों तो उससे क्रिया की पुनः पुनःआवृत्ति का संकेत मिलता है, यथा, ऊ रो-रोर् थाक् ग्यो।

ज. हाड़ौती में संयुक्त क्रियाएँ भी पाई जाती हैं, जो मुख्य धातुके पूर्वकालिक कृदंत, भूतकालिक कृदंत, वर्तमान कालिक कृदंत और क्रियार्थक संज्ञा के साथ गौण क्रिया के काल रूपों को जोड़ने से बनती हैं, यथा, भाग्ग्यो, चालबू करे, देखतो रीजे और भागबो छावै।

हाड़ौती बोली है और बोली में वाक्य लघ्वाकारी होते हैं। इसलिये मिश्र तथा संयुक्त वाक्य कम सुनने में आते हैं, साधारण वाक्य ही प्रायः प्रयुक्त होते हैं, जो एक शब्द से लेकर छै-सात शब्दों तक के हो सकते हैं। यद्यपि बोलचाल में वाक्य में शब्द का स्थान निश्चित है—कर्ता + अन्य कारक रूप + कर्म + क्रिया, पर अर्थ-भेद व बल से स्थानों में परिवर्तन होता रहता है। म्हने रोटी खाई (सामान्य कथन); रोटी म्हने खाई (कर्म पर बल), वा आई (सामान्य कथन), आई नै वा (क्रिया पर बल)।

शब्द-क्रम बदलने पर कुछ अवस्थाओं में अर्थ बदल जाता है, जैसे, न्हार् कुत्तो खावे छे और कुत्तो न्हार् खावे छे।

वाक्यरचना के कुछ नियम इस प्रकार है—

१. भेद्य शब्द भेदक के पास रहता है—बाँदरा को बच्चो।

२. निजवाचक सर्वनाम पुरुषवाचक सर्वनाम के बाद में आता है—
तू आपणो काम् कर।

३. विशेषण विशेष्य से पूर्व आता है—कालो घोड़ो।

४. संयुक्त क्रिया में प्रधान क्रिया गौण क्रिया से पूर्व आती है—उठ्बैठ्यो।

*

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चयन

स्मृतियों में व्यवहारविधि

न्यायमूर्ति श्री हरिश्चंद्रपति त्रिपाठी

[प्रयाग उच्च न्यायालय–शताब्दि - संस्मारक ग्रंथ में प्रकाशित निबंध का छायानुवाद।]

सामाजिक व्यवस्था को ठोस आधार प्रदान करनेवाले मौलिक सिद्धांत, सत्य तर्क या प्रमाण और न्याय सदा अमिट और अपरिवर्तित हैं। हर युग और काल में वे वही रहे हैं और वही रहेंगे। प्रो० मैक्समूलर के शब्दों में वैदिक संहिताओं में (१०,००० से ५००० ई० पू०) ऋषियों द्वारा प्रगीत **ऋतम्** अथवा **सत्यम्** के गान 'मानवता की तोतली वाणी' के प्रतिनिधि हैं। प्राचीन गुरुकुलों से सामाजिक आचार के प्रति उन्मुख निर्गमनार्थी छात्रों को प्रथम तथा सर्वोच्च आदेश मिलता था—**सत्यान्न प्रमदितव्यम्**—सत्य मार्ग से कभी विचलित न होना।

स्मृतियों ने **सत्यान्नास्ति परो धर्मः** (सत्य का परिपालन आचरण की सर्वोच्च संहिता है) कहकर सत्य की महत्ता की संपुष्टि की। उपनिषदों ने कहा **एकं सत्यम् विप्रा बहुधा वदन्ति**—सत्य एकरूप होते हुए भी अनेकरूप होता है। धर्म की गति बड़ी सूक्ष्म है **धर्मस्य सूक्ष्मो गतिः**। इसे पाने के लिये पारखी दृष्टि की आवश्यकता है। सत्य क्या है, असत्य क्या है? मनुष्य को सत्य कब बोलना चाहिए? महाभारत में जब यह प्रश्न युधिष्ठिर ने पूछा तो भीष्म ने कहा—

तादृशोऽयमनुप्रश्नो यत्र धर्मः सुदुर्विदः।
दुष्करं चापि संख्यातुं तर्केणात्र व्यवस्यति॥

[तुमने जो प्रश्न मुझसे किया है, वह कठिन है। क्योंकि धार्मिकता या सत्य क्या है, यह कहना कठिन है। इसका वर्णन करना सहज नहीं है। —महा० शा० अ० १०५।६]।

वे आगे कहते हैं—

सत्यस्य वचनं साधु न सत्याद्विद्यते परम्।
यत्तु लोके सुदुर्ज्ञेयं तत्ते वक्ष्यामि भारत॥

१८ (७१-२)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भवेत्सत्यं न वक्तव्यं वक्तव्यमनृतं भवेत्।
सत्यानृतं भवेत्सत्यं सत्ये वाप्यनृतं भवेत्॥

[सत्य कहना धर्म है। सत्य से बड़ा कुछ नहीं। परंतु जहाँ असत्य सत्य के ऊपर प्रतिष्ठित रहे, वहाँ सत्य नहीं कहना चाहिए; बल्कि असत्य ही कहना चाहिए। —महा० शा० अ० १०६।४, ४ तथा ५।]

अरस्तू का कथन है—'विधि या तो सार्वदेशिक होती है या विशिष्ट। विशिष्ट विधि में वे लिखित विधान होते हैं जिनके द्वारा मनुष्य शासित होते हैं। सार्वदेशिक विधि में वे अलिखित विधान होते हैं जो सर्वजन-संमत होते हैं।' सामान्य अभिव्यंजना में विधि उस निश्चित नियमावलि को कहते हैं जिसका निर्माण समाज के द्वारा, समाज के लिये, समाज के सदस्यों के आचरण को नियमित करने के निमित्त उसके पूर्णतम विवेक के द्वारा होता है। विधि का प्राथमिक उद्देश्य है सत्यासत्य का विनिश्चय, न्याय की चरितार्थता तथा न्याय पर आधारित समाजव्यवस्था का पोषण। विविधशास्त्र किसी जाति की सर्वसंमत आचार संहिता के परिपालनार्थ प्रशस्त मार्ग प्रदान करता है। महाभारत का कथन है—

धारणाद्धर्ममित्याहुः तस्माद्धारयते प्रजाः।

सुनिश्चित मान्यताप्राप्त नियमावली जिसे साररूप में विधि कहते हैं, न्यायव्यवस्था में सहायक होती है क्योंकि यह व्यक्तिगत पथभ्रंश के विरुद्ध सुरक्षा प्रदान करती है। सार्वजनिक रूप से उद्घोषित सिद्धांतों की संपुष्टि पर्याप्त मात्रा में न्यायव्यवस्था की रक्षा करती है। विधि किसी व्यक्ति का विचार नहीं करती। अतः इसे सुनिश्चित और एकरूप होना पड़ता है। अरस्तू ने कहा है—'विधि से अधिक बुद्धिमान की कल्पना ही वह वस्तु है जिसका निषेध सभी परिनिष्ठित विधियों में हुआ है।' न्यायवितरण में वैधिक सिद्धांतों की बाध्यता के लिये केवल एकरूपता और निश्चितता ही अपेक्षित नहीं है वरन् उनके लागू करने में व्यवहार या प्रक्रिया भी आवश्यक है। इस प्रक्रिया और साक्ष्य के निश्चित नियमों का बड़ा महत्व है। इनसे न्यायालय को सत्य की गुत्थियाँ सुलझाने में, विधि के ठोस नियमों को लागू करने में और विवादग्रस्त प्रश्नों का निर्णय करने में सहायता मिलती है।

मानव सभ्यता के उषाकाल में (प्रायः १००० से ५०० ई० पू० के मध्य) उदित होनेवाले प्राचीन स्मृति साहित्य में हमें व्यावहारिक तथा आपराधिक प्रक्रिया की विशद नियमावलि तथा साक्ष्य के विस्तृत नियम मिलते हैं। इनमें कुछ व्यवस्थाओं का, आधुनिक साक्ष्य तथा व्यवहार विधान के समानांतर नियमों के साथ ध्यान देने योग्य साम्य है। विस्तार भय से यहाँ उनका विशद सारांश देना संभव नहीं। परंतु

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उदाहरण स्वरूप मनु के धर्मशास्त्र (डा० गंगानाथ झा संस्करण) से कतिपय उद्धरण दिए जा रहे हैं जो स्मृतियों में अति प्राचीन तथा प्रामाणिक हैं।

न्यायालय का गठन

सोऽस्य कार्याणि पश्येत सभ्यैरेव त्रिभिर्वृतः।
सभामेव प्रविश्याग्र्यामासीनः स्थित एव वा॥

- अ० ८, श्लो० १०

[न्यायाधीश न्यायालय में तीन व्यवस्थाकुशल पंडितों के साथ गुरु गंभीर मुद्रा में प्रवेश करे और न्यायपीठ पर आसीन होने के उपरांत वादों का परीक्षण करे।]

आधुनिक खुले न्यायालय तथा जूरी विधान के साथ यह व्यवस्था तुलनीय है।

वाद का आरंभ

धर्मासनमधिष्ठाय संवीताङ्गः समाहितः।
प्रणम्य लोकपालेभ्यः कार्यदर्शनमारभेत्॥

—अ० ७, श्लो० २३।

[भली प्रकार वस्त्र धारण किए हुए शरीर तथा विकाररहित चित्त से न्याय पीठ पर बैठकर न्यायासन के अधिष्टातृ देवता को नमस्कार कर (न्यायाधीश) विचार में प्रवृत्त हो।]

यहाँ न्यायाधीश की पोशाक तथा न्यायिक संतुलन का महत्व ध्यान देने योग्य है।

न्यायप्रक्रिया (व्यहारविधि) संबंधी सामान्य नियम

सत्यमर्थं च संपश्येद् आत्मानम् अथ साक्षिणम्।
देशं रूपं च कालं च व्यवहार विधौ स्थितः॥
यथानयत्यसम्पातैः मृगस्य मृगयुः पदम्।
नयेत्तथाऽनुमानेन धर्मस्य नृपतिः पदम्॥

—वही, श्लो० ४४–४५

[न्याय-कार्य में संलग्न न्यायाधीश सत्य पर, उद्देश्य पर, अपने पर, साक्षी तथा स्थान एवं काल और परिस्थिति पर दृष्टि रखे। जिस प्रकार अहेरी मृग की रक्त-बिंदुओं तथा पदचिह्नों के सहारे अन्वेषण करता है उसी प्रकार निष्कर्ष के द्वारा न्यायाधीश को सत्य का अन्वेषण करना चाहिए। दूसरे शब्दों में न्यायाधीश उन्मुक्त मस्तिष्क के साथ विचाराधीन विषय, उसके वातावरण, उसकी परिस्थितियों तथा साक्ष्य पर विवेकपूर्ण दृष्टि रखे, (इस प्रकार) स्पष्ट (साक्षात्) तथा परिस्थित्यात्मक साक्ष्य एवं तर्क पुष्ट निष्कर्षों के आधार से वह सत्य तक पहुँच सकेगा।]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रमाण

आप्ताः सर्वेषु वर्णेषु कार्याः कार्येषु साक्षिणः।
सर्वधर्मविदोऽलुब्धाः विपरीतांस्तु वर्जयेत् ॥
नार्थ सम्बन्धिनो नाप्ता न सहाया न वैरिणः।
न दृष्ट दोषाः कर्तव्या न व्यध्याता न दूषितः ॥

—अ० ८, श्लो० ६३-६६

[समस्त व्यावहारिक वादों में जाति-भेद का विचार किए बिना विश्वसनीय, चारित्र्य से अवगत तथा पक्षपात या रागद्वेष से मुक्त जनों को साक्षी बनाना चाहिए। निहितस्वार्थजन, वादी के सहायक अथवा संबंधी, सिद्ध अनाचारी, अवयस्क, मद्याभिभूत अथवा नष्टप्रज्ञ अथवा किसी राग या द्वेष से अनुतप्त भावनावाले, गृहत्यागी (विरक्त) या न्यायाधीश साक्ष्य में न बुलाए जायँ। यदि उचित साक्षी न मिल सकें तो वाद में अवयस्क या निहित स्वार्थ जन साक्ष्य दे सकते हैं। यदि घर के भीतर अथवा घने जंगल में अपराध हुआ हो अथवा शारीरिक क्षति की अवस्था में घटना का ज्ञान रखनेवाला कोई व्यक्ति किसी पक्ष से साक्ष्य दे सकता है।]

साहसेषु च सर्वेषु स्तेय संग्रहणेषु च।
वाग्दण्डयोश्च पारुष्यं न परीक्षेत् साक्षिणः ॥

[हिंसात्मक आपराधिक वादों, चोरी, व्यभिचार, आक्रमण आदि में साक्षियों के आचरण का परीक्षण नहीं किया जायगा।]

यह व्यवस्था साक्ष्य अधिनियम की धारा ५४ से तुलनीय है।

प्रमाण स्पष्ट होना चाहिए

समक्ष दर्शनात्साक्ष्यं श्रवणाच्चैव सिध्यति।
तत्र सत्यं ब्रुवन्साक्षी धर्मार्थाभ्यां न हीयते ॥

—श्लो० ७४।

[जिस व्यक्ति ने वाद की संगति में जैसा देखा या सुना हो उसे ठीक वही कहना चाहिए जो उसने देखा था सुना हो।]

प्रमाण संगत हो

स्वभावेनैव यद्ब्रूयुस्तद् ग्राह्यं व्यावहारिकम्।
अतोयदन्यद्विब्रूयुः धर्मार्थं तदपार्थकम् ॥

—श्लो० ७८

[विचार्य विषय की संगति में साक्षी जो कुछ स्वभावतः कहे केवल उसे ही ग्रहण करना चाहिए, आचार आदि की दृष्टि से वह जो कुछ कहता है वह व्यर्थ है।]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साक्षियों का परीक्षण

सभान्तः साक्षिणः प्राप्तानार्थिप्रत्यर्थि सन्निधौ।
प्राड् विवाकोऽनुयुंजीत विधिनानेन सान्त्वयन्॥

—श्लो० ७६

[शपथ ग्रहण के उपरांत न्यायाधीश वादी प्रतिवादियों की उपस्थिति में साक्षी से मधुर भाषा में प्रश्न करता हुआ कहे कि वाद के संबंध में वे जो कुछ जानते हों निर्बाध तथा सत्यतः कहें ।]

साक्ष्य का मूल्यांकन

वाह्यै विभावयेऽल्लिङ्गैर्भावमन्तर्गतं नृणाम्।
स्वरवर्णाङ्गिताकारैश्चक्षुषा चेष्टितेन च॥
आकारैरिङ्गितैर्गत्या चेष्टया भाषितेन च।
नेत्र वक्त्र विकारैश्च गृह्यतेऽन्तर्गतं मनः॥

—श्लो० २५-२६

[वह (न्यायाधीश) बाहरी भंगिमा, स्वर के उतार चढ़ाव, चाल ढाल तथा रंग ढग एवं नेत्रों में दृष्टि डालकर साक्षी की अंतर्मनस्थिति का अध्ययन करे, क्योंकि इस अंतर्मन के उतार चढ़ाव नेत्रों में झलकते हैं ।]

साक्षियों की चाल ढाल, रंग ढंग के द्वारा न्यायाधीश द्वारा निष्कर्ष ग्रहण करने के संबंध में यहाँ विस्तृत निर्देश हैं ।

एकांगी आदेश

किसी व्यावहारिक वाद में यदि कोई प्रतिवादी तीन पखवारों तक, कोई उचित कारण बताए बिना, आरोपित प्रश्नों का उत्तर देने के लिये उपस्थित न हो तो उसके विरुद्ध आनुपातिक व्यय सहित एकांगी आदेश दे दिया जाय।

जहाँ वाद में मौखिक या लिखित साक्ष्य न हो वहाँ उभय पक्ष को शपथ दिलाकर वाद का निर्णय किया जा सकता है।—श्लो० १०७ और १०१

निर्णय

जाति जानपदान् धर्मान् श्रेणी धर्मांश्च धर्मवित्।
समीक्ष्य कुलधर्मांश्च स्वधर्मं प्रतिपादयेत्॥

[धर्मज्ञ न्यायाधीश प्रत्येक वादी के संबंध में प्रांतीय, नैगम तथा कुलधर्मों का निरीक्षण परीक्षण करते हुए अपनी व्यवस्था (निर्णय) निश्चित करे।]

दूसरे शब्दों में वादों के निर्णय में उपयुक्त विधान को लागू करने में न्यायाधीश प्रांतीय विधान तथा नैगमिक और पारिवारिक विधानों को ध्यान में रखे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आपराधिक वाद : दंडव्यवस्था

अनुबन्धं परिज्ञाय देशकालौ च तत्त्वतः।
सारापराधौ चालोक्य दण्डम् दण्ड्येषु पातयेत्॥
—श्लो० १२६

[अपराध का उद्देश्य, समय और स्थान निश्चित करने के उपरांत तथा कब और कहाँ अपराध किया गया, इसको तथा अपराधी की दशा एवं अपराध के स्वरूप को ध्यान में रखते हुए न्यायाधीश अपराधी को दंड प्रदान करे।]

आपराधिक आरोपों में न्यायकर्ता न्यायाधीश के दृष्टिगत रहने योग्य सभी संगत विचारणीयों का पर्याप्त उल्लेख इस श्लोक में हुआ है।

वाग्दण्डं प्रथमं कुर्य्यात् धिक्दण्डं तदनन्तरम्।
तृतीयं धनदण्डम् तु वधदण्डम् अतः परम्॥
—श्लो० १२९

[सर्वप्रथम वह चेतावनी का दंड दे, तदुपरांत भर्त्सना, तीसरे प्रकार में अर्थदंड और अंत में शारीरिक दंड की व्यवस्था करे।]

यहाँ वधदंड का अभिप्राय शारीरिक दंड से है, अनिवार्यतः प्राणदंड से नहीं। इससे स्पष्ट है कि शारीरिक दंड की व्यवस्था चरम उपाय के रूप में ही थी, जब चेतावनी, भर्त्सना और अर्थ दंड न्याय के उद्देश्य में अपर्याप्त हों। अपराधियों के प्रति इससे अधिक मानवीय विधि का मिलना कठिन है।

मनु ने १८ शीर्षकों में वैधिक विवाद के आधारभूत हेतुओं का विशद वर्णन किया है—संपत्ति, ऋण, अनुबंध, पण्यविक्रय, विभाजन, साझेदारी, स्वामि-सेवक-विवाद, भूस्वामी तथा कृषक विवाद, सीमासंबंधी विवाद तथा आपराधिक प्रहार के आरोप, चोरी, हिंसा, व्यभिचार, जुआ तथा शर्त लगाना।

मनु से कई शताब्दी परवर्ती नारद और बृहस्पति वैधिक व्यवहार का पूर्णतर वर्णन एवं विस्तृत सूची प्रस्तुत करते हैं। नारद ने वादपत्र के सात दोष गिनाए हैं। बृहस्पति ने वादपत्र, लिखित उत्तर तथा विरोधी पक्ष को दी जानेवाली प्रश्नावली की विधि पर विचार किया है। बृहस्पति ने 'युक्ति' अर्थात् वाद-विषयों में न्यायिक सिद्धांतों के प्रयोग में तर्क के औचित्य पर बल दिया है। उनका कथन है, 'उचित तर्क से रहित होकर केवल शुद्ध लिखित विधान के आधार से किए गए न्याय से स्वयं धर्म की हानि होती है।' यथा—

केवलं शास्त्रमाश्रित्य न कर्तव्यो विनिर्णयः।
युक्तिहीने विचारे तु धर्महानिः प्रजायते॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विभिन्न स्मृतियों (याज्ञवल्क्य, नारद, वसिष्ठ आदि) में वर्णित साक्ष्य-विधान तथा वैधिक व्यवहार का विशद वर्णन इस निबंध की सीमा में नहीं है। कतिपय उदाहरणों द्वारा यहाँ यह दिखाने का प्रयास किया गया है कि प्राचीन हिंदू धर्मशास्त्रकार न्यायव्यवस्था के आधारभूत व्यवहार और साक्ष्य के महत्व के प्रति कितने जागरूक थे।

*

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निर्देश

संस्कृत

सारस्वती सुषमा, वाराणसी, वर्ष २१, अंक २, सं० २०२३

कामस्य शृंगाररसे परिणतिः — श्री रमाशंकर जैतली ।

आयुर्वेददर्शनम्—श्री कैलाशपति पांडेय ।

तत्त्वकौमुदी पाठ विमर्शः — डा० रामशंकर भट्टाचार्य ।

हिंदी

परिशोध, अंक ५ (गुरु गोविंदसिंह विशेषांक); पंजाब विश्वविद्यालय, चंडीगढ़ ।

गुरु गोविंदसिंह के काव्य में कृष्ण बाललीला वर्णन—डा० संसारचंद ।

गुरु गोविंदसिंह के काव्य में अस्त्र-शस्त्र—डा० भुवनेश्वरप्रसाद गुरुमैता ।

दशम ग्रंथ के संदर्भ में चंडी की परिकल्पना—डा० मनमोहन सहगल ।

जैन सिद्धांत भास्कर, आरा, भा० २४, अंक २, जुलाई, १९६५

साधु सुंदर रचित धातु रत्नाकर वृत्ति — श्री अगरचंद नाहटा ।

जैन न्याय की एक अप्रकाशित पुस्तिका : प्रमेय कंठिका—श्रीगोपीलाल अमर ।

जैन दर्शन में द्रव्यव्यवस्था—डा० कामताप्रसाद जैन ।

प्रज्ञा, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, खंड १२ (१) अक्टूबर १९३९

भारतीय पंचांग—श्री राजमोहन उपाध्याय ।

अंगरेजी

वही, खंड १२ (१), अक्टूबर, १९६६

सम रेयर पर्शियन मैनस्क्रिप्ट्स आव् द बी० एच० यू० लाइब्रेरी । का० वि० वि० पुस्तकालय में संगृहीत कुछ अलभ्य फारसी हस्तलेखों का विवरण ।

*

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समीक्षा

सवेरा संघर्ष गर्जन

लेखक—डा० भगवतशरण उपाध्याय; प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ, दुर्गाकुंड मार्ग, वाराणसी; आकार ड०क्रा० १६पेजी; पृष्ठ २४४; मूल्य ७)।

इस पुस्तक में मानवता के इतिहास की कहानी लिखी गई है। लेखक का यह कहना कि देशी या विदेशी किसी भाषा में इस ढंग की पुस्तक नहीं निकली है, ठीक नहीं है। मानवता के इतिहास की कहानी वेल्स ने लिखी उससे भी अधिक कहानी का रूप दिया हेनरिक फोन लून ने। यह अवश्य कहा जा सकता है कि इस पुस्तक में लेखक की अभिव्यक्ति का ढंग नया है। अंगरेजी की पुस्तक 'चाइल्डहुड आव द वर्ल्ड' भी कहानी के रूपों में ही लिखी गई है। किंतु उसमें इतिहास का मध्य तथा आधुनिक युग छोड़ दिया है।

मानवता का प्रारंभिक इतिहास अंधकार में विलीन है। वैज्ञानिक, नृशास्त्री, तथा भूशास्त्रियों के सहारे ही जो कुछ बन सका बना है। कोई भी एक आदमी यह तीनों नहीं हो सकता या उसका हो सकना कठिन है। आज का इतिहासकार यदि विश्व के विकास तथा उसकी संस्कृति की प्रगति का इतिहास लिखता है तो निश्चय ही उसे इन विद्वानों का सहारा लेना पड़ता है। यह संभव नहीं कि उपाध्याय जी ने सब तथ्य खोज निकाले हों। उन्हें दूसरे लेखकों तथा पुस्तकों से सहायता लेनी ही पड़ी होगी। खेद है कि इसका उन्होंने कहीं उल्लेख नहीं किया है।

उपाध्याय जी की जो विशेषता इस पुस्तक में है वह है उस इतिहास को सजीव कहानी का रूप देना। इस इतिहास की कहानी को तीन खंडों में बाँटा गया है। पहला भाग है गर्जन। इसमें पहली कहानी 'सवेरा' में लेखक लिखता है— उषा ने जब प्राची गगन के द्वार खोले कनकतारों से गुहा का अन्तरतम भासमान हो उठा। नारी एक कुलाँच भर द्वार पर आ खड़ी हुई। धीरे-धीरे नर भी बाहर निकला कंधे से परिवार लपेटे, दो कुमारों तीन कुमारियों का। मानव सभ्यता के इतिहास का यह प्रारंभ बिल्कुल गलत है। जिसने इस विषय पर पुस्तकें नहीं पढ़ी हैं वह बहुत मिथ्या धारणा बना लेगा। परिवार का आरंभ बहुत बाद में मानव के इतिहास में हुआ है। यह नितांत सत्य है कि गुफा जीवन के आरंभ के पहले मनुष्य भी पशुओं के समान रहता था और बच्चों को माता के पास ही छोड़ देता था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह सब आज के इतिहासकार ने देखा नहीं, उसने कल्पना तथा प्रमाण के बल पर लिखा है। फिर भी बुनियाद तो वैज्ञानिक होनी चाहिए। कम से कम आरंभ का एक अध्याय उपाध्याय जी छोड़ गए। इससे पुस्तक भ्रामक हो गई है।

जिन ऐतिहासिक घटनाओं को उपाध्याय जी ने व्यक्त किया है उनमें भी मतभेद है। उपाध्याय जी के अनुसार ऋग्वैदिक सभ्यता सिंधुघाटी सभ्यता के बाद आई है। अनेक पश्चिमी इतिहासकार यही मानते हैं। अनेक भारतीय इतिहासकार इसे ठीक नहीं मानते। विवादास्पद विषय है, विद्वानों में भी। उपाध्याय जी ने पाश्चात्य विद्वानों का ही आधार लिया है। इस पुस्तक को मानवता का इतिहास माना गया है। परंतु यूनान, रोम, मिश्र, ईरान, बेबिलोनिया, काल्डिया, सीरिया आदि के ऐतिहासिक विकास को प्रकाशित नहीं किया गया है। अच्छा होता यदि इसका नाम भारतीय सभ्यता के विकास की कहानी होता। भारतीय इतिहास में भी चरक तथा नागार्जुन के समय तक की ही कथा कही गई है। भारतीय सभ्यता का विकास भी वहीं समाप्त नहीं हो जाता। जहाँ तक मानव इतिहास की सभ्यता के विकास की कहानी का संबंध है यह पुस्तक निराशाजनक है। यह कहा जा सकता है कि लेखक ने समय-समय पर जो इस विषय से संबंधित कहानियाँ या लेख लिखे हैं उनका संकलन है। इस दृष्टि से लेख सुंदर हैं, शैली आकर्षक है और उसमें साहित्यिक छटा है। समय की पाबंदी नहीं रखी गई है। पुस्तक इतिहास की भले ही न हो, आकर्षक भाषा में कथा की विधा में जिन ऐतिहासिक तथ्यों को रखने का प्रयत्न किया गया है वह मनोहर है। इस ढंग से ऐतिहासिक घटनाओं को रखने का हिंदी में यह नया प्रयास है। इसलिये हम इसका स्वागत करते हैं।

—कृ० प्र० गौ०

अस्तंगता

लेखक–श्री भिक्खु; प्रकाशक–भारतीय ज्ञानपीठ, दुर्गाकुंड मार्ग, वाराणसी; आकार ड० क्रा० १६ पेजी; पृष्ठ ३१८; मूल्य ६)।

अस्तंगता उपन्यास है जिसकी कथा बंबई से गोआ की राजधानी पंजिम जाते हुए रोहिदास नामक जहाज पर आरंभ होती है। और पंजिम जाते जाते समाप्त होती है। एक यात्री को रूथ नाम की महिला जहाज पर मिलती है। यात्री उसकी ओर आकृष्ट होता है। आभास ऐसा होता है कि दोनों में रोमांस का बीज बोया जारहा है। इस बीच रूथ अपनी जीवनगाथा युवक यात्री को सुनाती है। मूल उपन्यास वही है। रूथ का जीवन दुःख, पीड़ा और मार्मिकता से भरा हुआ है। वह अविवाहित प्रेम से उत्पन्न बालिका है। जिसे उसकी माता ईसाई अनाथालय में छोड़ जाती है उसमें ऐसे ही बालक तथा बालिकाएँ पलती हैं। रूथ का जीवन, वहाँ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ईसाई धर्म से प्रभावित होता है। फिर उसे एक परिवार गोद ले लेता है। जिस परिवार में वह गोद ली जाती है उसमें और भी बच्चे हैं। रूथ समझती है कि है कि यहाँ हमारे साथ परिवार के सदस्य के समान व्यवहार होगा किंतु वह नौकर की भाँति रखी जाती है और एक रात उस परिवार का मालिक सिन्योर परेरा उसके साथ बलात्कार करता है। रूथ इस पाशव व्यवहार से चुड़ैल नागिन बन जाती है। और बदला इस प्रकार लेना चाहती है कि पिता तथा पुत्र दोनों से प्रेम जताने लगती है और दोनों एक दूसरे के अंदर अंदर प्रतिद्वन्द्वी हो जाते हैं। अब रूथ की खातिर होने लगती है। उसका संमान होने लगता है। एक दिन पता चलता है उस घर की मालकिन सिन्योरा परेरा ही उसकी माँ है जो अपने पाप को छिपाने के लिये उसे अनाथालय में छोड़ आई। उसकी माँ को यह भी पता चल जाता है कि उसका पति रूथ से प्रेम करता है। कथा में और भी मोड़ आते हैं और एक दिन बंबई में डाक्टर मांतेरियों के यहाँ जहाँ रूथ उस समय रहने लग गई थी यह भी पता चलता है कि वह डाक्टर ही उसका पिता है जो दुर्बलता के कारण अविवाहित जीवन के पहले के प्रेम की संतान को स्वीकार करने में असमर्थ था। अंत में रूथ गोआ के स्वतंत्रता संग्राम में संमिलित होती है, जेल जाती है और जब गोआ स्वतंत्र होता है तब छूटती है। और तभी जहाज पंजिम पहुंच जाता है। यह हुआ कथा का सार।

रूथ के जीवन में घटनाएँ एक के बाद चली आती हैं जिनका वर्णन लेखक ने मनोरंजक ढंग से ही नहीं, हृदयस्पर्शी ढंग से किया है। ईसाई वातावरण में पली लड़की ईसा और मरियम पर विश्वास करती हुई उदारमना है और जीवन के वास्तविक पक्ष को समझती है। वह कुछ दिनों के लिये 'नन' भी बनी पर वहाँ पागल हो गई क्योंकि वह सिन्योर परेरा जो उसे गोद लाया था, उसके बलात्कार को वह स्वीकार न कर सकी।

इसमें संदेह नहीं कि रूथ के जीवन में जो घटनाएँ घटीं वैसी होती रहती हैं सिन्योर परेरा जैसे चित्र संसार में पाए जाते हैं। और उसके पुत्र जैसे भी। संभव है है कुछ लोगों को रूथ के जीवन का वर्णन कहीं-कहीं ऐसा लगे जिसे लोग अश्लील कहते हैं। यहाँ मैं अश्लील का विवेचन नहीं कर सकता किंतु एक मूर्धन्य अंगरेजी कलाकार आस्कर वाइल्ड का यह कथन उद्धृत करना चाहूँगा—'देयर इज नो सच थिंग ऐज़ ए मारल आर ऐन इम्मारल बुक। बुक्स आर वेल रिट्न आर बैडली रिट्न। दैट इज़ आल।' और मेरे विचार से यह 'वेल रिट्न बुक' है। शिक्षा देने के लिये पुस्तक नहीं लिखी गई है। उपन्यास शिक्षा देने के लिखा जाय, यह मैं नहीं मानता। उसके लिये धर्मग्रंथ पड़े हुए हैं। उपन्यास तो समाज का चित्रण है। कलाकार की विशेषता इसी में है कि वह किस प्रकार चित्र का अंकन करता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। सिन्योरा परेरा जो रूथ की माँ है तथा डाक्टर मांतेरियों जो उसके पिता हैं, चरित्र के दुर्बल हैं किंतु उनमें मानवता कूट-कूट कर भरी है। उनका अपनी पुत्री से प्रेम और हृदय की विशालता उनके पुराने पापों को धो डालती है। जहाँ सिन्योर परेरा का चरित्र यथार्थ है वहाँ सिन्योरा परेरा तथा डाक्टर मांतेरियो का चरित्र आदर्श है।

और भी चित्र हैं जैसे रोजी का। वह भी सुंदर है। सेक्स के संबंध में वह पुराने बंधनों से अलग है जान-बूझकर, किंतु सामाजिक जीवन उसका बहुत ऊँचा है। सेक्स के बंधनों को आंकने के लिये अलग अलग मूल्य हैं, अलग-अलग दृष्टि है। पाठक अपने मन के अनुसार धारणा बना सकते हैं। किंतु कलाकार की लेखनी की सुंदरता निर्विवाद है।

एक घटना कुछ अस्वाभाविक सी जान पड़ती है। यह तो संभव हो सकता है कि संयोग से रूथ की माता सिन्योरा परेरा मिल जाय किंतु फिर उसके पिता डाक्टर मंतेरियो भी मिल जाते हैं, उसका प्रेमी भी किसी न किसी भाँति मिल जाता है। यह सब पुरानी कहानी की भाँति, जिसमें 'ड्रामेटिक जस्टिस' आवश्यक होती थी, है। जो कुछ भी हो यह उपन्यास सुंदर है, पठनीय है, कला की दृष्टि से पूर्ण है।

—कृ० प्र० गौ०

वह नन्हा सा आदमी

लेखक—सुमंगल प्रकाश; प्रकाशक – भारतीय ज्ञानपीठ, दुर्गाकुंड मार्ग, वाराणसी; आकार डि० क्रा० सोलह पेजी; पृष्ठ २७६; मूल्य ६)।

यह पुस्तक लालबहादुर शास्त्री का संस्मरण है। लेखक का उनका काफी सांनिध्य रहा है और उसने उनके संबंध में अपना यह संस्मरण पुस्तक के रूप में प्रकाशित किया है। जीवनचरित यह नहीं है जैसा कि लेखक ने आरंभ में लिख दिया है। किसी का जीवनचरित लिखना कठिन काम है विशेषतः जब लेखक अपने नायक के अति निकट रहा हो। तटस्थ रहना साधारण काम नहीं है। विदेशों में संस्मरण लिखने की प्रणाली कम है। सबसे सुंदर सच्चा संस्मरण बासवेल ने डाक्टर जांसन का लिखा है। संसार में वैसा संस्मरण आजतक लिखा नहीं गया। संस्मरण में स्वभावतः लेखक की अपनी भी जीवनचर्या आजाती है। यह स्वाभाविक है। संस्मरण तो उन्हीं बातों, घटनाओं का हो सकता है जो आपके साथ बीती हों। सुमंगलप्रकाश जी का संपर्क लालबहादुर शास्त्री से अधिक रहा है, समय-समय पर उनके साथ यात्रा भी की; जब शास्त्री जी उत्तर प्रदेश में गृह मंत्री थे तब भी वह उनसे मिला करते थे; मंत्री होने के पहले दिल्ली भी उनके साथ गए और रहे थे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बराबर उनके यहाँ जाया करते थे। पुस्तक से ज्ञान पड़ता है उनका तथा शास्त्री जी का निकट का संबंध था। ऐसे लेखक की लेखनी से जो बात निकलेगी उसमें सचाई तो होगी ही, उसमें बहुत सी ऐसी बातों का पता भी चल जायगा जो साधारणतः जनता को ज्ञात नहीं है।

लालबहादुर शास्त्री संसार के उन जीवों में थे जिन्होंने साधारण गरीब परिवार में जन्म लेकर साधारण शिक्षा पाकर निज तपस्या के बलपर अपनी उन्नति तथा अपना विकास किया। उनके अनेक संगी साथी अभी जीवित हैं जिन्होंने उन्हें निकट से देखा है, उनके साथ रहे हैं, सार्वजनिक जीवन में उनसे कंधे से कंधा मिलाकर काम किया है। उनमें से किसी ने लालबहादुर शास्त्री के संबंध में नहीं लिखा। यदि सुमंगलप्रकाश जी ने यह पुस्तक न लिखी होती तो शास्त्री जी के चरित्र की अनेक विशेषताएँ अप्रकाशित रह जातीं क्योंकि एक तो उन लोगों को पता नहीं जिन्होंने इनका जीवनचरित लिखा है दूसरे अधिकांश जीवनचरितों में उनकी निजी कमजोरियाँ या गुणों को जगह नहीं दी गई है। इस पुस्तक के आधार पर चाहे आगे लोग और विस्तृत जीवनवृत्त लिखें।

इस पुस्तक में केवल शास्त्री जी के चरित्र का ही ज्ञान आपको नहीं होता। वह शासन तथा संगठन से इतने संबंधित थे कि उनके साथ रहनेवाले इन बातों की गतिविधि से दूर नहीं रह सकते थे। सुमंगलप्रकाश जी ने कांग्रेस कमेटी की बैठकों में उनके रवैया, उनके निर्णयों का भी कब कब और क्यों उन्हें संगठन तथा उसके कार्यों से वितृष्णा हुई, कैसे शास्त्री जी सुधार चाहते हुए भी असमर्थ रहे, देखा। सभी मंत्रियों के समान शास्त्रीजी समय की पाबंदी नहीं कर सकते थे। केवल नेहरू जी अपवाद थे। इसपर उन्होंने मार्मिक बात यह बताई जिसका जिक्र सुमंगलप्रकाशजी ने किया है। शास्त्रीजी का कहना था कि जो लोग आते हैं उनकी बात तो कम से कम सुन ही लेनी चाहिए और इसी सुनने में उन्हें देर हो जाती थी। जिस रोग को जानते हुए भी दूर नहीं कर सकते थे। उन्होंने कहा था—इतना भी कभी कभी काफी हो जाता है इन बेचारों के लिये। और इसीलिये अपने कैबिनेट के साथियों से मैं बराबर कहता आया हूँ कि थोड़ा वक्त जरूर वह इस काम के लिये रोज रखें जब कि जो चाहे उनके पास आ सके और अपनी बात कह सके। और बातों के साथ साथ उनकी लोकप्रियता का यह भी कारण है। पुस्तक बड़ी सचाई के साथ लिखी गई है और देश के एक महान नेता के संबंध में अच्छा परिचय इससे प्राप्त होता है।

—कृ० प्र० गौ०

अठारह सूरज के पौधे

लेखक—रमेश बक्षी; प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ, दुर्गाकुंडरोड, वाराणसी; आकार ड० क्रा० १६ पेजी; पृष्ठ १४०; मूल्य ३)।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आदि से अंत तक अनिच्छा होते हुए भी किसी प्रकार उपन्यास पढ़ गया पर कुछ समझ न आया, तब दोनों फ्लैपों पर जो कुछ पढ़ा उससे और आरंभिक लेखकीय वक्तव्य से जो समझ पाया उससे यह ज्ञात होता है कि यह एक ऐसे व्यक्ति की कहानी है जो यात्रा-पथ-विवरण के अनुसार कल्याण को केंद्र बनाकर पठानकोट से पुणे तक फैली हुई है। एक चित्र धूमिल सा रेल के किनारे कोयला बीननेवालों के साथ एक बालक का आता है। फिर एक साधारण परिवार का, सरसों का तेल लगानेवाली पत्नी और भैंस के दूध का व्यवसाय करनेवाले श्वसुर का, अरुणा, भाऊ आदि परिचित स्वजनों का। पर ये सब उसकी निगाह में परंपरावादी और दकियानूसी विचार के होने से घृणित एवं तिरस्कृत हैं। उनमें वह चित्र नहीं है जिसकी अनुभूति वह करता रहा और जो उसकी ग्रामीण पत्नी के अंतर्मन में भाऊ के कारण प्रविष्ट है। इससे ऊब या खीझ होना और उसके कारण निरंतर गतिशील होना, निरंतर गतिमय रहना ठीक भी हो सकता है। पर, गतिशील पदार्थ पर बैठकर स्थिर के बारे में यह सोचना और देखना कि सब हमसे विपरीत जा रहे हैं, और इसी में पुरानी धारणाओं और चिंतन को विघटित और दकियानूस देखना एकदम उलटवाँसी हो जाती है। वस्तुतः यह देखना भ्रम है, उसी प्रकार जैसे नौकारूढ़ जग को चलते देखता है।

खेद है कि यह मिथ्यावादिता और पलायन नई पीढ़ी का मूल स्वर हो उठा है, और साथ ही परंपरा के प्रति यह घृणा भी। यह घृणा केवल लिखने कहने के लिये है और केवल इसी लिये कि यह नई पीढ़ी और नई धारणाओं के राजनीतिक साहित्यिक बिजनेस की दकियानूसी और एकदम नएपन की हौंस से ग्रस्त हैं; परिणामतः कोई सुस्पष्ट विचार नहीं दे पाती। रह जाती है व्याख्या, वह चाहे जैसी की जा सकती है। उसे दार्शनिकता का जामा नई पीढ़ी पहनाती है अपने वागाडंबर द्वारा, पर नएपन की हौंस में यह नहीं ख्याल रख पाती कि यह दार्शनिकता का जामा उसे परंपरावादी बना देता है।

रूढ़िवादी और दकियानूस लोग किस समाज में नहीं हैं; पर जीवन में जिस तरह अनेक संबंधों में उलझे सुलझे स्वतंत्र व्यक्ति की तरह दिखाई देते हैं, उसी प्रकार परिवेश सहित उसको उपस्थित करना कथाशिल्पी का प्रमुख कर्म है। लेखक का भी विरोध को बल देना कौशल की अपरिपक्वता है। पात्र स्वचालित ही भले, अन्य पात्रों तथा लेखक द्वारा परिचालित पात्र पात्रता खो बैठते हैं और जीवन निष्प्राण हो जाता है। ट्रेन से लंबी यात्रा करने में जिस तरह एक खीझ, अन्यमनस्कता और ऊब होती है, ठीक वही इस उपन्यास के पढ़ने में। इससे अधिक इस उपन्यास पर और क्या कहा जाय।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गीतों का ताजमहल

लेखक— वीरकुमार 'अधीर'; प्रकाशक —प्रतिभा प्रकाशन; देहरादून; आकार रायल ८ पेजी; पृष्ठ ६४; मूल्य ३)।

गीतों का ताजमहल कवि के ५१ गीतों का संकलन है। आज के युग में जब नई कविता की धूम है, गीतकार जो वस्तुतः गीतकार हैं, अपना नयापन, अपने भावबोध और अपने कथ्य गीत को ही आधार बनाकर देते जा रहे हैं। स्वकल्पित तथा अर्जित आत्मधारणा एवं स्वानुभूति प्रत्येक की अपनी स्वतंत्र होती है, पर कवि का अनुभव और उसकी सबल अभिव्यक्ति जनमानस की हो उठती है। 'धरातल पर' शीर्षक से भूमिका के द्वितीय अनुच्छेद में कवि ने जो सुस्पष्ट विचार दिए हैं वे तथा 'काव्य क्या है', 'साहित्यकार' आदि रचनाएँ कवि के दृष्टिकोण को व्यक्तित्व प्रदान करती हैं। 'इंसानियत इंसान पर हँसने लगी', 'बीसवीं सदी के कीट्स' आदि रचनाएँ भी इसी क्रम में आती हैं। सुगठित शब्दयोजना और नई उपमाओं एवं रूपकों के माध्यम से भावों की सहज अभिव्यक्ति करनेवाले कवि के लिये यह आवश्यक नहीं कि वह यह जानना चाहे कि लोग बाग उसके देखने को देख पाए या नहीं। कवि की यह भावना उसके जीवन में एक ठहराव, गतिरोध पैदा कर देती है और फिर वह कवि न रहकर अपनी रचनाओं का विश्लेषणपरक व्याख्याता बन जाता है। संकलन की सभी कविताएँ गेय और अनुभूतिपरक हैं। अधिकांश में पीड़ा की एक मृदु लहर है जो पाठक पर अपनी छाप डालने में समर्थ है।

— विप्र त्रिपाठी

पड़ोसी देशों में

लेखक—यशपाल जैन ; प्रकाशक —सस्ता साहित्य मंडल; नई दिल्ली—२; आकार ड० क्रा० १६ पेजी; पृष्ठ ३५०; मूल्य ६)।

प्रस्तुत पुस्तक में दक्षिण पूर्व एशिया बर्मा, थाइलैंड, मलाया, कंबोडिया, दक्षिण विएतनाम, सिंगापुर और मलाया, अफगानिस्तान और नेपाल का यात्राविवरण संकलित है। इसमें केवल यात्राविवरण या यात्राक्रम देकर ही यात्राविवरण की पूर्ति नहीं की गई है अपितु संबद्ध देशों की अधिक से अधिक जानकारी दी गई है जिससे उनके रहन सहन, रीतिरिवाज, सभ्यता, संस्कृति, कला, साहित्य आदि का भी पाठकों को ज्ञान होता है। इस प्रकार के यात्राविवरण एक दूसरे को भली भाँति जानने समझने और आपसी सांस्कृतिक साहित्यिक और भावात्मक संबंधों के आदान प्रदान को बढ़ाने में सहायक होते हैं। इस दृष्टि से इस प्रकार के यात्राविवरण का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आज के युग में विशेष महत्व है। यह महत्व भली भाँति तब ज्ञात होता है जब हम पुराकालीन इतिहास के आधार पर यह देखते हैं कि इन देशों से हमारा घनिष्ठ संबंध सहस्राब्दियों से चला आता है – हमारे संस्कार और सभ्यता की छाप आज भी इन देशों के जनमानस पर अपनी अमिट छाप डाले बैठी है। बर्मा और अफगानिस्तान के रोमांचकारी अनुभव और साथ ही बर्मा हिंदी साहित्य संमेलन का वार्षिकोत्सव, बर्मा की भारतीय बस्ती, रंगून की भारतीय संस्थाएँ, थाई लोकजीवन की झाँकी और साहित्य; थाईलैंड में भारतीय संस्कृति और संस्थाएँ; सिंगापुर में भारतीय संस्थाएँ, जीवन का यह घिनौना पहलू और कला की अपूर्व स्थली शीर्षक लेख ज्ञातव्य सामग्री से युक्त और पठनीय हैं। पड़ोसी देशों के स्वरूप ज्ञान के लिये प्रस्तुत यात्राविवरण उच्चकोटि का है। इस तरह की पुस्तकों का प्रकाशन मंडल आशा है आगे भी करता रहेगा।

कुछ शब्द कुछ रेखाएँ

लेखक– विष्णुप्रभाकर; प्रकाशक--सस्ता साहित्यमंडल, नई दिल्ली; आकार डि० क्रा० १६ पेजी; पृष्ठ १७३; मूल्य ३)५०।

हिंदी के नाटककार और कहानी लेखक विष्णुप्रभाकर द्वारा समय समय पर लिखी रचनाओं का यह संकलन है जिसमें रेखाचित्र, इंटर्व्यू और संस्मरण इन तीनों विधाओं का संयोजन है। कुल २२ लेख हैं जिनमें सामान्यजन से लेकर श्रेष्ठजनों तक के संस्मरण आ गए हैं। कम से कम शब्दों में अधिकाधिक भाव व्यक्त करना और अंतर्मन की झाँकी प्रस्तुत करना रेखाचित्र की विशेषता है। रेखाचित्र की इस विशेषता के साथ ही साथ लेखक ने अनेक ऐसे चित्र प्रस्तुत किए हैं जो किसी भी पाठक के हृदय पर स्थायी प्रभाव डालते हैं। तिरुपति चेट्टियार, फाया अनुमान राजधन, रंगून का वह नाजुक डाक्टर, बर्मा का एक भारतीय व्यापारी, मामा वरेरकर आदि लेख इस दृष्टि से अवलोकनीय हैं। सभी रुचि के पाठकों का समाधान हो इस दृष्टिकोण से संस्मरण के पात्रों के चुनाव में वैचित्र्य है। इस दृष्टि से पंडित जी जिनके नयनों में स्वर्ग है, खान साहब शेख मोहम्मद जान आदि द्रष्टव्य हैं। सहज प्रवाहशील भाषा और छोटे छोटे सार्थक वाक्यों में अधिकतम भावों की सुस्पष्ट अभिव्यक्ति के कारण इन लेखों का प्रभाव पाठक के मन को आत्मसात् कर लेता है। पुस्तक मनोरंजन और ज्ञानवर्धन के साथ यह भी संकेतित करती है कि हिंदी में इस प्रकार के सफल संस्मरण लेखक कम हैं। संकलित रचनाओं में कुछ मार्मिक हैं कुछ मनोरंजक और ज्ञानवर्धक। हिंदी प्रेमियों के लिये पुस्तक पठनीय है।

—विश्वनाथ त्रिपाठी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तार सप्तक

संकलनकर्ता और संपादक—अज्ञेय, प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ, दुर्गाकुंड मार्ग, वाराणसी; आकार डबल डिमाई १६ पेजी; पृष्ठ २०+३२०; मूल्य-८)।

'तारसप्तक' का प्रकाशन सन् १९४३ ई० में हुआ था। बीस वर्ष बाद सन् १९६३ ई० में अज्ञेय ने इसके पुनः संपादित संस्करण की योजना बनाई और तेइस वर्ष बाद सन् १९६६ ई० में इसका वर्तमान संस्करण प्रकाशित हुआ है। मुझे स्मरण है, 'तारसप्तक' का प्रथम संस्करण गुदड़ी बाजार में रद्दी के भाव बिका था और उसी रद्दी से मैंने इसकी एक प्रति खरीदी थी। सप्तक के कवियों के चयन और उनकी काव्य-प्रतिभा के संयोजन से हिंदी में अज्ञेय के नेतृत्व में प्रयोगवाद का जन्म हुआ। जहाँ इन प्रयोगवादी कवियों की ललक, लालसा, शौक और सीमा व्यापक चर्चा का विषय बनी, वहीं अनेक संकलित कवि अच्छे कवि के रूप में ख्यात हुए। इस काव्य-संपादन की अनुकृति करने की कोशिश हिंदी साहित्य में बड़ी तेजी से चल पड़ी, पर 'दूसरा सप्तक' और 'तीसरा सप्तक' का क्रमशः संपादन और संकलन कर अज्ञेय ने प्रयोगवाद का नेतृत्व किया और हिंदी काव्य में जहाँ अज्ञेय नए स्कूल के संस्थापक हुए; वहीं प्रयोगवाद, अज्ञेय तथा अन्य कवियों की इतनी प्रशंसा और निंदा की गई कि काव्य की अनेक धाराएँ – जिनका वस्तुतः विकास होता तो कई अच्छे कवि सामने आते - अवरुद्ध हो गईं।

सप्तक में संकलित कवि गजानन माधव मुक्तिबोध, नेमिचंद जैन, भारतभूषण अग्रवाल, प्रभाकर माचवे, गिरिजाकुमार माथुर, रामविलास शर्मा और अज्ञेय हैं। 'तारसप्तक' के प्रथम संस्करण में प्रकाशित इन कवियों की कविताओं और वक्तव्य के अतिरिक्त नए संस्करण में उनका 'पुनश्च' - वक्तव्य और दो-दो तीन-तीन ताजी कविताएँ संकलित की गई हैं। उनका सन्, ४३ के उपरांत का जीवन-परिचय भी दे दिया गया है। अज्ञेय ने वर्तमान संस्करण की समकालीन-काव्य-इतिहास-भूमिका में सप्तक के निजी स्थान की घोषणा करते हुए सिद्ध किया कि 'सृजनशील प्रतिभा का धर्म है कि व्यक्तित्व ओढ़ती है। सृष्टियाँ जितनी विशिष्ट होती हैं, स्रष्टा उससे कम विशिष्ट नहीं होते, बल्कि उनके व्यक्तित्व की विशिष्टता में ही उनकी रचनाएँ प्रतिबिंबित होती है। यह बात उन पर भी लागू होती है जिनकी रचना प्रबल वैचारिक आग्रह लिए रहती है। जब तक कि वह रचना है निरा वैचारिक आग्रह नहीं है। कोरे वैचारिक आग्रह में अवश्य ऐसी एकरूपता हो सकती है कि उसमें व्यक्तियों को पहचानना कठिन हो जाय। जैसे शिल्पाश्रयी काव्य पर रीति हावी हो सकती है सप्तक के कवियों के साथ ऐसा नहीं हुआ; संपादक की दृष्टि से उनकी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अलग अलग सफलता (या स्वस्थता) का यह प्रमाण है। स्वयं कवियों की राय इससे भिन्न हो सकती है—वे जानें'[1]

इन कवियों में जो व्यंजना और अभिव्यक्ति है, वह उतनी महत्वपूर्ण नहीं है जितना महत्वपूर्ण इन कवियों का रचना-विधान है। पाश्चात्य साहित्य में 'कैसल्स इनसाइक्लोपीडिया' जैसे प्रमाण-ग्रंथों में भी प्रयोगवाद (एक्सपेरीमेंट-लिज्म) नाम की कोई चीज नहीं है। अतः हिंदी में प्रचलित यह वाद सर्वथा नया है। नवीनता में उपलब्धियों के साथ ही त्रुटियों की भी पर्याप्त संभावना रहती है। इतना तो निश्चित है कि मुक्तिबोध, नेमिचंद और प्रभाकर माचवे की कविताएँ यदि इस संकलन में न रहतीं तो प्रयोगवाद और हिंदी कविता की कोई हानि न होती क्योंकि उपर्युक्त कवि प्रकृत्या (बार्न) नहीं प्रयत्नशील कवि हैं। इनकी रचनाओं में कथमपि भावात्मक अनुभूति की गहराई और सुघरता नहीं दिखाई पड़ती।

कविता किसी युग विशेष से संबंध नहीं रखती। सच्चा कवि युग-युग के लिये प्रकाश प्रदान करता है। वह वादों के संकीर्ण घेरे में कभी नहीं घिरता, न युगधारा से अपना संबंध विच्छेद करता है। इन प्रयोगवादी कवियों ने समाज की गतिविधि का दर्शन और अनुभव किया (बहुतों ने बिना अनुभव किए ही) तथा चित्रकार की भाँति अपनी बिखरी भावनाओं का कविता के माध्यम से प्रयोग आरंभ किया। आधुनिकता की ललक में कई कवियों ने ऐसे-ऐसे निरर्थक बे सिर-पैर के प्रयोग किए, जो काव्य साहित्य के लिए वर्ज्य और अवैध थे; परंतु इसके साथ ही ढिंढोरा पीटने वालों और विरोधियों के अलग-अलग दल सक्रिय थे, जो गजानन माधव मुक्तिबोध को ईसा, माचवे को पिकासो और नेमिचंद को नित्से की भाँति महत्वपूर्ण सिद्ध करने में साहित्यिक मान्यताओं को झुठलाने लगे। दूसरी ओर इन कवियों की बेमानी रचनाओं से चिढ़कर इन्हें निकृष्ट और निरर्थक कवि सिद्ध करने का षड्यंत्र चलने लगा। परिणाम यह हुआ कि इन कवियों की इतनी चर्चा हुई कि अनेक प्रतिभावान कवि जिनमें कविता लिखने की प्रकृत क्षमता थी उपेक्षित रह गए और कविकर्म छोड़कर अपनी रोजी-रोटी कमाने में लग गए। कविता जब प्रबल अनुरोध के साथ किसी भी उधार ली गई विदेशी विचारधारा की ओर प्रवाहित होने लगती है तब निश्चय ही बेमानी रचनाओं की भीड़ लग जाती है जिससे पाठकों के विवेक में संशय और संदेह पैदा होता है। कई प्रयोगवादी कवियों ने बिना व्यक्तित्व ओढ़े ही अपने विचाराग्रह को प्रमुखता दी और उन पर कई विदेशी विचारक इस भाँति छाए कि उनकी अनुकृति करके उन्होंने हिंदी काव्यपरंपरा को पतन के गर्त में

१. तार सप्तक, पृ० ६।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ढकेल दिया, जिसका परिणाम नई कविता, कविता अकविता के प्रयोग–'तू-तू-मैं-मैं-कुत्ता' तक में परिणत हुआ।

संक्रांति के रंगों की प्रधानता से प्रेरित नेमिचंद के संस्कार और विवेक की कसमसाती काव्य-चेतना पगपग पर पाठकों की मानसिक दीवार से टकराकर विच्छिन्न हो जाती है और उनकी यह दलील कि 'कला की सच्ची प्रगतिशीलता कलाकार के व्यक्तित्व की सामाजिकता में है, व्यक्तित्वहीनता में नहीं',[२] उनके आत्मकेंद्रित अहंकार का द्योतन करती प्रतीत होती है। उनकी कविताओं से पाठकों की चेतना को ऐसे द्वंद्व की स्थिति में आना पड़ा कि उलझनभरा उनका काव्य उच्छ्वास अमानसिक तर्क-जाल के सिवा और कुछ भी नहीं लगता। नेमिचंद का 'पुनश्च' के अंतर्गत पाठकों पर आरोपित यह विचार निरर्थक है कि 'इन कवियों का अपना व्यक्तित्व उपेक्षित हुआ और गलत भी समझा गया।' जिन कविताओं में तत्व होता है उनकी पाठक अवश्य प्रशंसा करते हैं। कवि द्वारा स्वयं निरर्थक व्यक्तित्व पाठकों पर आरोपित करना साहित्य की मान्यताओं के प्रतिकूल है। नेमिचंद की कविताओं को पढ़कर कह सकता हूँ कि आज का कवि वक्तव्यबाजी और सिद्धांतों की दलील देता है और अपने एकांत में वह इतना आत्मकेंद्रित हो गया है कि वर्षों बाद अचानक किसी की अम्लान मित्रता का आश्वासन उसके बौनेपन और अहंकार को जीवनबद्ध नहीं कर पाते।

जीवन के आंतरिक और जगत के बाह्य द्वंद्वों से संबद्ध दार्शनिक प्रवृत्ति के तरफदार तथा अनुभवसिद्ध व्यवस्थित तत्वप्रणाली अथवा जीवनदर्शन को आत्मसात् कर लेने की दुर्दमनीय मानसिक पिपासा की टेक में जीवन त्याग कर देनेवाले कवि मुक्तिबोध युगसंधि के कार्यकर्ता अधिक और कवि नाममात्र को थे। वर्तमान युग में व्यक्ति-स्वातंत्र्य और अस्तित्व-संघर्ष की आत्मपरीक्षा तथा आध्यात्मिक-शक्ति-संघर्ष ने मुक्तिबोध को इतनी गहन और दीर्घ काव्यरचना पद्धति की सघन बिंबमालिकाओं की अंतर्मुख दशाओं की ओर प्रेरित किया कि उनकी आत्मग्रस्त संवेदना समाज की व्यापकता का छोर छूने लगी, जब कि उनकी कविताओं ने पाठक के मन में कभी आस्था का प्रकाश नहीं फैलाया। मुक्तिबोध को ईसा सिद्ध करने में उनके चेलों ने उनकी इनीगिनी कुछ अच्छी कविताओं को भी सूली पर चढ़ा दिया और मुक्तिबोध का कविकर्म युग संघर्ष और आत्म संघर्ष की पाट में पिसकर साबूत नहीं रह सका और विवशतः उन्हें कहना पड़ा—

२. वही, पृ० ६।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तड़के ही रोज
कोई मौत का पठान
माँगता है जिन्दगी जीने का ब्याज
अनजाना कर्ज
माँगता है चुकारे में प्राणों का मांस,[3]

वस्तुतः मुक्तिबोध का जीवन ही इन पंक्तियों का हविष्य बन गया और इसी लिये उन्हें लिखना पड़ा —

मुझे प्रिय अपना अंधकार
गठरी में छिपा रखा निजी रेडियम
सिर पर टोकरी में
छिपाया मैंने कोई यीशु
अपना कोई शीशु[4]

अंधकार में भटकती मुक्तिबोध की आत्मा को ईसा बनाना उनकी साहित्यिक मान्यताओं की हँसी उड़ाने से कम नहीं है।

प्रारंभ में भारतभूषण ने मैथिलीशरण गुप्त की उपदेशात्मक शैली से प्रेरित होकर अपनी अनुभूतियों को प्रकट करने की क्षमता प्राप्त की। उन्होंने पलायन और स्वप्नालोक की स्वीकृति के साथ अपनी काव्य रचनाओं का प्रारंभ किया तथा असामाजिक समस्याओं से उत्पन्न तीक्ष्ण व्यक्तिगत समस्याओं का असंभव समाधान अपनी कविताओं में निरंतर व्यक्त किया है। जब अनेक प्रयोगवादी कवि दंभ, अकर्मण्यता और असामाजिकता के घेरे में घिरे हैं तब भी भारतभूषण की काव्य संपत्ति उनकी ही नहीं पाठकों की रुचि का भी परिष्कार करती है। उन्होंने कर्म से पलायनवादी स्पंदन सुनकर ही कहा है कि 'यदि कविता का उद्देश्य कवि की इकाई और समाज की व्यवस्था के बीच के संबंध को स्वर देना और उसको शुभ बनाने में सहायता करना है तो हिंदी के कवि को समाज से नाराज होकर भागने की बजाय समाज की उस शोषणसत्ता से लड़ना होगा जिसने उसे केवल स्वप्नाभिलाषी और कल्पनाविलासी बना छोड़ा है और जिसने उसको अपनी कविता को ही एकमात्र संपत्ति मानने के भ्रम में डाला है।'[5]

३. वही, पृ० ७८।
४. वही, पृ० ८०।
५. वही, पृ० ६७।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भारतभूषण के प्रयोग अपार्थिव फूलों की सेज नहीं तेज अस्त्र हैं, जिनका मूल्यांकन आवश्यक है—

छलक कर आयी न पलकों पर विगत पहचान,
मुस्करा पाया न होठों पर प्रणय का गान;
ज्यों जुड़ी आँखें, मुड़ीं तुम चल पड़ा मैं मूक
इस मिलन से और भी पीड़ित हुए थे प्राण।[६]

वर्तमान यांत्रिक युग में मन का स्पंदन सुन लेना किसी भी सफल कवि का पहला लक्षण तब है, जब वह पाठकों को भी अपने स्पंदन से स्पंदित कर दे। भारतभूषण की कविता का स्रोत कभी सूखा नहीं। वे निश्चय ही लक्ष्यसिद्ध काव्यकर्मी हैं। मूलतः वे प्रयोगवादी नहीं—कवि हैं।

संस्कार और वातावरण कवि के सृजनमूल हैं। वातावरण परिवर्तनशील है, संस्कार शास्वत। गिरिजाकुमार माथुर ने मौलिक विषय का पक्ष तो लिया है, लेकिन उनका सारा ध्यान टेकनीक पर आधृत है। आकाश-तत्व के विविध रूपांतर स्वर-ध्वनि-मोह की मान्यता के वाहक इस कवि ने तार सप्तक में सुलझे प्रयोग किए हैं। माथुर ने वर्तमान संस्करण में जोरदार दलीलें देकर प्रतिपादित किया है कि 'प्रयोगवादी कवि ने केवल काव्यगत सौंदर्यतत्व को भावस्तर पर ही नहीं ग्रहण किया अपितु असुंदर की मर्मानुभूति को भी सौंदर्यबोध के अंतर्गत रखा।'[७] माथुर ने देश विदेश के विविध वातारण में अपनी यावत् अनुभूतियों का संकलन किया है, परंतु उनके संस्कार भारतीय हैं। उनकी मान्यता है कि 'मध्ययुगीन मूल्य, हेय भावुकतापूर्ण रोमांस, कल्पनाप्रधान सांस्कृतिक बोध तथा धरातलीय उदारवाद के धुंध को प्रयोगवादी कवियों की नई संवेदनशीलता और वस्तुपरक सूक्ष्म दृष्टि ने सदा के लिए मिटा दिया है।'[८] वास्तव में संवेदना और सौंदर्यदृष्टि नई-पुरानी नहीं होती, अपितु यह कवि के आंतरिक व्यक्तित्व के संचारिणी-प्रवृत्ति-बोध पर निर्भर करता है कि वह संवेदना और सौंदर्य का अनुमान कर उसे सफल टेकनीक में व्यक्त कर पाता है या नहीं। जिन पूर्ववर्ती महत् तत्वों को प्रयोगवादी कवियों की कविता धारा से पिघलाकर प्रवाहित करने की माथुर ने वकालत की है, वस्तुतः उसे नई पुरानी, रूढ़ि और परंपरा के प्रश्न से संबद्ध करना अनुचित है।

६. वही, पृ० १०४।
७. वही, पृ० १४३।
८. वही, पृ० १४८।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्या 'सप्तक' में संगृहीत कवि ही हिंदी काव्य सरिता में नवीन प्रवाह ला सके हैं ? बहुत से ऐसे कवि हैं, जिन्होंने काव्यवस्तु और रचनाविधान दोनों में अपनी रचनात्मक मान्यता स्थिर की है, पर उन्होंने अपनी निष्ठापूर्ण क्रियाविधि का न प्रचार किया और न तार्किक दुहाई दी है। यदि विरह-मिलन, आशा-निराशा, सुख-दुःख, ऊँच-नीच, प्रेम-विराग, आत्मा परमात्मा, प्रकृति-सांसारिकता, भौतिकता, आध्यात्मिकता, जनता और समाज, स्वदेशी और विदेशी आदि प्रयोगवाद के पहले कविता के प्रतिपाद्य विषय थे तो क्या उपर्युक्त काव्य - वस्तु व्यापार से परे रहकर किसी प्रयोगवादी ने कोई रचना की है ? विशेषीकृत अनुभूति जो प्रयोगवादी माथुर की देन है उससे सामान्यीकृत अभिव्यक्ति अप्रयोगी कवियों की कविताओं में हो सकती है पर वे शास्वत् काव्य-मूल्यों की अनिवार्य शर्तों पर झूठे तर्क देकर पलायन नहीं करते। टेकनीक के नाम पर जुगुप्स मानस की वृथा सृष्टि हेय मानी जाती है—चाहे उसकी जोरदार दलीलें क्यों न पेश की जाँय ? माथुर की इन पंक्तियों का रचना विधान और अर्थ मेरी विनम्र मति में नहीं आया—

बोझल देह का
लिप्त मन का
झर गया बूर
चूकर गिरा फूल
तैर गया
पतली धारियोंदार लहरों में
दूर ले जाती
विलमाती हवाओं में।[९]

यदि ऐसी निरर्थक, अस्पष्ट, दोषपूर्ण कविताएँ आधुनिक तथ्यवादी कृतिकारों की निरंतर वर्तमान सांस्कृतिक संवेदना के मूल्य और स्तर का मापदंड है, तो ऐसी टेकनीक से अधिक महत्वपूर्ण वे लोककवि हैं जो कजली, लावनी की रचना करते और परिष्कारपूर्ण सांस्कृतिक धरातल पर मन को मोह लेते हैं।

'कविता इतिहास की जननी नहीं पुत्री है' जैसी मौलिक स्थापना करने के भ्रम में प्रभाकर माचवे ने कविता में रोमांस और यथार्थ का अन्योन्याश्रित संबंध जोड़ते हुए कहा है कि 'रोमांस स्वस्थ मन का भावनात्मक रुख है, यथार्थ उसी की बुद्धिगत परिकल्पना।' माचवे ने अपने व्यक्तित्व को इतने अधिक स्तरों में विभाजित कर डाला है कि एक रिपोर्ताज लेखक के अतिरिक्त वे अपने कवि-कर्म में अकिंचन

९. वही, पृ० १६२।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लगते हैं। उन्होंने अपने व्यक्तित्व को अनेक प्रभावों से आक्रांत कर लिया है, इसीसे उन्हें मानसिक प्रभाव-प्रक्रिया, वेदना-संवेदना, प्रगति-अगति आदि का विंबवादी नेतृत्व करने के लिये व्यर्थ ऊहापोह करना पड़ा है। प्रमाणसिद्ध छायावाद के संबंध में उन्हें यह लचर और बेतुकी स्थापना करनी पड़ी है कि 'छायावाद हिस्टीरिया की भाँति हिंदी कविता का एक मानसिक रोग है। स्वस्थमना कवि के लिये छायावाद का माध्यम स्थावर, स्त्रैण और जीर्ण है।'[10] परंतु माचवे की कविताएँ अनेक शैलियों में लिखी जाकर भी भाव संपन्नता की दृष्टि से, पुनर्निर्माणात्मक रचनात्मक और मौलिक नहीं कही जा सकतीं। माचवे की कविता आत्मविश्वास रहित लेखक की जबरदस्ती गढ़ी गई कविताएँ हैं, जिनमें अस्पष्ट बिंब हैं। कुछ पाठकों को वह निरर्थक भी लगेगा। यदि अज्ञेय ने माचवे और प्रारंभ में गिनाए गए दो एक निरर्थक निरुद्देश्य कवियों को इस सप्तक में स्थान न दिया होता तो बीस वर्षों तक तारसप्तक को लेकर वाद-विवाद न हुआ होता और हिंदी काव्य जगत में नासमझी (कंफ्यूजन) की स्थिति न पनपती।

रामविलास शर्मा एक समीक्षक के रूप में श्री शांतिप्रिय द्विवेदी के पूरक-प्रतीक हैं। शांतिप्रिय की समीक्षा में सुलझे विचार, स्तुत्य चिंतन और रागात्मिका वृत्ति है और रामविलास यथार्थबोध के व्याख्याता और निर्भीक निर्णायक हैं। कवि रूप में रामविलास निराला के 'बासवेल' हैं। निराला उनकी प्रेरणा के प्रतीक थे। रामविलास ने निराला की लीक और शैली पर चलकर सत्य की खोज करने की कोशिश में अधिकांश कविताएँ लिखी हैं। जनसत्ता के समर्थन की परंपरा के प्रति आस्तिक रामविलास की कविताएँ मोहक हैं —

कट गयी डगर जीवन की थोड़ी रही और;
इस वन में कुश-कंटक सोने को नहीं ठौर।
पथ में उन अमिट रक्तचिह्नों की रहे शान,
मर मिटने को आते है पीछे नौजवान।
इस वन में जहाँ अशुभ ये रोते हैं शृगाल,
निर्मित होगी जनसत्ता की नगरी विशाल।[11]

अवध के ग्रामीण अंचल का प्रकृति-सौंदर्य संपन्न वातावरण और साहित्यिक संस्कार की निर्भीकता ने कवि रामविलास के व्यक्तित्व को कुंठा और घुटन की रूढ़ि

१०. वही, पृ० १८४।
११. वही, पृ० २३५।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और कारागार में उन्हें कभी बंदी नहीं बनाया। इसी कारण माचवे, मुक्तिबोध, नेमिचंद से परे अनगढ़ और असंभाव्य प्रतीक योजनाओं से अपना पल्ला छुड़ाकर काव्य के रहस्यवादी पक्ष को संदेहास्पद मानते हुए सामाजिक पृष्ठभूमि के समक्ष, यथार्थ की अंतर अभिव्यक्ति से भावानुप्राणित काव्यबोध रामविलास व्यक्त कर सके हैं। प्रकृतिप्रदत्त अनुभव और निरीक्षण रामविलास की सभी कविताओं में दिखाई पड़ता है।

'तारसप्तक' के संपादक, प्रख्यात साहित्यकार और 'दिनमान' द्वारा हिंदी पत्रकारिता में राजनैतिक प्रवृत्तियों के सूत्रधार अज्ञेय का कथन है कि 'कवि का कथन, आत्मा का काव्योत्कर्षकारी व्यक्तिबद्ध व्यापक सत्य है।'[१२] व्यापक सत्य और व्यक्ति सत्य दो सत्यानुभूतियों की विलग स्थितियों की उद्भावना कवि - कर्म - सापेक्ष है। कवि का सामाजिक उत्तरदायित्व है कि वह काव्यविषय की संवेदना का संप्रेक्षण और साधारणीकरण करे। अनेक प्रयोगवादी कवियों की कविता की उपयोगिता में संप्रेक्षण और साधारणीकरण का अभाव दृष्टिगोचर होता है। आज का पाठक युग की जटिल समस्याओं से व्यक्ति-सत्य और व्यापक-सत्य दो स्तरों में बटे प्रयोगवादी कवियों की रचनाओं में प्राणसंचार करनेवाली मार्मिकता नहीं प्राप्त कर पाता। अज्ञेय की कविताओं में 'अहं' की आत्माभिव्यक्ति हुई है और उन्होंने कविता के सफल भावा-संप्रेषण से पाठक और कवि के पार्थक्य को समाप्त कर दिया है। उनकी बोधगम्य कविताएँ सामाजिक रूढ़ियों में असाधारण तीव्र गति से यौनवर्जनाओं की परिकल्पना में अपनी सौंदर्यचेतना का आश्रय लेती हैं और वे सफल यौन प्रतीकार्थों से संपन्न प्रतीत होती हैं। वर्गवाद और व्यक्तिवाद में संयोगस्थ समाज की उचितानुचित वर्जनाओं से विद्रोह करनेवाली काव्यचेतना का प्रश्न सांस्कृतिक धरातल से संबद्ध है। संस्कृति मानस की सृष्टि है। नित्य परिवर्तित सभ्यता की चकाचौंध में जब कोई आंतरिक-चेतना संस्कृति का एकाग्र आश्रय लेती है, तभी कविता समाजोपयोगी हो सकती है। अज्ञेय की कविताएँ अंधकार और आलोक का अनुक्रम, धृति और गति का सामंजस्य, वासना और विवेक का विभेद तथा उदासी और खंडन की परिस्थितियों में आत्मविश्वास का स्वर संयोजन करती हैं। जिस पथ पर प्रयोगवादी कवियों को लेकर अज्ञेय चले थे, उस पथ को छोड़ कई अविश्वास से टूट गए। कुछ आत्म-विडंबना से ग्रस लिए गए, फिर भी अज्ञेय सफल और मौलिक भावनाओं की कसौटी पर प्रायः निर्दोष उतरनेवाली रचनाएँ लिख रहे हैं। उनका अधुनातन चेतन कवि कहता है—

१२. वही, पृ० २७५।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मुड़ती, बलखाती,
नए मार्ग फोड़ती
नए करारे तोड़ती
चिर परिवर्तनशील, सागर की ओर जाती, जाती, जाती...
मैं वहाँ हूँ दूर, दूर, दूर...,[13]

अज्ञेय की कई कविताओं में व्यक्ति और वर्ग का बिलगाव चेतना की मेखला-सी जीवनानुभूतियों की विनत कृतज्ञता के बोझ से खुले आकाश में काव्यरूढ़ियों की पहाड़ियों पर विस्तीर्ण हो गया है।

'तारसप्तक' का यह संस्करण आधुनिक काव्य इतिहास में प्रयोगवादी कवियों की सामयिक अर्थवत्ता का अभिराम प्रकाशन है।

अनुक्षण परिवर्तित मनःक्रम के कारण अनेक प्रयोगवादी कवि सभ्यता की मृगमरीचिका में न मझधार की तीव्र उर्मियों में हैं न किनारे के उथले ठहराव पर। प्रयोगवादी कवि को कुछ न कुछ लिखना है, वह लिख रहा है-- चाहे उसकी उपयोगिता हो या न हो। परंपरा और रूढ़ि का भेद किए बिना प्रयोगवाद जड़ता के क्रोड़ में केंद्रस्थ हो गया तो संस्कृति की ऐतिहासिक यथार्थ चेतना लक्ष्यच्युत हो जायगी।

—क्षणदा

स्मृतियाँ और कृतियाँ

लेखक--श्री शांतिप्रिय द्विवेदी; प्रकाशक—चौखंभा विद्याभवन, चौक, बाराणसी; ड० क्रा० सोलहपेजी; पृ० ८+१५२; सजिल्द, मूल्य ४)।

पुस्तक में दो खंड हैं--संस्मरण और समीक्षा। संस्मरण खंड में दस लेख हैं जिनमें लेखक द्वारा अपने बचपन से लेकर अब तक अपने और अपने संपर्क में आए कतिपय प्रमुख व्यक्तियों के संबंध में आए अत्यंत आत्मीयतापूर्ण शैली में लिखित निबंध हैं। द्विवेदी युग को छोड़कर हिंदी का आधुनिक काल प्रायः विगत आधी शताब्दी के अंतर्गत ही पुष्पित पल्लवित-फलित हुआ है और उसकी सारी प्रतिक्रियाओं में लेखक का साक्षात् योग रहा है। फलतः उसने इस खंड में जो कुछ लिखा है, पूरे मनोयोग के साथ और उसमें रमकर लिखा है। लेखक पर भगवती सरस्वती की जैसी अशेष कृपा रही है, शारीरिक और

१३. वही, पृ० सं० ३१७।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वित्तीय दृष्टि से भगवान् उस पर वैसी ही अकृपा भी निरंतर करते रहे हैं। फिर 'कोढ़ में की खाज' के सदृश गृह-गृहिणी-पुत्र-कलत्र विहीन, सर्वथा अनिकेतन जीवनयापन ! अतः उनका अपने को 'सर्वहारा कहना अत्यंत उपयुक्त और समीचीन है। द्विवेदीयुग के अनंतर हिंदी में जिस 'छायावाद' युग का बोलबाला रहा उसके चारों दिग्गजों— प्रसाद, पंत, महादेवी और निराला से लेखक का घनिष्ट संपर्क रहा है और उनके संबंध में उसने जो कुछ लिखा है, उसमें पूरी हार्दिकता और तन्मयता है। परिस्थिति और मनस्थिति के कारण 'निराला' जी को लेखक की विशेष सहानुभूति मिली है—इस पूर्व खंड के दस में से तीन निबंध 'निराला' जी से ही संबद्ध हैं।

पं० शांतिप्रिय द्विवेदी जी आज एक विशिष्ट शैलीकार समीक्षक के रूप में प्रतिष्ठित हैं, पर इस शती के आरंभिक चरण में कविता की आराधना भी वे बड़े मनोयोग से कर चुके हैं। उपन्यास और आत्मकथा विधाओं में भी उनकी रचनाएँ लोकप्रिय हो चुकी हैं। सन् १९३९ में प्रकाशित 'कवि और काव्य' नामक उनकी पुस्तक छायावाद विषयक सर्वप्रथम और सर्वाधिक प्रामाणिक कृति के रूप में समादृत हो चुकी है। इसके दस वर्ष पूर्व 'परिचय' नाम से हिंदी की छायावादी कविताओं का संग्रह वे संकलित-संपादित कर प्रकाशित कर चुके थे ! अपनी निजी कविताओं का संग्रह 'नीरव' भी कुछ समय बाद ही उन्होंने निकाला था। अस्तु।

पुस्तक का उत्तरवर्ती समीक्षा खंड पूर्वखंड से कुछ बड़ा है—विविधात्मक है। इस खंड का प्रथम लेख है 'एक साहित्यिक वार्तालाप' जिसमें उनका एक इंटरव्यू उद्धृत है। इसके अंतर्गत एक स्थान पर वे स्वयं कहते हैं।

'यदि लोग मुझे शैलीकार के रूप में मानते हैं तो मेरी लेखन कला को पहिचानते हैं, किंतु शैलीकार होने का अभिप्राय यह नहीं है कि साहित्यकार कवि और आलोचक ही नहीं रह जाता। साहित्य की कोई भी विधा शैली के लिये चित्रपट बन सकती है। आलोचना भी मेरा एक चित्रपट है। आलोचना में निबंधकला की शैली बनकर आलोचना को नीरस नहीं होने देती।'

इस समीक्षा खंड में छायावाद से लेकर समसामयिक 'नवलेखन' तक के संबंध में लेखक के विचार विभिन्न लेखों में संकलित हैं। छायावाद 'प्रसाद' उनकी 'कामायनी' पंत जी और उनके लोकपतन के अतिरिक्त इस खंड में अज्ञेय जी माखनलाल जी, राष्ट्रकवि गुप्त जी, प्रेमचंद आदि के संबंध में लेखक के विचार बड़ी ही स्पष्ट और प्रांजल शैली में मिलते हैं—कहीं कोई उलझन या द्वैविध्य नहीं। यह आवश्यक नहीं कि लेखक समस्त कवियों लेखकों के विचारों से सर्वांशतः सहमत हो। पर जहाँ कहीं भी उसने भिन्न मत व्यक्त किया है, बड़ी ही शालीनता और सौजन्य के साथ। लेखक ने तथाकथित नवलेखन की विभिन्न विधाओं का बड़ी सूक्ष्मता से अध्ययन मनन किया है और उसकी मान्यता है कि 'नवलेखन के मूल्यों और धार-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

णाओं का प्रश्न उम्र में बँटी हुई पीढ़ियों का नहीं, दो तरह से सोचनेवाली पीढ़ियों का है।' इतना होने पर भी यह नवलेखन लेखक के गले उतरता नहीं प्रतीत होता क्योंकि उसका कहना है :

'हिंदी के नए साहित्य तथा दक्षिण (तेलगु) के दिगंबर काव्यांदोलन से मेरा मतभेद रचनात्मक है, दोनों की आधुनिक निर्मित से मेरा दृष्टिसाम्य नहीं है।'

इस संग्रह के और सब लेख तो ठीक और उचित हैं पर 'बिन पैसे दुनिया का सफर' और 'माधवन् जी का रचनात्मक चिंतन' बहुत कुछ विजातीय और अन्यान्य लेखों से अलग अलग प्रतीत होता है। विशेषतः 'सफर' वाले लेख की इस संग्रह में क्या उपयोगिता या औचित्य है, नहीं समझ पड़ा।

लेखक ने 'छायावाद' के संबंध में विशद रूप से विचार किया है। द्विवेदी युग में में ही इस शैली की कविता का सूत्रपात हो चुका था और श्री सियारामशरण जी तथा श्री मुकुटधर पांडेय जी ने अपनी कविताओं से हिंदी का भंडार भरा था। 'छायावाद' शब्द हिंदी में क्यों, कब और किसके द्वारा प्रयुक्त हुआ, इसकी चर्चा भी विद्वान् लेखक ने बड़ी खोजबीन के साथ की है। इसी प्रसंग में लेखक ने एकाधिक बार अँगरेजी शब्द 'मिस्टिज्म' का प्रयोग नागराक्षरों में किया है। इसका ठीक रूप 'मिस्टिसिज्म' है, जिसके लिये अपने यहाँ 'रहस्यवाद' शब्द रूढ़ हो चुका है।

लेखक की यह सर्वाधिक नवीन कृति है। हिंदी संसार इसका समादर भी विद्वान् लेखक की अन्यान्य कृतियों की भाँति ही करेगा, इसका पूरा विश्वास है।

—शंभुनाथ वाजपेयी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

वर्ष ७१
संवत् २०२३
अंक ३–४

संपादकमंडल

श्री डा० संपूर्णानंद
श्री कमलापति त्रिपाठी
श्री डा० नगेंद्र
श्री शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र'
श्री करुणापति त्रिपाठी
संयोजक, संपादकमंडल

श्री सुधाकर पांडेय
संयोजक पत्रिका एवं
सहसंयोजक, संपादकमंडल

वार्षिक मूल्य १०.००
इस अंक का ५.००

काशी नागरी प्रचारिणी सभा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विषयसूची

१. राघवगीतम् या रामगीतम्—डा० प्रभाकर शास्त्री ... २६३
२. वैयाकरण कवि मार्कंडेय तथा उनका काल—
श्री श्यामनारायणसिंह यादव ... ३०७
३. अभिनवगुप्त की रससूत्र व्याख्या की दार्शनिक पृष्ठभूमि—
श्री रामलखन शुक्ल ... ३२१
४. वैष्णव अनी अखाड़े—श्री वेदप्रकाश गर्ग ... ३३४
५. आई पंथ का आई-उग्रप्रकाश—श्री शिवसिंह चोयल ... ३४६
६. मध्यकालीन वीरकाव्य और इतिहास—डा० राजमल बोरा ... ३६५
७. विष्णुध्वज के अभिलेख—डा० देवसहाय त्रिवेद ... ४०१
८. नागर कृतागम में राजा और राजव्यवस्था का स्वरूप—
कुमारी देवकी अहिवासी ... ४०६
९. वज्जिका भाषा और साहित्य—श्री अजित शुकदेव ... ४२५

पौराणिकी

भक्ति सतसई—स्व० पं० किशोरीलाल गोस्वामी
(दोहा ४३५ से दो० ७०९) ... ४२९

विमर्श

ढोलामारू रा दूहा के कतिपय संदेहास्पद प्रसंग : पुनर्विचार—
महावीर प्रसाद शर्मा ... ४४८

चयन

पंजाबी की उत्पत्ति : एक विश्लेषण—
मूल० प्रेमप्रकाश सिंह, अनु०—आशानंद वोहरा ... ४५५

समीक्षा

१. मानपुरी पदावली—नागेंद्रनाथ उपाध्याय ... ४७८
२. अपभ्रंश काव्य और साहित्य—रामशंकर भट्टाचार्य ... ४७९
३. हिंदी शब्द रचना—रामशंकर भट्टाचार्य ... ४८१
४. जीवन के कुछ क्षणों में—जगदीश शर्मा ... ४८५
५. हिंदी के आदि मुद्रित ग्रंथ—विश्वनाथ त्रिपाठी ... ४८६
६. हिंदी नाट्यसाहित्य : ग्रंथ पुटी—जगदीश शर्मा ... ४८७
७. डंगवै काव्य तथा चक्रव्यूह कथा—विश्वनाथ त्रिपाठी ... ४८८

विशेष सूचना

वर्ष ७२ संवत् २०२४ के अंक १-४ का संयुक्त विशेषांक वर्ष के अंत तक प्रकाशित होगा ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

वर्ष ७१] कार्तिक-माघ, संवत् २०२३ [अंक ३-४

राघवगीतम् या रामगीतम्

(अप्रकाशित संस्कृत गीतिकाव्य)

प्रभाकर शास्त्री

•

जयपुर नगर संस्थापक महाराजाधिराज सवाई जयसिंह द्वितीय का नाम इतिहास में प्रसिद्ध है। इनके आश्रय में संस्कृत-संस्कृति-पोषक अनेक विद्वान् रहा करते थे। प्रस्तुत ग्रंथ के लेखक श्रीकृष्ण भट्ट संस्कृत साहित्य में 'कविकलानिधि' उपनाम से एवं हिंदी साहित्य में 'लाल' कवि के नाम से प्रसिद्ध रहे हैं। आप दाक्षिणात्य तैलंग भट्ट ब्राह्मण थे और अश्वमेध यज्ञ के अवसर पर बूँदी से ससंमान बुलाए गए थे। इससे पूर्व आप भरतपुर, कामा, दिल्ली आदि स्थानों पर भी निवास कर चुके थे। आपके जीवन पर अन्यत्र[1] प्रकाश डाला जा चुका है। यहाँ केवल उनकी रसपूर्ण रचना 'रामगीतम्' का विवेचन करना है।

'राघवगीतं या रामगीतं' एक मुक्तक रचना है। इसमें महाकवि जयदेव की रचना 'गीतगोविंद' का अनुकरण है। 'गीतगोविंद' में भगवान् श्रीकृष्ण की लीलाओं को गीतिकाव्य के रूप में उपस्थित किया गया है और इसमें (कविकल्पना से) भगवान् श्रीरामचंद्र की रासलीलाओं को। यह रचना अभीतक अप्रकाशित है। इसकी एक प्रति अभी उपलब्ध[2] हुई है, जिसके आधार पर मूल ग्रंथ के उद्धरण उपस्थित करते हुए इसका परिचय यहाँ प्रस्तुत है।

१. विश्वंभरा' शोध-पत्रिका, नागरी भंडार, बीकानेर से प्रकाशित, प्रथम वर्ष के चतुर्थ अंक में लेखक का परिचयात्मक लेख-'कविकलानिधि श्रीकृष्ण भट्ट', पृ० ७३ से ८०।

२. मुनि श्री कांतिसागर जी, भूपालपुरा, उदयपुर के पास लेखक की स्वहस्त-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ग्रंथपरिचय—यह संस्कृत भाषा में निबद्ध एक उत्कृष्ट कोटि का ग्रंथ है। ग्रंथारंभ में सर्वप्रथम लेखक अपने इष्टदेव श्री रामचंद्र की स्तुति करता है। आदि के छह पद्य प्रस्तुत ग्रंथ की प्रस्तावना मात्र हैं, जिनमें भी चार पद्य भगवान् श्रीराम के विविध रूपों को उपस्थित करते हैं। ये पद्य आशीर्वादात्मक तथा नमस्कारात्मक मंगलाचरण के हैं। ये अलंकार एवं शब्द चमत्कार की दृष्टि से भी दर्शनीय हैं—

श्री रामो जयते जगत्त्रयैक बन्धुः। अविघ्नमस्तु।
नीता येना-विनीता प्रसभमसुहृदस्त्रातभीता मराली
गीता यस्या विगीतामलचरितभृता चन्द्रशीता प्रशस्तिः॥
स्फीतामद्याप्यधीतामति सुकृतिजनैर्यः प्रतीतार्थवाणीं
चक्रे भीतापहृत्यै कलयतु कुशलं सोऽद्य सीतापतिर्नः॥ १॥

अनुप्रास अलंकार का यह सुंदर उदाहरण है। भगवान् श्री राम जिन्होंने लोक में अनेकों प्राणियों का भय दूर किया है, जिनकी चंद्रकिरणों के समान शीतल यशःप्रशस्ति सर्वत्र गाई जाती है, पुण्यात्माओं के द्वारा स्पष्ट प्रतीत होनेवाली वाणी को जो प्रगट करते हैं, वे ही सीतापति श्री राम हम लोगों के भय को दूर करें। इस पद्य में नीता, विगीता, अधीता, भीता, स्फीता, प्रतीता, भीता, सीता आदि पद क्त-प्रत्ययांत स्त्रीलिंग के रूप हैं। लेखक की यह शब्द चमत्कृति दर्शनीय है—

धामात्युग्रमधारि येन दनुजोद्दामान्वयोच्छित्तये
श्यामानन्दि घनाघनद्युतिभृता कामाभिरामात्मना।
नामानन्दितसज्जनावलिपरित्रामाद्य दामाप्तये
रामाकोटिशिखामणिच्छवियुजे रामाय तस्मै नमः॥

इस नमस्कारात्मक मंगलाचरण में भगवान् श्री राम के तेजोमय रूप को नमस्कार करते हुए श्रीराम की लीलाओं का वर्णन करना लेखक का अभीष्ट है। प्रश्न है, श्री राम ने श्रीकृष्ण भगवान् के समान लीलाएँ कहाँ कीं? इस शंका का समाधान करते हुए लेखक स्वयं लिखता है—

अभ्रैराजितमभ्रमभ्रधितिभिर्न्यासा तमालैः क्षितिः
सन्दीप्तास्तडितः स्फुरन्ति परितः श्रीचित्रकूटालयम्।
इत्थं प्रावृषिमागमस्त्वमधुनाप्येकाकिनी काननं
प्रोच्यैवं रहसि प्रियां रमयतो रामस्य लीलावतु॥

लिखित मूल प्रति विद्यमान है जिसकी प्रतिलिपि राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर में उपलब्ध है। प्रस्तुत लेख उसी के अनुसार है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आकाश मेघाच्छन्न है, बिजलियाँ चमक रही हैं, संपूर्ण पृथ्वी तमालपत्रों से आच्छादित है– समय सुहावना है—यह जानकर चित्रकूट पर्वत पर विद्यमान श्री राम ने सीता जी को वर्षाऋतु के आगमन की सूचना दी और बोले—तुम इस समय इस वन में एकाकिनी हो, इस प्रकार एकांत में अपनी प्रिया के साथ रमण करते हुए श्री राम की लीलाएँ रक्षा करें।

वर्षाऋतु सुखी एवं संयोगी व्यक्तियों के लिये आनंदप्रदायिनी मानी गई है। न केवल वर्षा ऋतु में की गई श्री राम की लीलाएँ सभी को प्रफुल्लित करें अपितु वसंत ऋतु की क्रीडाएँ भी आनंदित करें—

श्रीचित्रकूटशिखरे विलसद्वसन्त-
मल्लीकदम्बसहकारसमूहसान्द्रे ।
प्राणप्रियां जनकजां रमयन् रमेशो,
रामः सदैव कुशलं प्रकटी करोतु ॥ ४ ॥

'वसंत ऋतु' में जब मल्ली-कदंब-आम्रादि के वृक्ष खिल रहे हों—सर्वत्र सुगंध व्याप्त हो रही हो—इस प्रकार चित्रकूट पर्वत के शिखर पर विलास करते हुए प्राण-प्रिया जनकनंदिनी सीता को प्रसन्न करते हुए श्री राम सभी को आनंदित करें।

अगले पद्य में कवि कलानिधि स्वयं के विषय में लिखते हैं—

वाचः पल्लवनं रसैकघलनं न्यायादि विद्याजुषां,
भूयो दुर्लभमेव यद्विवदतां वैरस्य भाजां नृणाम् ।
तज्जानातितरां कलानिधिकविः श्रीकृष्णनामा सुहुः
श्रीमन्मैथिलनन्दिनीरमणसद्भक्तिप्रभावादहो ॥ ५ ॥

वाणी के पल्लवन एवं रस चमत्कृति को भगवान् श्री राम की सद्भक्ति के कारण कविकलानिधि श्रीकृष्ण यह अच्छी प्रकार से जानते हैं जिसे न्यायादिविद्यायुक्त-सर्वदा विवादपरायण राजा लोग भी नहीं जानते। प्रस्तुत रचना की प्रशंसा में वे लिखते हैं—

इदमलौकिकमाद्यरसात्मकं, कलितकोमलकाव्यकलाकुलम् ।
रघुपतेर्विरुदं विशदं वचः शृणु कविप्रवरस्य कलानिधेः ॥ ६ ॥

वास्तव में यह रचना अलौकिक है—श्रीराम का इस प्रकार का वर्णन अन्यत्र नहीं प्राप्त होता। इसके पश्चात् लेखक 'अष्टपदी' के द्वारा श्रीराम का जयगान करता है—

जय रघुवंशभूषण राम गिरीशादि शोभन नाम ।
जय कामिनीमुखनयनमानसकमलवनसुखधाम ॥ १ ॥
ध्रुवम् ॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जय कायकलपतरूपगतरततरुणता मधुकाम ।
जय रूपमधुरिममंजरी कुलकलितमोहित धाम ॥ २ ॥
(जयरघुवंश०)

जय लोकनयन विलोल मधुकर मधुर मधुरस धाम ।
जय भूमिकंटक रावणादिक जनित दुःख विराम ॥ ३ ॥
(जय रघुवंश०)

जय जह्नुजाजलधौतनिजपदकज्जलसदभिराम ।
जय मधुरमकराकारकुण्डलकलितललितललाम ॥ ४ ॥
(जय रघुवंश०)

जय जय भवन्तं रूपवन्तं रसिकमयमुपधाम ।
जय जय विभो हे तव गुणावलिरिह हरतु भवदाम ॥ ५ ॥
(जय रघुवंश)

जय जय भयानक कलिमहातपजनजलदविश्राम ।
जय कोटिकपटकुगरकं (?) तव नाम रहसि जपाम ॥ ६ ॥
(जय रघुवंश०)

जय देवि ! मधुरिमसागरे त्वयि नित्यमेव रमाम ।
तव चरणमखिल भवापवर्गमेतदेव नमाम ॥ ७ ॥
(जय रघुवंश०)

जय देव देहि समर्थता-मितमिन्द्रियाणि दमाम ।
जय जनकजेश भजे यतोऽखिल पातकं विघमाम ॥ ८ ॥
(जय रघुवंश०)

इति राघवस्तुतिगर्भितं रमणीयमञ्चितसाम ।
कविवर कलानिधि भाषितं सुजने नमाम नमाम ॥ ९ ॥

लोककोकघनशोकसन्ततोन्मोकवासरमणो चिरन्तने ।
चित्तसम्प्रविशरामनामनि त्वं निकाममभिराम धामनि ॥ १० ॥

इस प्रकार लेखक ने अष्टपदियों की रचना की है। प्रत्येक अष्टपदी की समाप्ति पर कवि ने एक पद्य द्वारा श्रीराम को प्रणाम किया है। द्वितीय अष्टपदी के अंत में निम्नलिखित पद्य है—

कामात्यर्थाभिरामा कृतिरतुलरामा मामरामा निषेव्यः
सामादिस्तोत्रधामा धवलतरयशोग्रामकामाभिगेयः ।
वामात्तामत्रियामा परिदृढ सुषमा मानदामापहारी
धामा सामान्यनामा कलयतु कुशलं कोऽपि रामाभिधानः ॥ ८।२ ॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मूल ग्रंथ को देखने से ज्ञात होता है कि 'अष्टपदी' में आठ ही पद नहीं हैं, कहीं कहीं पर इनकी संख्या ११ तक भी पहुँच गई हैं। फिर भी उसे 'अष्टपदी' ही कहा गया है।

कथावस्तु

पूर्ण रचना १२ सर्गों में विभक्त है। प्रथम सर्ग में ६ अष्टपदियाँ हैं। इनमें विभिन्न वर्णन हैं। विभिन्न छंदों एवं विभिन्न अलंकारों का प्रयोग रोचक है। कथावस्तु का वर्णन संक्षेप में यों हैं—

प्रथम सर्ग—वनवास के १४ वर्षों में श्रीराम अपनी प्रिया धर्मपत्नी के साथ विभिन्न स्थानों में घूमते रहे थे। उनका अधिकांश समय चित्रकूट पर्वत पर पंचवटी नामक स्थान पर ही बीता था। वहाँ पर रहने के कारण आसपास के व्यक्तियों से उनका परिचय भी हो गया था और इस प्रकार वे वहाँ सुख का अनुभव कर रहे थे। ग्रामीण स्त्रियाँ सीता जी के पास आती रहती थीं। इसलिये उन्हें भी एकाकीपन का आभास नहीं होता था। वे स्त्रियाँ ही उनकी सखी के रूप में रासक्रीड़ादि में उपस्थित की गई हैं।

वसंतऋतु है। मलयाचल की चंदनमिश्रित वायु बह रही है चंद्रमा की कांतियुक्त किरणें वियोगिनी स्त्रियों को कष्ट दे रही हैं। श्रीराम भी पंचवटी से कहीं दूर गए हुए हैं। उस समय प्राकृतिक परिवर्तन देखकर उन्हें श्री राम की याद आई। आसपास सभी स्थानों पर अन्वेषण कराया पर वे न मिले। श्री सीताजी अत्यंत विरहातुरा हो रही थीं, उसी समय एक सखी ने उन्हें बताया कि वहीं चित्रकूट पर्वत के समीप सरयू नदी के किनारे श्रीराम बैठे हुए हैं। उस सखी ने अष्टपदी द्वारा श्री सीताजी से वर्णन किया—**इह सरयूतट केलिवने, प्रियस्तव विलसति मोदघने**······। इसमें श्रीराम का सीताजी के प्रति अनुराग व्यक्त किया गया है।

द्वितीय सर्ग—विरहातुरा श्री सीताजी ने 'मान' कर लिया था। वे सखी के कहने पर भी प्रसन्न नहीं हुईं। तब एक अन्य सखी ने वार्तालाप के प्रसंग में सीताजी से उसी प्रासंगिक विषय पर उपदेश देना प्रारंभ किया—**चिंतय कृत सरयूतटवासं रामं रतिपतिविहितविलासम्**···। इस प्रकार बार बार कहने पर सीताजी का मान समाप्त हुआ और सखियों के कहने पर उन्होंने शृंगार किया। उधर श्री राम ने सरयू नदी के तट पर केलिक्रीड़ा करने का निश्चय किया—

इत्याकर्ण्य सखीवचो जनकजा शृंगारलीलाभरै-
रात्मानं स्मरक्षारकोटिजयिनं संभूषयामास यत्।
तच्छ्रुत्वा रघुनन्दनोऽपि सरयूतीरे निकुञ्जालये
चक्रे कौसुमकेलितल्पकलनाकाङ्क्षां स्वकीयैर्जनैः ॥११॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक चतुर सखी ने सीता जी के सौंदर्य को देखकर उनका पूर्ण शृंगार किया। उनका अंग प्रत्यंग दमक उठा। सखियाँ हास परिहास करने लगीं, परंतु उन्हें तो केवल श्री राम के दर्शन की उत्कंठा थी। अत्यंत आतुर होकर अंत में श्री सीताजी सखियों से अपनी इच्छा प्रकट कर सकीं—दर्शय मे रघुनन्दन वदनम्... । इसमें उनके मुख के विभिन्न उपमान बतलाते हुए सौंदर्यातिशय का वर्णन किया गया है।

तृतीय सर्ग—सीताजी प्रफुल्लित वदना हैं। उनका सारा शरीर दमक रहा है। एक सखी सरयूतट की कुंजों से घूमती हुई आई है और वह सीतावियोग में अत्यंत दुखी श्रीराम की वियोगावस्था का वर्णन श्री सीता जी से कर रही है—

जानकि तव विरहेण दूयते रघुपति रतिरतिशाली।
गतिमतितति सप्रेमभना अपि भवदागम संभाली ॥ ध्रुवम् ॥

श्रीराम की विरहावस्था सुनकर श्री सीताजी भी उत्कंठित हो गईं। वह अपने मनोवेग को रोक न सकीं और सखी से उस स्थान पर पहुँचाने को कहने लगीं, जहाँ से वह आई है अर्थात् जहाँ प्राणपति श्रीराम वियोगावस्था में बैठे हैं—

इत्युक्त्वा जनकाधिराजतनया सख्या रसख्यातया
पूर्णप्रेमविवर्द्धनप्रचुरया सज्जाभिगन्तुं प्रियम्।
लज्जामात्मविलग्नचेतसि तृणीकृत्योत्सुका दर्शने
तामाह प्रसभं सखिप्रणयिनं मां प्रापयेत्येवसा ॥

सखी ने श्री सीताजी को अभीष्ट स्थान पर पहुँचा दिया। श्रीराम ने अपनी अभिलाषा पूर्ण करनेवाली सखी को पारितोषिक दिया और उसे विदाकर एकांत में भगवान् कामदेव की आराधना करने लगे—

सीतादर्शन कामलोलहृदयः पूर्णाभिलाषप्रियः
तस्यै प्राज्यतरं प्रसादमददात्सख्यै रघूणां पतिः।
अन्तःकुंजनिकेतनस्थसुमनस्तल्पाय सार्द्धं तया
सोत्यर्थं स्पृहयास्वभूव सुरतक्रीडाविधौ तत्परः ॥

चतुर्थ सर्ग—इस सर्ग का नाम है 'प्रियाप्रियसंगमम्'। इसमें सखियाँ श्री सीताजी को शृंगारोपदेश देती हैं। उन्होंने जब जान लिया कि श्री सीताजी का श्री राम के साथ मिलन हो चुका है तो यह उपदेश देना आवश्यक समझा। यह नर्म सखी थी। उस समय श्री राम भी वहीं उपस्थित थे। नर्म सखी द्वारा प्रयुक्त—

समुपागता रमणेन सहत्वं विरचय केलिकलापम्।
रघुनाथेन साकमुररीकुरु विलसितममर दुरापम् ॥ १ ॥
लीलया रतिशीलया सखि, रमय रामममनुरूपम्।
स्वत्प्रणयैकविलासवशं रघुवंशशिरोमणि भूपम् ॥ ध्रुवम् ॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उक्त अष्टपदी को सुनकर श्री राम भी तरंगित हो उठे और उन्होंने भी अष्टपदी द्वारा यह बतलाया कि यह सरयूतट ही केलियों के लिये अत्यंत सुंदर स्थान है। श्री राम द्वारा प्रयुक्त 'अष्टपदी' को सुनकर सभी सखियाँ लज्जित हो उठीं। श्री सीताजी की मनोदशा एवं रूपसौंदर्य दर्शनीय था। सखियाँ श्रीराम के मनोगत भावों को समझकर किसी न किसी बहाने से इतस्ततः चली गईं। इस प्रकार श्रीराम को पुनः एकांत मिल गया।

पंचम सर्ग—श्री सीता जी को यह भय लगा कि कहीं श्री राम मुझे छोड़कर अन्यत्र न चले जाँय। संयोग के बाद वियोग दुखावह होता है। उन्होंने श्रीराम को प्रसन्न करने के लिये सभी सखियों को बुलाया—

अथ सीतारतशीतावुत्साहवतीवियोगलवभीता।
अभिरामं रघुरामं रमयतुमामन्त्रयत्सखीः सर्वाः ॥१॥

सखियाँ पुनः एकत्र हुईं। सभी ने मिलकर गान प्रस्तुत किया जिसका आशय था—श्री राम और सीता को परस्पर प्रेमलाप का उपदेश देना। वह अष्टपदी है—

हे जानकि, हे राघव, सम्प्रति रमणमुभौ सन्तनुतन् ॥ ध्रुवम् ॥

श्री राम ने पुनः केलिक्रीडा प्रारंभ की जिसे देखकर देवता भी प्रसन्न हुए। रासनृत्य रचा गया। भगवान् श्री कृष्ण के समान ही श्रीराम प्रत्येक सखी के साथ नाचने लगे। एक घेरा बनाया गया और उसके बीच श्रीसीता जी खड़ी थीं।

षष्ठ सर्ग—प्रस्तुत सर्ग में भगवान् श्री राम एवं श्रीसीता जी की 'मधुकेलि' का चित्ताकर्षक वर्णन है। वर्णन करते हुए कविकलानिधि लिखते हैं—

उन्मीलन्मधुकेलिकौतुककलाविष्टस्फुरज्जानकी
कान्तस्वान्तनितान्त रोपितशरौघे निर्विशेषं स्मरे।
व्याभिश्रप्रसराः प्रियाप्रणयिनोर्वक्राकटाक्षच्छटाः ॥
लीलाम्भोरुह पुण्डरीकपटलारम्भं प्रचक्रुस्तराम् ॥११॥

श्री जानकी जी भगवान् श्री राम के समीप होने से परम प्रसन्न हैं। वे यही चाहती हैं कि श्रीराम सर्वदा साथ ही रहें एवं इस रसमयी स्थिति का अंत न हो।

सप्तम सर्ग—इस सर्ग में भी श्री राम तथा सीताजी की केलि का वर्णन है। यह केलिक्रीडा गत सर्गों से भिन्न है अतः पुनरुक्ति नहीं। चंद्र की किरणें संयोगी नवदंपतियों को क्रीडा की प्रेरणा प्रदान करती हैं। ये ही किरणें वियोगावस्था में दाहक हो उठती हैं। इस प्रकार चंद्र की स्वच्छ चाँदनी में बैठे हुए भगवान् श्रीराम तथा जानकीजी सखियों द्वारा गाई जानेवाली अष्टपदियों से प्रभावित होते हैं एवं नाना प्रकार से क्रीडा करते हैं—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अथोदिदाय पूर्णतां दधान एवशीतरुक्
कुमुद्वतीकदम्बबन्धुरम्बुजद्विषत्तमः ॥ १ ॥
दिगंगनामुखाब्जचारु कुंकुमानुलेपभृत्
प्रदोषतां ततामसेभकुम्भभेदकेसरी ॥ २॥

उस स[illegible] [illegible]ी गाने लगी, कोई ताल देने लगी, कोई वीणावादन में मत्त हो रही है तो कोई स्वरसंयोग में व्यस्त है। इस प्रकार सभी सखियों के बीच भगवान् श्री राम ने 'वेणुवादन' प्रारंभ किया —

काचिद्गायति तालमन्यवनिता दत्तेतिमत्तेक्षणा
वीणां वादयते च काचन परासंगे ददाति स्वरम्।
सर्वं सर्वं समाज एव दधति स्वैरं रसोत्साहितां
मध्ये श्री रघुनाथ वेणुरणितं रेजेऽखिलोत्साहदम् ॥१०॥

अष्टम सर्ग—इसमें 'रासवर्णन' है। यह सर्ग बहुत बड़ा है। श्रीसीता जी को कामदेव द्वारा छोड़े गए तीक्ष्ण बाण सर्वदा भयभीत किया करते थे। सीताजी ने श्री राम को 'रासलीला' रचने के लिये कहा। श्री राम रासलीला में दक्ष थे ही। उन्होंने मनसा समाज को उत्पन्न किया —

इत्याकर्ण्य प्रेयसी मञ्जुवाक्यं
रासक्रीडा दक्षिणो रामचन्द्रः।
तत्कालोत्थानन्दभाजं समाजं
चित्तादाविर्भावयामास शीघ्रम् ॥

'राधाकृष्ण' की रासलीलाओं का स्मरण करते हुए श्री राम सीता ने रास क्रीडाएँ कीं। गीतवाद्यादि की ध्वनियाँ गूँज उठी। शृंगारिक लीलाएँ प्रारंभ हुई। अन्य नारी-समूह के साथ श्री सीताजी भगवान् श्री राम को देखकर प्रसन्न हो रहीं थीं।

नवम् सर्ग – रासलीला चलती रही। किसी को भी थकान नहीं हुई। सीता और राम ही वास्तविक थे अतः ये दोनों परस्पर दर्शन से परिश्रम रहित हो जाते थे। श्रीसीताजी अपनी अंगकांति से श्री राम को प्रसन्न कर रहीं थीं —

रमयति सीता दशरथनन्दनमंगमयूखसमूहैः।
कोटि रमारमणीयसहस्त्रै रागमनिगमदुरूहैः ॥

इस 'अष्टपदी' में कवि ने भगवती श्री सीता जी की अंगशोभा का वर्णन किया है।

इस रासलीला से सर्वत्र विक्षोभ होगया—पत्थर पिघलने लगे, जल निश्चल हो गया, त्रिलोकी संभ्रमित हो गई; शंकर तथा ब्रह्मा की समाधि भी भंग हो गई—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अश्मानो द्रवतामवापुरुदकं तत्सारवंशीरवं
सद्यो निश्चलतामगात् त्रिभुवने जातो महान् संभ्रमः ।
शम्भोः पद्मभुवश्च बाधितमिवाधीतं समाधिव्रतम्
श्री रामस्य विलासरासविभवे वंशीरवे दीव्यति ॥ २६ ॥

दशम सर्ग--इसमें खंडितादि नायिकाओं का वर्णन है। नायिकाओं के लक्षणों को कवि कलानिधि ने श्रीसीताजी पर घटाया है। नायिकाभेद के अनुसार ये सभी उदाहरण स्वीया नायिकाओं के हैं। पहले तो श्रीराम (अनुकूल नायक) अकेली अपनी नायिका श्रीसीताजी से पूर्ण संतुष्ट नहीं हुए अतः उन्होंने समय भेद से, अवस्था भेद से तथा क्रिया भेद से अनेक रूप धारण कर नायिका के साथ रमण किया—

एकाकिनो न रमणं रसपूर्णभुक्त्यै,
नाप्येकपत्न्युपगतस्य रघूद्वहस्य ।
तस्मादनन्त शतकोटिनिजस्वरूपैः
रेमे रमा च रमणीरमणश्च रामः ॥ ३ ॥

श्रीराम सीता से वियुक्त हो जाते हैं। श्रीसीताजी उन्हें सोता हुआ छोड़कर अन्यत्र चली जाती हैं। श्रीराम उन्हें सर्वत्र ढूँढ़ते हैं परंतु वह कहीं भी नहीं मिलतीं। श्रीराम वियोगातुर होकर सीताजी की नर्म सखी से कह रहे हैं—

कथय सखि ! त्वमिदं कथमासे प्रियया तया विनाऽहम् ।
दहतितरामङ्गानि मनोभरधिकविरहपरिणाहम् ॥
ध्रुवम् ॥ १ ॥

वे उसे ढूँढ़ने तथा मान त्याग करने के लिये कहते हैं। सीता ने देखा कि श्रीराम रात को किसी अन्य नायिका के साथ रमण कर रहे थे अतः उसने मान कर लिया और वहाँ से अन्यत्र चली गईं। सीताजी ने नर्म सखी से कहा—

पश्य, सखि, पश्य मत्प्रियतमातिक्रमम्,
यामिनीमन्यसदने कुरुत विश्रमम् ।
तावदिह महावीरो महाविक्रमं,
कलयते मयि शरैरात्मनो निःसमम् ॥ १२ ॥

नर्म सखी सीताजी द्वारा श्रीराम की लीला को सुनकर पुनः सांत्वना देती हुई कहती है—प्रिय सीते, श्री राम के विषय में व्यर्थ ही शंका मत करो। वे तुम्हें छोड़कर अन्यत्र नहीं जा सकते, तुम्हारे बिना उनका एक क्षण भी एक कल्प के समान व्यतीत होता है, इत्यादि खंडन पूर्वक उसने श्रीराम की विरहावस्था का वर्णन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किया। राम की विरहावस्था सुनकर श्री सीताजी' 'मान' भूल गईं। उन्हें प्रतीत होने लगा मानों उनका श्रीराम से विरह ही हो गया है। विरहिणी दशा को प्राप्त श्री सीताजी को नर्म सखी ने सांत्वना दी और श्रीराम से मिलन करा देने का वचन दिया। उसने जाकर श्रीराम से सारी स्थिति का वर्णन किया। श्रीराम नर्म सखी के साथ श्रीसीताजी के पास आए और प्रणाम कर सरयूतटगत कुंजवन में पुष्पशैया पर रमण करने लगे—

सरयूतटमञ्जुकुञ्जभूमौ चतुराकल्पचारुपुष्पतल्पे।
रमणो रमयां बभूव रामां स इमां कोटिरतिप्रभाभिरामाम्॥ १६॥

ग्यारहवां सर्ग—इस सर्ग में वर्षा ऋतु का वर्णन है। सर्ग का नाम है—'घनऋतु महोत्सव'। इसका प्रारंभ निम्नलिखित पद्य से है—

अथ तरुवल्लिविचित्रे मित्रे मदनस्य चित्रपुष्पवने।
रामं सेवितुकामः कामं जलदागमः समायातः॥ १॥

श्री राम ने वर्षा ऋतु को संप्राप्त जानकर सीताजी से अष्टपदी द्वारा वर्णन किया—

समुदेति खे जनकात्मजाजलदाघटा जलदाप्रियम्।
चपलेव नायककण्ठजाजनि हेलितावनि या ह्रियम्॥ ध्रुवम्॥

नर्म सखी ने वर्षावर्णन के अनुरूप एक सुमधुर गीति गाई—वर्षा कालीन शृंगार की सारी सामग्री उपलब्ध नहीं है जिसका होना आवश्यक है। श्रीराम ने गीति श्रवण कर वांछित सामग्री उपस्थित कर दी—गीतियां और अष्टपदियाँ गाई जाने लगीं।

बारहवाँ सर्ग—इस सर्ग में शरदोल्लास का वर्णन है। वर्षा के पश्चात् शरद् ऋतु का आगमन होता है। इसमें नायक-नायिकाओं की शरत्कालीन क्रीडाओं का वर्णन है। कविकलानिधि ने ७ पद्यों में शरद ऋतु का वर्णन किया है। उनका कथन है कि शरद्कालीन चंद्रमा की स्वच्छ चंद्रिका ने कामोदीप्त कर दिया। श्रीराम और सीता मिलन की आकांक्षा से विह्वल हो उठे और समीपस्थ नर्म सखी से सीता को बुलाने के लिये 'अष्टपदी' में कहने लगे। उसे सुनकर नर्म सखी सीताजी के पास गई और 'अष्टपदी' के द्वारा उसने कहा—

शृणु जानकि! ममवचमुदारामेहि रमण सविधे धृतहारा।
विशदाभरण वसन परिधाना समभिसर प्रियतममतिमाना॥ १॥ ध्रुवम्

नर्म सखी की बात सुनकर श्री सीताजी अपने प्रिय श्रीराम से मिलने चलीं। श्री राम ने जब नूपुरध्वनि सुनी तो वे आती हुई श्री सीता को सतृष्ण दृष्टि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से देखने लगे। जब वह अत्यंत समीप आ गईं तब नर्म सखी ने अष्टपदी द्वारा बतलाया कि श्रीराम समीप ही हैं—

परिपश्य जानकि ! नायकं रघुनायकं सुखदायकम् ।
इममीक्षया समसायकं शरदच्छचन्द्र सहायकम् ॥१॥ ध्रुवम् ॥

श्री सीताजी ने सतृष्ण नेत्रों से राम के मुखारविंद की मधुरिमा का पान किया। इसी समय नर्मसखी ने कल्पवृक्ष के नीचे अत्यंत विस्तृत पुष्पशैया देखकर 'अष्टपदी' द्वारा संकेत किया कि वे दोनों उस पर क्रीडा करें। 'अष्टपदी' का यह परिणाम हुआ कि श्री राम सीताजी के साथ 'केलिक्रीडासक्त' हो गए।

यहाँ द्वादश सर्ग की समाप्ति है। इसके पश्चात् पाँच अष्टपदियाँ हैं। ये सभी अष्टपदियाँ कवि कलानिधि ने उपसंहार रूप में रची हैं। ततश्च कुछ पद्यों में सीताराम का शृंगारिक वर्णन भी मिलता है। ये सभी मुक्तक पद्य हैं, यथा—

जङ्घाद्वंद्वमयुद्ध सर्वं पुरतो भारो नितम्बे पत-
द्बिम्बोष्ठस्य कपोलयोश्च समभूद्दन्तक्षतानां भरः ।
कामिन्या रतिसंङ्गरे स्मरशरावेशस्खलत्कञ्चुकी
मध्यादुल्लसितौ स्तनौ मदवशान्मुक्तौ मतंगाविव ॥१३॥

इसके बाद श्रीसीताजी श्रीराम से दो अष्टपदियों में चरण तथा मुखमंडन के लिये कहती हैं। श्री राम ने तदनुसार मंडन भी किया। श्री राम की स्तुति करते हुए कविकलानिधि लिखते हैं—

वंशे वीर विदेहजे जय जयव्यक्तावतारे त्वयि
स्वान्तं कान्त निशान्तमान्तरमहोत्क्रान्तं तनोतूत्तरम् ।
त्वय्येवाविरतं रतं न विरतं भूयात्कदाचित्तदा
स्वानन्दाख्यपदे तदेकमनसा कामाभिरामे रमे ॥२१॥

अंत में कविकलानिधि ने अपनी प्रशंसा में कुछ पद्य दिए हैं जिसे लेखक की गर्वोक्ति कह सकते हैं।

ग्रंथ की समाप्ति पर या अन्यत्र कहीं भी रचनाकाल का उल्लेख नहीं है। अतः इसका समय पूर्ण रूपेण निश्चित नहीं किया जा सकता। आनुमानिक रूप में यह रचना संवत् १७७० से १७८५ के मध्य की होनी चाहिए। इसकी रचना के संबंध में उस सुप्रसिद्ध किंवदंती का उल्लेख ऊपर हो चुका है जिस कारण लेखक को 'रामरासाचार्य' की उपाधि मिली थी।

प्रस्तुत रचना 'राघवगीतम्' गीतिकाव्य है, जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है। इसमें प्रयुक्त अष्टपदियों की लय विभिन्न हैं। संगीतशास्त्र के अनुसार इनका गेयत्व सिद्ध है। अष्टपदियों में सर्वप्रथम प्रयुक्त पंक्ति का प्रत्येक पद के साथ गान होता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उदाहरण के रूप में प्रथम सर्ग में ही वसंतागम से विरहातुरा श्री सीताजी को सांत्वना देती हुई तथा श्री राम को दिखाती हुई नर्म सखी ने अष्टपदी प्रस्तुत की है—

इह सरयूतटकेलिवने, प्रियस्तव विलसति मोदघने ॥
कुसुमपरागविपुलपटवासैराहितकेलिविलासी ।
अरुणरजोभरमुष्टिभिरनुलव-निज संसदि परिहासी ॥ इह०
त्वयि कर्णौ कुरुते नयने त्वयि रसनामपि त्वयि गाने
प्रत्यङ्गं पुलकयति समोदः त्वयि परिरम्भणदाने ।।६।। इह०
हा हा जनकराजवरतनये पत्यौ मा कुरु मानम् ।
वक्षसि कलितनिजप्रतिबिम्बितदर्शनपरमनिदानम् ।।७।। इह०
तव विरहे रघुनन्दनचिरं भ्रमति विना निज वित्तम् ।
मधुसमये न हि किंचन समये इह केलिकलहमनिमित्तम् ।।८।।इह०

प्रत्येक अष्टपदी के प्रारंभ में भूमिका रूप में वर्णिक छन्दों में प्रसंग तथा संबंध का सूचन है। इस अष्टपदी के पूर्व दो पद्य दिए हैं—

मलयगिरिदरीषु प्रोन्मिलच्चन्दनद्रु-
भुजगगरलभारस्फारफूत्कारधारी ।
हरनिहतमनोजप्राणसंत्राणकर्ता ॥
ज्वलयति विरहाग्निं दाक्षिणात्यः समीरः ।।११।।

सीतांशुद्युतिकौमुदीकृत समुद्वेगा वियोगातुराः
कामिन्यः सततं हितश्रवणतः किञ्चित्कृताकर्णकाः ।
प्रोन्मीलत्सहकारशाखिविलसन्नव्याङ्कुरास्वादन-
क्रीडन्मत्तपिकीकुहूकलरवैर्भूयो भृशं तापिताः ॥१२।

इसी प्रकार अष्टपदी के अंतिम पद्य को लेखक ने अपनी छाप से अंकित रखा है, महाकवि जयदेव के समान—

सेवित कवि पदसु कविकलानिधि मुखचन्द्रामृतकल्पम् ।
शृणुत रामविषयेषु सु(?)महोज्वल वर्णनमेतदनल्पम् ॥ इह०

इस प्रकार प्रत्येक सर्ग में अष्टपदियों की संख्या ७८ से न्यून नहीं है।

'राधाकृष्ण' के समान जो लीलाएँ हुईं, उनपर कवि ने अपना दृष्टिकोण उपस्थित किया है। राधाकृष्ण की लीलाएँ द्वापर में हुईं और श्री राम सीता की लीलाएँ त्रेता युग में। परंतु राधाकृष्ण की लीलाएँ प्रसिद्ध होने से उपमान मान ली गईं और लिखा—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जातं राधाकृष्णरूपेण रासं सीतारामौ चिन्तयित्वा स्वचित्ते।
भूयोऽप्याविर्भावयाचक्रतुस्तौ युक्तं लक्ष्मीकोटिरामासमूहः ॥
एको रामः कोटिरामासमूहैः रेमे यावन्त्येव रूपाणि धृत्वा।
रामास्तावन्त्येव रूपाणि ते नु स्तनैवोच्चैः प्रेयसा संविहर्तुम् ॥ १३॥

दशम सर्ग में राम अपनी स्थिति का वर्णन नर्म सखी से कर रहे हैं—

कथय सखि ! त्वमिदं कथमासे, प्रियया तया विनाहम्।
दहतितरामङ्गानि मनोभूरधिक विरह परिणाहम् ॥ ध्रुवम्
लगति कृपाणी कोकिलवाणी तच्चिन्तनमनुचित्तम्।
अलिकुलगीतं कलयति भीतं मामिह तदखिलवित्तम् ॥
तामानय मानय सम्मानय मनसि वितानय मोदम्।
त्वमधिकरक्षा ममधृतपक्षा कलय विलासविनोदम् ॥

कवि कलानिधि अपने समय के सुप्रसिद्ध आलंकारिक कवि हैं। शब्दालंकारों के चित्रण में ये सिद्धहस्त हैं। पूर्वोक्त सभी पद्यों में इनकी छटा देखने को मिलती है। परंतु यह नहीं कि उनमें अलंकार की ही मुख्यता है, अर्थ गांभीर्य नहीं। श्रीराम की स्तुति में वे कहते हैं—

वंशे वीर विदेहजे जयजयव्यक्तावतारे त्वयि
स्वान्तं कान्त निशान्तमान्तर महोत्तान्तं तनोतूत्वरम्।
त्वय्येवाविरतं रतं न विरतं भूयात्कदाचित्तदा
स्वानन्दाख्यपदे तदेकमनसा कामाभिरामे रमे ॥ २१ ॥

ग्रंथ की समाप्ति पर लेखक की ये गर्वोक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

माधुर्यं प्रसरन्सुधारसरमाधुर्यं समास्वादन-
स्वानन्दे रसिकोत्तमाः किल समाधुर्य नराः केचन।
श्री श्री कृष्णकलानिधानकविना तस्यायनं सम्प्रति-
प्रोक्तं राघवजानकीसुचरिते संचारिकाध्यं नवम् ॥२४।
यै पीयूषद्रवीणातिशयकलरवीणाच्छवीणाप्रवीणा
तरसर्वाखर्व गर्वा सह न महहयस्माधुरी साधुरीतिः।
श्री कृष्णाख्यः कविस्तज्जगति जनितवान् जानकीरामगीतत्
प्राज्ञाः शृण्वन्तु भाग्यान्निधिरिह सकलानां कलानाम् ॥२५।

॥ इति रामगीतं सम्पूर्णम् ॥

यद्यपि कविकलानिधि का यह विषय एवं इसकी प्रेरणा का स्रोत जयदेव के गीतगोविंद के अतिरिक्त रास पंचाध्यायी भी रहा है किंतु रासपंचाध्यायी से तो केवल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वस्तु का ग्रहण मात्र है वह भी संपूर्ण रूप में नहीं। महाकवि जयदेव के गीतगोविंद का ही पूर्ण अनुकरण है।

जयदेव और कविकलानिधि श्रीकृष्ण भट्ट

जिस प्रकार गीतिकाव्यों में जयदेव का 'गीतगोविंद' संस्कृत साहित्य में प्रसिद्ध है उसी प्रकार जयपुर के संस्कृत साहित्य के इतिहासप्रसिद्ध महाकवि कवि कलानिधि श्री कृष्ण भट्ट की रचना 'गीतराघवम्' प्रसिद्ध है। यों तो इनकी अनेक रचनाएँ हैं, परंतु रामगीतम् उनकी सर्वोत्कृष्ट रचना कही जा सकती है। ये भगवान् श्रीराम के उपासक थे। इन्होंने श्रीकृष्ण के समान श्रीराम की रासलीलाएँ प्रस्तुत कर दीं। इसपर ही जयपुर प्रतिष्ठापक श्री जयसिंह द्वितीय ने इन्हें रामरासाचार्य की उपाधि से विभूषित किया। यह रचना शृंगार रस प्रधान होते हुए श्रीराम सीता के गुणगान से ओतप्रोत है।

कलानिधिजी का रामगीतम्, राघवगीतम्, या गीतराघवम् गीतगोविंद या गोविंदगीत के अनुकरण पर निर्मित है। गीतगोविंद के समान इसमें भी १२ अध्याय (सर्ग) हैं—उसी क्रम से श्लोक, पद, गीति आदि की रचना की गई है। इस दृष्टिकोण से यह रचना भी संस्कृत प्रेमियों के क्षेत्र में आने योग्य है। महाकवि जयदेव की रचना के समान ही कोमलकांतपदावली भी है। विशेषता यह है कि मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान् श्रीराम जो एकपत्नीव्रती थे, उनकी रासलीला का वर्णन इन्होंने किया। श्रीराम की रासक्रीडाओं के संबंध में अन्य रचनाएँ आजतक अनुपलब्ध थीं। कथावस्तु का प्रसार कवि की अपनी सूझ है। जिस प्रकार महाकवि जयदेव ने आलंकारिक भाषा का प्रयोग किया है उसी प्रकार कविकलानिधि ने भी। उदाहरणार्थ-

वेदानुद्धरते जगन्ति वहते भूगोलमुद्बिभ्रते,
दैत्यं दारयते बलिं छलयते क्षत्रक्षयं कुर्वते।
पौलस्त्यं जयते हलं कलयते कारुण्यमातन्वते,
म्लेच्छान्मूर्छयते दशाकृतिकृते कृष्णाय तुभ्यं नमः॥ १॥

—गीतगोविन्द प्रथम सर्ग

नीता येनाविनीताः प्रसभमसुहृदः त्रातभीता मराली,
गीता यस्या विगीतामलचरितभृता चन्द्रशीता प्रशस्तिः।
स्फीतामद्याप्यधीतामति सुकृति जनैर्यः प्रतीतार्थवाणीम्
चक्रे भीतापहत्यै कलयतु कुशलं सोऽद्य सीतापतिर्नः॥ २॥

—गीतराघवम् प्रथमसर्ग

इस प्रकार पूर्वोक्त विवेचन से कविकलानिधि श्रीकृष्ण भट्ट का काव्यसामर्थ्य एवं काव्यगत वैशिष्ट्य स्वतः प्रतीत हो जाता है।

*

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वैयाकरण कवि मार्कंडेय तथा उनका काल

श्यामनारायणसिंह यादव

•

अपने बारे में कुछ न लिखने अथवा अत्यल्प संकेत देने की प्रथा तथा जीवित कवियों के बारे में कुछ न लिखने की परंपरा के कारण प्राचीन कवियों के जानने और समझने में बहुत बाधा पहुँची है। प्राकृत के ख्यातिप्राप्त कवि मार्कंडेय के बारे में भी यही समस्या है। यों तो मार्कंडेय को 'प्राकृतसर्वस्व' के रचयिता के रूप में सारा संसार जानता है परंतु उनके समय के बारे में विद्वानों को भ्रम है तथा उनकी काव्यात्मक उपलब्धियों का समुचित विवेचन नहीं हो पाया है। अंतःसाक्ष्य एवं बहिः साक्ष्य के आधार पर मार्कंडेय का समय निर्धारण और कवि रूप प्रतिष्ठा ही प्रस्तुत निबंध का विवेच्य है।

सर्वप्रथम पिशेल ने 'कैटलगस कैटलगोरम' के आधार पर मुकुंददेव का शासनकाल १६६४ ई० मानते हुए मार्कंडेय का समय सत्रहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना। पिशेल की इस स्थापना ने बाद के विद्वानों को धोखे में रखा। ग्रियर्सन ने अपने कई निबंधों में लिखा है कि मार्कंडेय सत्रहवीं शताब्दी के थे और उनके इस मत को कीथ, ब्युलर, कात्रे तथा घोष ने भी माना है।[1] केवल फ्रेंच विदुषी नित्ती बोलसाई इस मत से असहमत होती हुई कहती है कि मार्कंडेय का समय इससे और पहले का है।[2] अपने मत की पुष्टि में वह कहती है —

१. क–हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर, कीथ, पृ० ४३४।
   ख–इंट्रोडक्शन टू प्राकृत, ब्युलर, पृ० ६४।
   ग–प्राकृत लैंगवेज ऐंड देयर कंट्रीब्यूशन टू इंडियन कलचर, कात्रे, पृ० ३१।
   घ–म० मो० घोष द्वारा संपादित प्राकृत कल्पतरु, पृ० १०, ३ तथा अन्यान्य।

२. ले ग्रामर, पेरिस, १९३८, पृ० ६०-६१।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१. पिशेल[3] के कथनानुसार मार्कंडेय द्वारा उद्धृत वसंतराज को छोड़कर कोई भी कवि ९६४ शकाब्द अर्थात् सन् १०४२–४३ के बाद का नहीं है। वसंतराज का समय भी अनिश्चित है।

२. मार्कंडेय ने लिखा है कि उसने एक सट्टक की भी रचना की है जिसका नाम विलासवती है। इस पुस्तक का उल्लेख १४वीं शताब्दी के आचार्य विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में किया है।

नित्ती दोलसाई भी केवल संदेह करके छोड़ देती है और कोई निश्चित काल हमें नहीं दे पाती। उसने भी लोगों को भ्रम में डाल दिया जब उसने यह लिखा कि मार्कंडेय ने रस गंगाधर से उद्धरण दिए हैं और रस गंगाधर की रचना सत्रहवीं शताब्दी के मध्य में हुई है।[4] तब तो बात जहाँ थी वहीं रह गई। दूसरे तर्क के बारे में कहा जा सकता है कि साहित्यदर्पण में उल्लिखित 'विलासवती' निश्चय ही मार्कंडेय रचित 'विलासवती' से भिन्न है। साहित्यदर्पण में लिखा है कि 'विलासवती' एक नाट्यरासक था जब कि मार्कंडेय की विलासवती एक सट्टक। विश्वनाथ ने स्वयं सट्टक की परिभाषा दी है और कर्पूरमंजरी को इसका उदाहरण बताया और फिर नाट्यरासक की परिभाषा देते हुए वे कहते हैं कि यह एकांकी होता है और इसमें दो अथवा चार संधियाँ होती हैं और वे विलासवती को ऐसी रचना मानते हैं जिसमें चार संधियाँ हैं। एक ही नाम की भिन्न भिन्न रचनाओं की कमी संस्कृत साहित्य में नहीं। उदाहरण के लिये हम कह सकते हैं कि एक शतश्लोकी-दार्शनिक ग्रंथ है जो शंकराचार्य द्वारा प्रणीत है और दूसरा हेमाद्रि द्वारा विरचित औषध ग्रंथ। इसी तरह हम दो काव्यानुशासन भी पाते हैं—एक वाग्भट्ट रचित दूसरा हेमचंद्र लिखित। इसी तरह दो काव्यालंकार भी हैं जिनमें एक के रचयिता भामह हैं और दूसरे के रुद्रट। एक प्राकृत का काव्य 'लीलावती'[5] कौहल रचित बताया जाता है जब कि दूसरी 'लीलावती'[6] एक वीथि—संस्कृत नाटक है जिसके लेखक रामपाणि माने जाते हैं। इस तरह हम देखते हैं कि साहित्यदर्पण में चर्चित विलासवती एक नाट्यरासक है जो मार्कंडेय के सट्टक विलासवती से भिन्न है।

मार्कंडेय के काल निर्धारण में मुकुंददेव सहायक हो सकते हैं। 'प्राकृत-

३. ग्रामेतीक, पृ० ४०।

४. एस० के० डे०—संस्कृत पोएटिक्स, जिल्द १, पृ० २७६; पी० वी० काणे हिस्ट्री आफ संस्कृत पोएटिक्स, पृ० १३३।

५. उषाअनिरुद्धम्. संपा० सी० के० राजा, आड्यार लाइब्रेरी प्रकाशन, भूमिका पृ० १६।

६. लीलावती—सं० ए० एन० उपाध्ये, बंबई, सं० २००५ वि०।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सर्वस्व में मार्कंडेय अपने को मार्कंडेय कवींद्र कहते हैं तथा अपने आश्रयदाता की प्रशस्ति गाते हैं—

श्रीमद्वीरमुकुन्ददेव नृपतौ दोःस्तम्भ कुम्भीनस-
क्रीड़ाग्रस्त समस्त शात्रवकुल-प्राणानिले धर्मतः।
शासत्युत्कलमेदिनीं रघुपतौ साक्षादयोध्यामिव
ग्रामे वीरवर प्रताप नृपतोः पूर्णो निबन्धो नवः॥

स्पष्ट है कि प्राकृतसर्वस्वम् के रचयिता मार्कंडेय कवींद्र मुकुन्ददेव के शासनकाल में जीवित थे। मुकुंददेव की प्रशस्ति गाते हुए कवि ने लिखा है कि जिस तरह रघुपति ने अयोध्या पर राज्य किया उसी तरह मुकुंददेव ने उत्कल अथवा उड़ीसा पर राज्य किया। मुकुंददेव अपने शत्रुओं के नाश करनेवाले थे। साथ ही कवि ने यह भी लिखा है कि उसने यह पुस्तक वीरप्रतापपुर में लिखी। पुरी जिले के साक्षी-गोपाल रेलवे स्टेशन के समीप अब भी वीरप्रतापपुर नामक ग्राम अवस्थित है। पुरी के इर्द गिर्द के प्रसिद्ध शासनों में से वह एक प्रसिद्ध शासन है। शासन वे ग्राम हैं जिन्हें भिन्न भिन्न गजपति राजाओं ने भिन्न भिन्न समय में ब्राह्मणों को संमानित करने के हेतु दान दिए थे। निस्संदेह वीरप्रतापपुर वही गांव है जो मार्कंडेय की जन्म तथा कर्म भूमि है। चूँकि वीरप्रतापपुर एक शासन है इसलिये मार्कंडेय के ब्राह्मण होने में भी किसी प्रकार की कोई शंका नहीं। उन्होंने प्राकृतसर्वस्वम् में न तो अपना परिचय ही दिया है न अपनी जाति का उल्लेख किया है। अंत में केवल इतना लिखा है—इति श्री मार्कंडेय कवींद्रकृतौ प्राकृतसर्वस्वम्। मार्कंडेय यहाँ अपने को कवींद्र लिखते हैं जो संभवतः राजा द्वारा उन्हें दिया गया संमान है। उड़ीसा में गजपति राजा कवियों को संमान और दान देने के लिये विख्यात रहे हैं। विद्वानों को कई मुकुंददेवों ने घपले में डाल दिया। उड़ीसा में मुकुंददेव नाम के तीन तीन राजा हुए। अब हमें यह देखना है कि इनमें रघुपति की तरह शक्तिशाली और प्रतापी कौन हुआ, तभी मार्कंडेय का कालनिर्धारण संभव है। प्रथम मुकुंददेव सोलहवीं शताब्दी में, दूसरा सत्रहवीं शताब्दी में और तीसरा अठारहवीं शताब्दी में हुआ। पिशेल, ग्रियर्सन और ब्युलर प्रभृति विद्वानों ने मार्कंडेय को दूसरे मुकुंददेव का आश्रित मानने की भूल की है। परंतु इतिहास के किसी भी पाठक को इस तथ्य में तनिक भी संदेह नहीं होगा कि मार्कंडेय ने जिस मुकुंददेव की तुलना रघुपति से की है वह केवल इतिहास में आया एकमात्र प्रथम मुकुंददेव ही हो सकता है। इस मुकुंददेव का शासनकाल सन् १५५२-१५६८ माना जाता है।[७] इस मुकुंददेव का शासन उड़ीसा

७. डा० नवीनकुमार साहु – उड़ीसा का इतिहास, पृ० २६५, पादटिप्पणी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में गौरवपूर्ण था। इसने हुगली में एक घाट और मंदिर बनवाया था जिसका नाम त्रिवेणीघाट है और आज भी हिंदुओं का विशेषतः उड़ीसावासियों का यह एक पवित्र स्थान माना जाता है।[८] इसी ने स्वर्णरेखा नदी से कुछ हटकर जलेश्वर से दस-बारह मील दूर रायबानिया नामक विशाल दुर्ग बनाया था जिसके अवशेष आज भी वर्तमान हैं।[९] यह उड़ीसा का अंतिम स्वतंत्र सम्राट् था जिसने कटक के प्रसिद्ध बारबाटी किले का पुनर्निर्माण किया था। अकबर ने इसके साथ राजनैतिक संबंध स्थापित किया था और हसनखाँ खजांची को अपना दूत बनाकर भेजा था जिसके बदले में मुकुंददेव ने परमानंदराय को अपना दूत बनाकर भेजा था।[१०] दूसरे और तीसरे मुकुंददेव केवल खुरदा के राजे थे जिनमें दूसरा शाहजहाँ तथा औरंगजेब के अधीन था। वह सन् १६५५ ई० में गद्दी पर बैठा और खुरदा उसकी राजधानी थी। तीसरे की हस्ती एक जमींदार से अधिक नहीं थी और वह पुरी के राजा के नाम से इतिहास में जाना जाता है। यह सन् १७६६ में गद्दी पर बैठा और मुकुंददेव द्वितीय के नाम से प्रसिद्ध रहा।[११] इस तरह हम देखते हैं कि जिस वीर, यशस्वी और पराक्रमी राजा की प्रशंसा प्राकृतसर्वस्वम् के उपर्युक्त उद्धरण में की गई है, वह अवश्यमेव स्वतंत्र उत्कल नरेश मुकुंददेव है न कि खुरदा का मुगलाधीन राजा अथवा पुरी का नाम मात्र का राजा। इससे यह सिद्ध होता है कि प्राकृतसर्वस्वम् की रचना मुकुंददेव के शासनकाल अर्थात् सन् १५५६ और १५६८ ई० के बीच हुई। इस तरह हम देखते हैं कि स्टर्लिंग, ग्रियर्सन प्रभृति विद्वानों ने मार्कंडेय को भोई वंशीय दूसरे मुकुंददेव का समकालीन मानते हुए यह लिखा कि रामशर्मण तथा मार्कंडेय संभवतः सत्रहवीं शताब्दी में हुए। यह स्थापना युक्तिसंगत नहीं है। मार्कंडेय ने वस्तुतः मुकुंददेव (सन् १५५६-६८) के काल में प्राकृतसर्वस्वम् की रचना की।

यहां हम तत्कालीन उड़ीसा के इतिहास पर भी विहंगम दृष्टिपात करते चलें ताकि आगे चलकर दशग्रीववध महाकाव्य के कवि के बारे में पूरी जानकारी मिल सके। मुकुंददेव श्रीचंदन का, जो गजपति मुकुंददेव के नाम से विख्यात है, उड़ीसा के राजनीतिक आकाश में उस समय आविर्भाव हुआ जिस समय उड़ीसा की राजनैतिक स्थिति डाँवाडोल थी। वह भोई वंश का सेनापति था जिसकी स्थापना गोविंद

८. डा० हरेकृष्ण महताब—उड़ीसा का इतिहास, पृ० ६४।

९. जे० बीम्स—उड़ीसा के इतिहास में मुसलमान, मरहठा और अंगरेजों के अधीन उड़ीसा, डा० नवीनकुमार साहु द्वारा संपादित, जिल्द २, पृ० २६५।

१०. उड़ीसा का इतिहास, पृ० ६४-६५।

११. वही, पृ० १४८-१४६।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विद्याधर ने की थी। विद्याधर गजपति प्रतापरुद्रदेव का सेनापति था। प्रताप-रुद्रदेव अंतिम स्वतंत्र सूर्यवंशी नरेश था। जिन तीन पराक्रमी सूर्यवंशी नरेशों की चर्चा दशग्रीववध महाकाव्य में आई है वे तीनों सूर्यवंशी नरेश थे और इन लोगों ने सन् १४३५ ई० से सन् १५३५ ई० तक शासन किया था। प्रताप रुद्रदेव की मृत्यु के बाद उसका सेनापति गोविंद विद्याधर उसके सभी पुत्रों को मारकर खुद सन् १५३४ ई० के आस पास राजा बन बैठा। वह भोई वंश का संस्थापक था जिसने २५ वर्षों तक राज्य किया। सन् १५५९ ई० में शक्ति संचय कर मुकुंददेव भोई वंश के अंतिम नरेश को गद्दी से हटाकर स्वयं शासक बना। वस्तुतः मुकुंददेव, जैसा कि पहले कहा जा चुका है उड़ीसा का अंतिम स्वतंत्र हिंदू सम्राट् था जिसने सन् १५६८ ई० तक शासन किया। वह अपने अधीनस्थ एक विद्रोही सामंत रामचंद्र भंज के द्वारा बालेश्वर के समीप युद्ध में मारा गया। मुकुंददेव के मारे जाने के बाद रामचंद्र ने खुरदा रियासत की स्थापना की और अकबर के द्वारा सन् १५९२ ई० में इसे मान्यता मिली। इसका भी वंश भोई वंश माना जाता है और रामचंद्र की परंपरा में छठा राजा मुकुंददेव हुआ जो सन् १६६४ ई० में गद्दी पर बैठा। स्टर्लिंग ने इसे ही प्राकृतसर्वस्वम् के रचयिता मार्कंडेय का आश्रयदाता मानने की भूल की है। एक और तीसरे मुकुंददेव भी हैं। इन्होंने भी खुरदा पर ही शासन किया। इनका समय सन् १७९५ ई० है। अंगरेजों के उड़ीसा जीतने के बाद ये अंतिम मुकुंददेव केवल पुरी राजा के नाम से जाने जाते हैं।[१२]

अब हम अंतःसाक्ष्य के द्वारा जाँच करें कि प्राकृतसर्वस्वम् का प्रणेता मार्कंडेय क्या केवल एक वैयाकरण था अथवा दशग्रीववध महाकाव्य का कवि भी? यहाँ हम देखेंगे कि दशग्रीववध और प्राकृतसर्वस्वम् का प्रणेता एक ही व्यक्ति है अथवा भिन्न-भिन्न व्यक्ति; इसके बाद यह कि निर्धारित काल निकष पर खरा उतरता है कि नहीं।

सर्वप्रथम श्री केदारनाथ महापात्र ने विद्वानों का ध्यान इस ओर आकृष्ट किया। 'दशग्रीववध महाकाव्य' की दो पांडुलिपियाँ उड़ीसा स्टेट म्यूजियम, भुवनेश्वर में सुरक्षित हैं।[13] इस महाकाव्य के रचयिता मार्कंडेय कविराज-चक्र-चक्रवर्ती हैं। श्री महापात्र ने बीसवें अर्थात् अंतिम सर्ग के तीन पदों के साथ-साथ ग्रंथ की पुष्पिका भी उद्धृत की है।[१४]

१२. वही. पृ० १७०-९० ।

१३. राष्ट्रभाषा समवाय प्रेस, कटक के द्वारा अप्रैल, १९५१ में प्रकाशित हो चुका है।

१४. दि उड़ीसा हिस्टोरिकल रिसर्च जर्नल, जिल्द १, संख्या १, अप्रैल १९५४, पृ० ३५ ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भास्वत् वंशमणेर्वभूव कपिलक्षोणीपतेर्नन्दनो ।
वीरः श्री पुरुषोत्तमो गजपतिर्भाग्य प्रवोमूर्त्तिमत ॥
ग्राकौमार दिनान्महाप्रियसुहृत्तस्याभवत् काश्यपः—
श्री मान्मंगलदेव इत्यत्तोमतो गोष्ठीपुविद्यावताम् ॥ ५७ ॥

श्री रुद्रेपुरुषोत्तमेन्द्रतनये प्रोद्दाममदोर्मण्डली—
क्रीड़ा खण्डित-शात्रवे वसुमतीमासागरं शासति
श्रीमान् मंगलदेव सूनुरमनागाराध्य वाग्वादिनीं
मार्कण्डेय कविस्तदेतनोत् काव्यं हरेः प्रीतये ॥ ५८ ॥

भोगाभोग मुरीकरोति धरणीं यावद्भुजंङ्ग शितु—
र्लोकालोकगिरिं प्रदक्षिणयते यावत्विषामीश्वरः
श्री रामस्य गुणाम्बुधेर्गुणलवेनारब्धमेतन्न वं
काव्यं मे विदधातु तावदसकृत् प्रीतिं प्रसन्नात्मनां ॥ ५९ ॥

इति श्रीकाश्यपगोत्रसमुद्भव श्रीमन्मंगलदेव देहसम्भव मार्कण्डेयाभिध कविराज-चक्र-चक्रवर्त्ती विरचिते दशग्रीववधे महाकाव्ये श्रीरामस्वपुराभिषेको नामविंशतितमः सर्गः । शम् समाप्तोऽयं ग्रंथः ॥

इन पंक्तियों के प्रकाश में आने के बाद ऐसी आशा का बँधना स्वाभाविक ही है कि यह महाकाव्य प्रसिद्ध वैयाकरण मार्कंडेय विरचित है । प्राकृतसर्वस्वम् के प्रणेता ने भी अपना परिचय देते हुए लिखा है—इति श्री मार्कंडेय कवीन्द्रकृतौ प्राकृतसर्वस्वम्'—तो क्या 'दशग्रीववध महाकाव्यम्' के कवि 'कविराज-चक्र-चक्रवर्ती मार्कंडेय' और 'प्राकृतसर्वस्वम्' के प्रणेता 'मार्कंडेय कवींद्र' एक ही व्यक्ति हैं ? यहाँ इसी का विवेचन अभीष्ट है । सबसे पहले प्रश्न यह उठता है कि क्या वैयाकरण शास्त्रकार की श्रेणी में आता है ? क्या वह काव्यप्रतिभासंपन्न हो सकता है ? दूसरा प्रश्न है कवि शब्द का अभिधार्थ वर्णन करनेवाला होता है । तो क्या 'प्राकृतसर्वस्वम्' के प्रणेता कवि प्रतिभासंपन्न थे अथवा वर्णन करनेवाले थे, इसी लिये उन्हें कवींद्र कहा गया ? प्राकृतसर्वस्वम् के विश्लेषण-विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि प्रणेता में कवि-प्रतिभा थी क्योंकि प्राकृतसर्वस्वम् व्याकरण ग्रंथ है फिर भी संपूर्ण ग्रंथ छंदोबद्ध रूप में लिखा गया है; सूत्र एक दूसरे से गुंफित हैं और अधिकांश आर्या छंद में हैं—कहीं कहीं अनुष्टुप में इनकी परिणति हुई है । शायद इसका पद्यात्मक रूप कंठस्थ करने की सुविधा की दृष्टि से रखा गया है । संपूर्ण ग्रंथ पद्य में तथा केवल भाष्य गद्य में है । यहाँ तक कि गद्यपाठ भी श्लोक में लिखे गए हैं । इस तरह हम देखते हैं कि सूत्रों को पद्य में सुव्यवस्थित ढंग से सजाने का सुंदर तरीका मार्कंडेय के कवि होने का असंदिग्ध प्रमाण है और केवल प्राकृत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सर्वस्वम् लिखनेवाले को कवींद्र की उपाधि मिली हो यह विश्वसनीय नहीं। अतः मार्कंडेय का कवि होना ध्रुव सत्य है। दशग्रीववध महाकाव्य और प्राकृतसर्वस्वम् के अतिरिक्त और भी रचनाएँ इन्होंने की होंगी।

मार्कंडेय ने प्राकृतसर्वस्वम् में केवल एक स्थान पर अपने 'विलासवती' सट्टक की चर्चा की है। पद १३१ की टिप्पणी करते हुए कवि ने विलासवती की निम्नलिखित पंक्तियाँ उद्धृत की हैं --

पाणा अ गओ भमरो लभइ दुक्खं गइंदेसु
और **सुहाअ रज्जं किरहोइ रण्णो**

दुर्भाग्य की बात है कि विलासवती सट्टक अभी तक प्रकाश में नहीं आया अन्यथा प्राकृत साहित्य की एक अमूल्य रचना उपलब्ध होती। एक दूसरे स्थल पर मार्कंडेय ने एक संपूर्ण कविता अपनी किसी रचना से प्राकृत में उद्धृत की है और कृति का नाम देकर केवल 'इदं मम' लिख दिया है। यथा—

पदुमं जीविअ सरिच्छा तत्तो सुहवी तदो पुणो घरिणी।
चंडि त्ति भणसि परिहं ण सुणमि कहि हुवेच्च चामुंडा॥

इस सुंदर कविता में गृहिणी संभवतः अपने पति से हास-परिहास करती है। यह उसी विलासवती सट्टक से उद्धृत है अथवा किसी और पुस्तक से, कहा नहीं जा सकता। फिर भी इतना तो निश्चित है कि मार्कंडेय न केवल वैयाकरण था अपितु कवि भी था। इसके अलावा बहुत से स्थलों पर हम सुंदर प्राकृत गद्य के नमूने उद्धृत पाते हैं जहाँ लेखक उद्धरणों के मूल के बारे में कुछ नहीं लिखता। हो सकता है कि वे उद्धरण कवि की निजी रचना हों। बहुत से स्थलों पर वे केवल 'यथाऽऽह दण्डी', 'यथा वाक्पतिराजा', 'इति सत सत्याम' ही लिखकर छोड़ देते हैं। श्री केदारनाथ महापात्र ने ठीक ही यह प्रमाणित करने की चेष्टा की है कि दशग्रीववध महाकाव्य और प्राकृतसर्वस्वम् के लेखक एक ही व्यक्ति हैं।[१५]

दशग्रीववध महाकाव्य के बीसवें सर्ग के अंतिम तीन पद और ग्रंथ की समाप्ति पर लिखी उपर्युक्त पंक्तियों में हम देखते हैं कि मार्कंडेय पुरुषोत्तमदेव के बाल्यसखा मंगलदेव के आत्मज थे और काश्यपगोत्रोत्पन्न थे। कवि ने अपनी बहुत सी कृतियों की रचना प्रतापरुद्रदेव के शासनकाल में की। इस महाकाव्य के सिंहावलोकन से एक और बात का पता चलता है जिसके द्वारा हमें कविराज-चक्र-चक्रवर्ती और कवींद्र को एक व्यक्ति मानने में सुविधा है। कवि ने कविराज-चक्र-चक्रवर्ती शब्द का

१५. वही, जिल्द १, संख्या १, अप्रैल १९५४, पृ० ३५-३६।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रयोग केवल बीसवें सर्ग में ग्रंथ की समाप्ति पर किया है। इस ग्रंथ के दूसरे, तीसरे, चौथे, पाँचवें और छठे सर्ग में कवि अपने को मार्कंडेय मिश्र लिखता है। बाकी पंद्रह में से चौदह सर्गों में वह अपने को मार्कंडेयदेव बतलाता है। अंतिम बीसवें सर्ग में केवल मार्कंडेय लिखता है और कविराज-चक्र-चक्रवर्ती उपाधि जोड़ देता है। प्राकृतसर्वस्वम् का लेखक भूमिका से लेकर अंत तक अपने को मार्कंडेय कवींद्र लिखता है।[१६] यह असंभव नहीं कि कवि को उत्तरोत्तर ख्याति मिलती गई और दशग्रीववध का कविराज-चक्र-चक्रवर्ती अपनी सर्वोत्कृष्ट रचना प्राकृतसर्वस्वम् तक आते आते कवींद्ररूप से विख्यात हो गया। दशग्रीववध के कवि का कुलनाम मिश्र था और वह काश्यपगोत्रोत्पन्न ब्राह्मण था। आज भी उड़ीसा में काश्यप-गोत्रोत्पन्न मिश्र कुलनाम वाले ब्राह्मण पाए जाते हैं।

अभिनव वेणीसंहारम् नाटक (अभी भी अप्रकाशित पांडुलिपि उड़ीसा राज्य म्यूजियम, भुवनेश्वर में सुरक्षित) की खोज के बाद दशग्रीववध महाकाव्य के असली कवि के प्रति संदेह उत्पन्न हो गया है। इसके लेखक गजपतिदेव बतलाए गए हैं तथा इन्होंने अन्य चार ग्रंथों की भी रचना की है। यथा—गजपति श्री पुरुषोत्तमदेवेन महाराजेन विरचित आनंदविलास, दशग्रीववध, जानकीप्रमोद, कुहलयाश्व प्रभृति विविध रूप-रूपक, सहोदरमभिनव वेणीसंहार नामक नाटक।[१७] श्री केदारनाथ महापात्र ने यह दिखलाने की चेष्टा की है कि सूर्यवंशी राजाओं के काल में यह प्रचलन था कि कविगण अपने आश्रयदाताओं को ग्रंथों के लेखक लिख दिया करते थे। उन्होंने 'सरस्वतीविलास', 'प्रतापमार्तंड', 'भारतामृत महाकाव्यम्', 'अभिनव गीतगोविंदम्' प्रभृति पुस्तकों का हवाला देकर यह प्रमाणित किया है कि सूर्यवंशीकाल में आश्रयदाताओं का लेखक के रूप में उल्लेख कर दिया जाता था।[१८]

अब इन सामग्रियों के आधार पर हम मार्कंडेय मिश्र और मार्कंडेय कवींद्र के समय का निर्धारण कर देखें कि क्या वे दो अलग अलग व्यक्ति हैं अथवा एक ही। इतिहास बतलाता है कि गजपति कपिलेंद्र के बाद उसका पुत्र पुरुषोत्तमदेव सन् १४६७ ई० में गद्दी पर बैठा और सन् १४९७ ई० तक उसने राज्य किया। सन्

१६. ग्रियर्सन ने श्री उमापति उपाध्याय के 'पारिजातहरण' की भूमिका में इसका नाम मार्कंडेय कवीश्वर रखा है।—जर्नल आव् बिहार एंड उड़ीसा रिसर्च सोसायटी, भाग १, मार्च १९१७, पृ० २१।

१७. उड़िया पत्रिका—प्राची, सन् १९३१, जिल्द १, पृ० ६।

१८. उड़ीसा हिस्टारिकल रिसर्च जर्नल, जिल्द १, संख्या १, अप्रैल १९५४, पृ० ३६–३८।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१४६७ ई० में उसकी मृत्यु के बाद उसका पुत्र प्रतापरुद्रदेव गद्दी पर बैठा और सन् १५४० तक उसने शासन किया।[१९] श्री महापात्र मार्कंडेय को पुरुषोत्तमदेव के राज्याभिषेक काल से लेकर मुकुंददेव के शासनकाल तक जीवित मानते हुए मार्कंडेय की आयु ९० वर्षों की बतलाते हैं (सन् १४७५ से १५६५ तक)। उन्होंने यह भी कहा है कि मार्कंडेय पुरुषोत्तमदेव और प्रतापरुद्रदेव दोनों के समसामयिक थे।[२०] उन्होंने यह भी दिखलाने की चेष्टा है कि वेणीसंहार में पुरुषोत्तमदेव ने दशग्रीववध महाकाव्य के जिस रचयिता का उल्लेख किया है वह अन्य कोई नहीं वरन् मार्कंडेय हैं। डा० कृष्णचंद्र आचार्य ने अपने शोधप्रबंध (अप्रकाशित) में श्री महापात्र से अपनी असहमति निम्नलिखित कारणों से की है—

क – दशग्रीव महाकाव्य के बीसवें सर्ग के ५७वें पद (ऊपर उद्धृत) में 'बभूव' शब्द का प्रयोग स्पष्ट बतला देता है कि लेखक के समय में पुरुषोत्तमदेव स्वर्ग सिधार चुके थे अथवा कवि ने पुरुषोत्तमदेव को अपने जीवनकाल में संभवतः शैशव में देखा हो। कवि ने केवल इतना ही कहा है कि पुरुषोत्तमदेव उसके पिता के बाल्यसखा थे। यह ध्यातव्य है कि कवि ने पुरुषोत्तमदेव के लिये 'बभूव' और अपने पिता के लिये 'अभवत' शब्द का प्रयोग किया है। उसके बादवाले पद संख्या ५८ से पता चलता है कि वह प्रताप रुद्रदेव के शासनकाल में हुआ। अतः मार्कंडेय के समय को सन् १४७५ ई० तक खींच ले जाने की कोई आवश्यकता नहीं।

ख – कवि ने यह दावा किया है कि दशग्रीववध महाकाव्य की रचना उसने श्री रुद्रदेव के काल में की न कि पुरुषोत्तमदेव के काल में। २०वें सर्ग के ५८वें पद में प्रताप रुद्रदेव की कीर्त्ति का वर्णन बड़े ही जोरदार शब्दों में अतिशयोक्ति की सीमा छूलेने की हद तक किया है। संभवतः कवि इसी राजा का आश्रित था और इसलिये उसने अपने आश्रयदाता का गुणगान दरबारी ढंग से किया और अपना ग्रंथ अपने आश्रयदाता प्रतापरुद्रदेव को समर्पित किया न कि पुरुषोत्तमदेव को जिसकी मृत्यु हो चुकी थी। अतः या तो हम पुरुषोत्तमदेव के दशग्रीववध महाकाव्य को एक अन्य रचना मानें अथवा दशग्रीववध को पुरुषोत्तमकालीन रचना मानें।

ग – पुरुषोत्तमदेव के दशग्रीववध को मार्कंडेय के दशग्रीवध से भिन्न रचना

१९. डा० नवीनकुमार साहु— उड़ीसा का इतिहास, जिल्द २, पृ० २८३-२८८; डा० महताब – उड़ीसा का इतिहास।

२०. उड़ीसा हिस्टारिकल रिसर्च जर्नल, जिल्द १, संख्या १, अप्रैल १९५४, पृ० ३७–३९।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मानने के बहुत से कारण हैं। पुरुषोत्तमदेव ने अपने को 'विविध-रूप-रूपकों' का लेखक माना है। रूपक शब्द का संस्कृत में उसी अर्थ में प्रयोग होता है जिस अर्थ में आज अंगरेजी का 'ड्रामा' शब्द प्रयुक्त होता है। इस तरह यह पंक्ति पुरुषोत्तमदेव[२१] के दशग्रीववध के रूपक होने का प्रमाण उपस्थित करती है और यह ठीक ही है क्योंकि 'अभिनव वेणीसंहार' नाटक के समकक्ष होने के कारण यह रूपक ही अधिक प्रतीत होता है। विविध-रूप-रूपका का अर्थ नाना प्रकार के रूपक है और रूपक को हम महाकाव्य नहीं मान सकते।

अब प्रश्न उठता है कि 'रसगंगाधर' से जो उद्धरण 'प्राकृतसर्वस्वम्' में दिए गए हैं, क्या वे सचमुच रसगंगाधर के उद्धरण हैं?[२२] यदि हाँ, तो प्राकृतसर्वस्वम् रसगंगाधर के बाद की रचना होगी। परंतु रसगंगाधर का वह उद्धरण जगन्नाथ का अपना नहीं है। उसने स्वयं अपने पूर्ववर्ती ग्रंथ 'अलंकाररत्नाकर' से लिया है, जब वह इसके कवि शोभाकर की आलोचना करता है।[२३] रत्नाकार ने 'असम' अलंकार का उदाहरण देते हुए प्रस्तुत पद को उदाहरण स्वरूप लिखा है--

ढुंढुंणंती हि मरिहिसि कंटककलिआइं केवइवजाइं।
मालइ कुसुम सरिच्छं भमर भमंती ण पावहिसि॥

यह एक प्रसिद्ध उदाहरण है और मम्मट ने भी इसे अपने काव्यप्रकाश के अध्याय १०, ४०७ में उद्धृत किया है।[२४] अन्यान्य अनेक ग्रंथों में भी इसे उद्धृत किया गया है।[२५] अतः मार्कंडेय पर यह आरोप लगाना कि उसने इसे रसगंगाधर से उद्धृत किया है और मार्कंडेय को सत्रहवीं शताब्दी के बाद घसीट ले जाना उसके साथ ज्यादती होगी। संभवतः मार्कंडेय ने इसे अपने पूर्ववर्ती 'अलंकाररत्नाकर' अथवा 'काव्यप्रकाश' से लिया था। कहाँ से यह उद्धरण लिया गया है, इस विषय में लेखक कोई संकेत नहीं देता, इसी लिये यह खींचतान हुई। डा० श्रीकृष्णचंद्र आचार्य ने यह माना है कि यह उद्धरण काव्यप्रकाश से लिया गया है क्योंकि काव्यप्रकाश से और भी अनेक उद्धरण प्राकृतसर्वस्वम् में दिए गए हैं।[२६]

२१. संस्कृत ड्रामा, कीथ, पृ० २६६; साहित्यदर्पण, ६।२।
२२. प्राकृतसर्वस्वम्—बी० स्वामी द्वारा संपादित, सन् १९२७ तथा नित्ति दोलसाई, उद्धरण पृ० १०४।
२३. रसगंगाधर, काव्यमाला सीरीज, पृ० १६५।
२४. अलंकाररत्नाकर, सी० ई० देवधर द्वारा संपादित, पूना, १९४२।
२५. डा० कृष्णचंद्र आचार्य का शोधप्रबंध (अप्रकाशित), भूमिका, पृ० १२।
२६. वही।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अब अंतःसाक्ष्य के आधार पर हम यह देखें कि दशग्रीववध महाकाव्य और प्राकृतसर्वस्व एक ही व्यक्ति की रचना हैं अथवा अलग-अलग व्यक्तियों की। श्री महापात्र ने ठीक ही कहा है कि दशग्रीववध में वर्णित गजपति प्रतापरुद्रदेव और प्राकृतसर्वस्वम् में वर्णित मुकुंददेव के शौर्यवर्णन एवं यशगान में भाषासाम्य तो है ही अभिव्यक्ति भी एक जैसी है। शैली व्यक्ति की निजी विशेषता होती है और किन्हीं दो व्यक्तियों की शैली एक जैसी नहीं हो सकती। परीक्षण के लिये हम निम्नलिखित उद्धरणों को देखें—

प्रोद्दाम - दोमण्डली - क्रीड़ाखण्डित शात्रवे वसुमती -
मासागरं शासति श्री रुद्रे। (दशग्रीववध महाकाव्य)

× × × ×

दोः - स्तंभ - कुम्भीनस - क्रीड़ा - ग्रस्त समस्तशात्रवकुल—
प्राणानिले उत्कलमेदिनीं शासति श्रीमद्वीरमुकुन्ददेव नृपतौ।
(प्राकृतसर्वस्व)

× × × ×

यदर्थमत्यन्त परिश्रमेण वाग्वादिनी त्वं गमिता प्रसादम्।
गानाय तस्मै रघुनाथकीर्त्तेमतिर्मदीये हृदि सन्निधेहि॥
(दशग्रीववध महाकाव्य)

× × × ×

यत्कान्तिपीयूषरसप्रवाहा निध्यायतां चेतसि संप्रविश्य।
बहिर्महाकाव्यतया स्फुरन्ति वाग्देवता सा मयि सन्निधत्ताम्॥
(प्राकृतसर्वस्व)

तथा प्राकृत सर्वस्व में ही 'मम केचिदस्तु हृदि वस्तु संततम्।'

दशग्रीववध के बीसवें सर्ग के ५७वें श्लोक में वीर शब्द श्री पुरुषोत्तम का विशेषण बनकर आया है और प्राकृतसर्वस्व में मुकुंददेव का। ५६वें पद में 'नव' शब्द कविता का विशेषण है और प्राकृतसर्वस्व में भी 'नवनिबंध' का प्रयोग हुआ है। ऊपर के उद्धरणों में प्राकृतसर्वस्व के 'यत्कांति वाग्देवता' और 'सन्निधत्ताम्' दशग्रीववध महाकाव्य के 'यदर्थ वाग्वादिनी' और 'सन्निधेहि' एक जैसे हैं। बिना किसी हिचक के कहा जा सकता है कि इन पंक्तियों और इन एक जैसे शब्दों का प्रयोक्ता एक ही व्यक्ति हो सकता है अन्यथा शब्दों और रचनाप्रक्रिया में ऐसा साम्य नहीं हो पाता। प्राकृतसर्वस्व के मंगलाचरण में 'वाग्देवता' सरस्वती के लिये प्रयुक्त हुआ है। इसी अर्थ में इसका प्रयोग दशग्रीववध में भी मिलता है—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भेद प्रभिन्नांल्लिपिसंप्रदायान्
आदिश्यमनेषु नृपात्मजेषु ।
वाग्देवता वर्णमयी तदानीं
स्वयंग्रहे तत्स्थितिमाचकांक्ष ॥

(सर्ग ३, पद ३७)

× × × ×

स्वयं हि लक्ष्मी जनकेन्द्रनन्दिनी
विभूषिता यौवनसंपदा नतः ।
ततो विवाहोचितवेशपेशला
कथं नु वाग्देवतयाऽपि वर्ण्यते ॥

(सर्ग ८, पद २६)

रचना के अर्थ में आ + रभ् धातु का प्रयोग दोनों ग्रंथों में ध्यातव्य है । यथा–

रघूद्वहस्तोत्रकथां विहाय
ये काव्यमन्यत्र समारभन्ते ।

(दशग्रीववध सर्ग १, पद ३)

× × × ×

मार्कण्डेय कवीन्द्रः प्राकृतसर्वस्वमारभते ।

(प्राकृतसर्वस्व की भूमिका)

इन दो रचनाओं के विश्लेषण में यह द्रष्टव्य है कि दोनों रचनाओं में सरस्वती की स्तुति की गई है और दोनों ग्रंथों का प्रारंभ 'यत्' शब्द से हुआ है। दोनों ग्रंथों में सरस्वती के लिये 'वाक्' शब्द का प्रयोग हुआ है। और तो और दोनों श्लोकों का प्रारंभ भी एक ही शब्द से हुआ है और अंत भी एक ही शब्द से हुआ है। यहाँ तक कि पद भी 'उपजाति' छंद में आरंभ कर 'शार्दूलविक्रीड़ित' में समाप्त किए गए हैं। दोनों रचनाओं से यह भी पता चलता है कि कवि राम का भक्त है। रघुनाथकीर्ति और मुकुंददेव की तुलना रघुपति से करने के मूल में कवि के हृदय में स्थित राम की भक्तिभावना का उमड़ पड़ना ही निहित है। एक नहीं अनेक स्थलों पर रचनाओं में इस तरह का साम्य आकस्मिक नहीं हो सकता अतएव दोनों ग्रंथों के लेखक मार्कंडेय कवींद्र ही हैं। कुलनाम और उपनाम के बारे में कहा जा सकता है कि प्रारंभ में प्रायः कवि अपना पूरा नाम, कुलनाम और उपनाम के साथ लिखते हैं और धीरे धीरे अपने छोटे नाम को ही रखते हैं, बाकी को हटाकर।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अतएव मार्कंडेय भी शुरू शुरू में मार्कंडेय मिश्र लिखते होंगे। ज्यों-ज्यों इनकी कवि रूप में प्रसिद्धि बढ़ती गई होगी 'देव' अथवा 'कविराज-चक्र-चक्रवर्ती' की उपाधि से क्रमशः विभूषित किए गए होंगे और जब प्रसिद्धि आकाश चूमने लगी होगी तब कवींद्र कहलाने होंगे। दशग्रीववध तक ये 'कविराज-चक्र-चक्रवर्ती' ही रहे और अपनी सर्वोत्कृष्ट रचना प्राकृतसर्वस्व में ये 'कवींद्र' हुए। 'कविराज-चक्र-चक्रवर्ती' से 'कवींद्र' निस्संदेह महत्तर उपाधि है। मार्कंडेय और मार्कंडेय मिश्र का ब्राह्मण होना तो निर्विवाद है ही और पुरी निकटस्थ वीर-प्रतापपुर शासन में रहना भी सिद्ध करता है कि ये दो व्यक्ति नहीं बल्कि एक ही व्यक्ति हैं। अब इनकी कृतियों पर जरा सरसरी निगाह डालें। दशग्रीववध, विलासवती सट्टक और प्राकृतसर्वस्व के ये रचयिता हैं। हो सकता है कि इन्होंने और भी रचनाएँ की हों, परंतु ऐसी रचनाएँ अभी तक प्रकाश में नहीं आई। हाँ, श्री महापात्र ने केशव-कोइली को इनकी रचना माना है। उड़िया में 'केशव-कोइली' उर्फ 'यशोदा-कोइली' एक प्रकार की कविता परिपाटी है। यह एक प्रकार का करुणगीत या उद्बोधन है जिसमें माता यशोदा अपने मनोभावों को कोयल के सामने खोलती हैं और प्रत्येक पद में 'हे कोइली!' ऐसा संबोधन करती है। मेघदूत की परंपरा में उड़िया में यह आदि दूत काव्य माना जाता है। श्री केदारनाथ महापात्र ने इस 'कोइली' को मार्कंडेय की रचना माना है।[२६] डा० कृष्णचंद्र के मतानुसार यह श्री महापात्र का दूर की कौड़ी लाने का प्रयास मात्र है। कोइली के कवि मार्कंडेयदास हैं, यह अब प्रमाणित हो चुका है। इस पर कोई विवाद नहीं।

मार्कंडेय के कवित्व का प्रमाण हमें और भी मिलता है। ये केवल वैयाकरण ही नहीं बल्कि उच्चकोटि के कवि भी थे। 'अनुप्रास' और 'यमक' के समन्वय से निम्नलिखित पंक्तियों में शिव और विष्णु की स्तुति काव्यकला की दृष्टि से एक आदर्श नमूना है—

शशिखण्डमौलि सशिखण्डमौलि वा
सितमेघचारु शितिमेघचारु वा।
उमयाविलासि रमयाविलासि वा
मम किंचिदस्तु हृदि वस्तु संततम्॥

प्राकृतसर्वस्व जैसे व्याकरण ग्रंथ में भी मार्कंडेय की कविता अंगूठी के हीरे की तरह जगर मगर करती चलती है।

२६. उड़ीसा हिस्टारिकल रिसर्च जर्नल, जिल्द १, संख्या १, अप्रैल १९५४, पृ० २९।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जैसा कि विवेचन किया गया, प्राकृत सर्वस्व की रचना मुकुंददेव के शासनकाल में हुई अर्थात् सन् १५६० और १५६५ ई० के बीच और दशग्रीववध महाकाव्य की रचना उससे पहले प्रतापरुद्रदेव के शासनकाल में हुई। प्रताप रुद्रदेव सन् १४४७ ई० में सिंहासनारूढ़ हुए थे। कवि ने प्रतापरुद्रदेव के पिता पुरुषोत्तमदेव के लिये 'लिट्' का प्रयोग किया है जिसका अर्थ है कि उसने पुरुषोत्तमदेव को नहीं देखा था अथवा अधिक से अधिक यह माना जा सकता है कि शैशवकाल में कवि ने पुरुषोत्तमदेव को देखा होगा। इस तरह दशग्रीववध महाकाव्य का रचनाकाल सन् १५२५ ई० आस-पास और कवि का जन्म सन् १४६० ई० के लगभग मानना युक्तिसंगत होगा। दशग्रीववध महाकाव्य की रचना के समय कवि की उम्र प्रायः ३५ वर्ष की रही होगी। ऐसी रचना इसी उम्र में की जा सकती है। श्री केदारनाथ महापात्र कवि का काल सन् १४७५ ई० से सन् १५६५ ई० तक मानते हैं जो ऐसा लगता है कि तार्किक खींचतान के कारण असलियत से दूर चला गया है। यदि श्रीमहापात्र की बात मान ली जाय तो प्राकृतसर्वस्व की रचना के समय लेखक की उम्र ८५-८७ वर्ष ठहरती है और इस उम्र में प्राकृतसर्वस्व जैसा प्रौढ़ ग्रंथ लिखना कुछ जँचता नहीं। अतएव मार्कंडेय का समय सन् १४६० ई० से १५६२-६५ ई० तक मानना सब दृष्टियों से उपयुक्त लगता है।

इन सारी विवेचनाओं के बाद हम निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि मार्कंडेय का समय सन् १४६० से सन् १५६२-६५ के आसपास था। इन्होंने दशग्रीववध महाकाव्य, विलासवती सट्टक और प्राकृतसर्वस्व की रचना की। ये काश्यपगोत्रोत्पन्न ब्राह्मण थे और वीरप्रतापपुर शासन के निवासी थे। इनके पिता का नाम मंगलदेव था जो पुरुषोत्तमदेव के बाल्यसखा थे। वे स्वयं प्रतापरुद्रदेव और मुकुन्ददेव के समसामयिक और आश्रित थे। ये 'कविराज-चक्र-चक्रवर्ती' और 'कवींद्र' उपाधियों से संमानित किए गए थे।

*

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अभिनवगुप्त की रससूत्रव्याख्या की दार्शनिक पृष्ठभूमि

रामलखन शुक्ल

अभिनवगुप्त अद्वैत शैव दार्शनिक थे और उन्होंने रस की अभिव्यक्ति के सिद्धांत को उसी दर्शन के आधार पर समझाने का प्रयास किया है। अतः अभिनवगुप्त के रस सिद्धांत को समझने के लिये इस दर्शन के मूलभूत तत्वों को समझ लेना सुतरां अपेक्षित है। शैव दर्शन के अनुसार प्रलय को छोड़कर अन्य अवस्थाओं में परमशिव का विश्वमय रूप ही रहता है जो प्रकाश-विमर्शमय है। वेदांत के ब्रह्म के सदृश परम शिव शुद्ध चित् स्वरूप ही नहीं है, प्रत्युत चित्स्वरूप के साथ विमर्श-स्वरूप भी हैं। वेदांत के ब्रह्म के समान परम शिव निष्क्रिय नहीं है, वरन् सक्रिय हैं और उनमें ही सृष्टि के सभी उपादान सृष्टि से पहले उसी रूप में विद्यमान रहते हैं जिस रूप में कोई योगी जिस सृष्टि की रचना करना चाहता है, वह रचना से पहले ही उसमें विद्यमान रहती है अथवा जिस प्रकार स्वप्नद्रष्टा व्यक्ति की जागृत अवस्था में स्वप्न के सभी बिंब विद्यमान रहते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि सृष्टि के सभी तत्वों की अभिव्यक्ति परम शिव से ही होती है जो पहले से उनमें निहित रहते हैं। रसाभिव्यक्ति की प्रक्रिया में भी यही सिद्धांत चरितार्थ होता है। प्राक्तन संस्कारों की ही समुचित उपादानों के सहयोग से रस-रूप में अभिव्यक्ति होती है। परमशिव जहाँ एक ओर निर्विकल्प माने जाते हैं, वहीं समस्त सृष्टि की रचना भी उनकी विमर्श शक्ति से मानी जाती है और सृष्टि के समस्त उपादान भी उन्हीं में माने जाते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि शैव दर्शन के परम शिव वेदांत के ब्रह्म के सदृश शुद्ध अद्वैत के प्रतीक नहीं हैं, अपितु वे एकत्व और अनेकत्व दोनों के प्रतीक हैं, तथापि सविकल्प नहीं हैं। वे अपने आप में पूर्ण हैं और समस्त आभासों की अभिव्यक्ति के बावजूद उनकी पूर्णता में कोई अंतर नहीं पड़ता।[1] परम शिव में जो अनेकता निहित है वह उनकी स्वातंत्र्य शक्ति पर निर्भर है। परम शिव की इसी स्वातंत्र्य शक्ति को स्फुरत्ता, स्पंद, महासत्ता, चैतन्य आदि नामों से अभिहित किया जाता है। शैव विमर्श की अवस्था को परावाक् के समकक्ष रखते हैं जो सभी

१. पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकार के विकल्प के परे है। यही कारण है कि परम शिव को सविकल्प नहीं माना जाता। परम शिव को प्रकाश-विमर्श-मय मानने के कारण मानों शैव दार्शनिक द्वैत भूमि का स्पर्श करने लगते हैं, किंतु ऐसा नहीं है। वस्तुतः प्रकाश और विमर्श एक दूसरे से उसी प्रकार पृथक् नहीं किए जा सकते, जिस प्रकार अग्नि की ज्वाला और उसकी प्रज्वलित होने की क्रिया को एक दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता। शिव (प्रकाश), शक्ति (विमर्श) के बिना नहीं रह सकता। इसीलिये मूर्तिकला में अर्द्धनारी नटेश्वर (अर्द्धनारीश्वर) की कल्पना की गई है।

परम शिव के इस प्रकाश-विमर्श-मय रूप को अभिनवगुप्त ने मानव मस्तिष्क के सादृश्य पर प्रतिष्ठित किया है। मानव मस्तिष्क बाह्य पदार्थों के बिंब ग्रहण करता है, उनसे प्रभावित होता है और साथ ही पूर्वानुभूतियों के संस्कारों का भी प्रभाव उस पर पड़ता है। मस्तिष्क पर बाह्य वस्तुओं का प्रभाव उसी रूप में पड़ता है जिस रूप में किसी दर्पण पर किसी वस्तु का बिंब पड़ता है। दर्पण पर बिंब पड़ने के लिये बाहर प्रकाश की सत्ता आवश्यक है, क्योंकि अंधकार में किसी भी पदार्थ का बिंब दर्पण पर नहीं पड़ सकता किंतु मस्तिष्क स्वयं प्रकाशमान है अतः उसे बिंब ग्रहण करने के लिये बाह्य प्रकाश की आवश्यकता नहीं पड़ती।

मस्तिष्क वस्तुओं के ग्रहण, संश्लेषण आदि क्रियाओं में स्वतंत्र होता है और इन क्रियाओं को स्मृति आदि संस्कार रूप में कायम रखता है तथा यथावसर स्मरण रूप में प्रकट भी करता है। कल्पना मानव मस्तिष्क की एक अत्यंत महत्वपूर्ण क्रिया है। इसकी शक्ति को आधार मानकर वह बहुत दूरी तक विचरण कर पाता है और बहुत ऊँचाई तक उड़ान भी भर लेता है। इन समस्त क्रियाओं के मूल में मस्तिष्क की विमर्श अवस्था काम करती है और अपनी इसी अवस्था के कारण मानव मस्तिष्क मणि आदि प्रकाशमान पदार्थों से सर्वथा पृथक् और विशेष सिद्ध होता है, क्योंकि इसमें जड़ता के स्थान पर चेतना है। इस प्रकार हम देख सकते हैं कि मस्तिष्क स्वयं प्रकाशमान और चित्स्वरूप है। वह बिना किसी की सहायता के, स्वतंत्ररूप से प्रकाशित भी होता है और यह भी जानता है कि वह इस प्रकार क्यों प्रकाशित होता है। मानव मस्तिष्क जिस प्रकाश-विमर्श-मय अवस्था का प्रतीक है वही प्रकाश-विमर्श-मय अवस्था विश्वमय परमशिव की भी है।[२] अद्वैत शैव दर्शन सूक्ष्म अद्वैत न होकर स्थूल अद्वैत है। इसी कारण इसमें अनेकता में एकता और एकता में अनेकता देखी जा सकती है, जब कि वेदांतियों के शुद्ध अद्वैत में

२. हिज कंसेप्शन आव द युनिवर्सल, द एब्सोल्यूट, इज देयरफोर, बेस्ड अपौन द एनलिसिस आव् ह्यूमन माइंड।—इंडियन ईस्थेटिक्स, पृ० ८१।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऐसा नहीं पाया जाता और यही कारण है कि शैव दार्शनिक अनेकता में एकता और एकता में अनेकता के सिद्धांत के आधार पर सृष्टि-रचना-प्रणाली को समझाने में सफल हुए हैं।

परम शिव में ही सृष्टि के समस्त उपादान पहले से ही निहित हैं, इसे सिद्ध करने के लिये शैव दार्शनिक 'मयूरांड-रस-न्याय' का सहारा ग्रहण करते हैं। जिस प्रकार मयूर के सभी रंग समन्वित रूप में मयूर के अंडे की जर्दी में विद्यमान रहते हैं उसी प्रकार दृश्यमान् जगत् के सभी उपादान समन्वित रूप में परम शिव में विद्यमान रहते हैं। परम शिव स्वेच्छा से सृष्टि का विस्तार करते हैं। ऐसा करने के लिये उन्हें न तो किसी बाह्य सत्ता के साहाय्य की आवश्यकता पड़ती है और न तो किसी प्रकार की प्ररोचना ही आवश्यक होती है। यह परम शिव का स्वभाव ही है। समस्त सृष्टि एवं शैव दर्शन में स्वीकृत सभी तत्व परम शिव के आभास हैं। ये सभी उसी रूप में सत्य हैं जिस रूप में स्वयं परम शिव। इन्हें आभास इसलिये कहा जाता है कि इनमें किसी न किसी रूप में अपूर्णता रहती ही है। इन समस्त आभासों में सर्वप्रथम स्थान है शिवतत्व का। शिव उच्चतम तत्व है इसमें परम शिव का प्रकाशस्वरूप ही हो व्यक्त होता है। शिवतत्व 'अहम्' का बोधक है। पहले कहा जा चुका है कि शिव और शक्ति एक-दूसरे से पृथक नहीं रह सकते, दोनों एक दूसरे से संपृक्त हैं; किंतु शिव तत्व में 'विमर्श' अव्यक्त रहता है, केवल प्रकाश ही व्यक्त होता है। प्रकाश की अभिव्यक्ति के लिये विमर्श अपेक्षणीय है, क्योंकि विमर्श के बिना चेतना का प्रादुर्भाव नहीं हो सकता। इसलिये शिवतत्व के पश्चात् दूसरा तत्व शक्ति (विमर्श स्वरूप) स्वीकार किया जाता है जो चिन्मय और आनंदमय है। अभिनव गुप्त ने रसानुभूति को विमर्श की अवस्था में रखा है।

अभिनवगुप्त रसनात्मक वीतविघ्न प्रतीति से ग्राह्य भाव को रस मानते हैं[3] और सकल विघ्न विनिर्मुक्त संवित्ति को चमत्कार, निर्वेश, रसन, आस्वादन, भोग, समापत्ति, लय, विश्रांति आदि नामों से अभिहित करते हैं।[4] इसी निर्विघ्न संवित्ति को जो अतृप्ति से भिन्न होती है, भोगावेश भी कहा जाता है और रस के भोग करने वाले के अद्भुत भोगात्मक स्पंद से आविष्ट मन का चमत्कृत हो जाना चमत्कार कहा जाता है।[5] अभिनवगुप्त के दर्शन में चमत्कार, स्पंद, भोग और विश्रांति का विशेष महत्व है। उत्पलाचार्य ने परमशिव के स्वभाव का वर्णन करते समय विमर्श के

३. अभिनव भारती, पृ० ४७२।
४. वही, पृ० ४७२।
५. वही, पृ० ४७२।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्थान पर चमत्कृति का प्रयोग किया है।[६] शिव चमत्कृति के बिना मात्र प्रकाशमय होने पर स्फटिक, मणि आदि जड़ पदार्थों के सदृश हो जाएँगे। अतः चमत्कृति अनिवार्य अंग ही नहीं, प्रत्युत उनका स्वभाव है। प्रमाता भी विमर्श (चमत्कृति) के उदय पर ही इस प्रकार अनुभव कर पाता है कि मैं प्रकाशात्मा हूँ तथा वह अपनी संवित् को अनुभूत कर आत्म-विश्रांति प्राप्त करता है। निर्विमर्श की अवस्था जड़ की अवस्था है। शैव दर्शन में जहाँ चमत्कृति विमर्श का द्योतन कराती है वही लोक-सामान्य स्थिति में चमत्कृति आनंद का समानार्थी हो जाती है। अभिनवगुप्त ने आनंद को तीन रूपों में व्याख्यायित किया है जिन्हें उन्होंने विषयानंद, काव्यानंद तथा परमानंद नामों से अभिहित किया है। उनके अनुसार आत्मा के स्वरूप के परामर्शमय निज स्वभाव के परिपूर्ण प्रकाशन को आनंद कहते हैं।[७] विषयानंद की कोटि में वह आनंद आता है जिसमें स्थूल धरातल पर आत्म परामर्श का अवसर प्राप्त होता है। जैसे, यदि किसी क्षुधार्त व्यक्ति को रोटी मिल जाए तो क्षुधा तृप्ति के कारण उसे क्षणिक आत्म-परामर्श का अवसर मिलता है। अतः उसे आनंद का अंश मिलता ही है, किंतु यह स्थायी नहीं होता; क्योंकि उसकी आकांक्षा निरंतर बढ़ती ही रहेगी। क्षुधा-तृप्ति के अनंतर किसी सुंदर नारी को आलिंगित करने की उसकी आकांक्षा बलवती हो उठेगी, अथवा कोई अन्य प्रकार की आकांक्षा जाग्रत हो जाएगी। इस कारण उसे जो आनंद प्राप्त होगा, वह क्षणिक ही होगा। समस्त वैषयिक आनंद में उसी प्रकार का अस्थायित्व रहेगा।

दूसरे प्रकार का आनंद काव्यानंद होता है। यह आनंद वैषयिक आनंद से विलक्षण होता है। इस प्रकार के आनंद की प्राप्ति में विघ्न अपसरित हो जाते हैं। इस कारण इस आनंद को रसना, चर्वणा, निर्वृति, प्रतीति, प्रमातृत्व, विश्रांति आदि कहते हैं। हृदय परामर्श की प्रधानता के कारण और व्यवस्थित वेद्य-विश्रांत-प्रकाश-भाग के गौण होने के कारण इसे सहृदयता भी कहते हैं। निर्विघ्न, आस्वादात्मक रसना चित्तवृत्तियों के द्वारा ही अनुभूयमान होती है। हृदय पक्ष की प्रधानता के कारण काव्यानंद को परमानंद के समकक्ष नहीं रखा जा सकता।

६. बृहती विमर्शिनी (पांडुलिपि) पृष्ठ ४०७ (१–५–११)।
—इंडियन ईस्थेटिक्स, पृष्ठ ६४।

७. 'स्वरूपस्य स्वात्मनः परिपूर्ण निज स्वभाव प्रकाशनमेव परामर्शमयतां दधदानन्द इत्युच्यते।'—ईश्वरप्रत्याभिज्ञाविवृत्तिविमर्शिनी, भा०, पृ०१७७।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वतंत्र (चित्) का एक घन रूप में परामर्श होने के कारण संवेदनरूप रसना ही को परमानंद कहते हैं। उसे ही निर्वृत्ति और चमत्कार भी कहते हैं। मधुरादि रसों के आस्वाद में विषयस्पर्श का व्यवधान बना ही रहता है, काव्य-नाट्य आदि में विषयस्पर्श का व्यवधान तो नहीं रहता, किंतु उसमें भी संस्कारों के अनुरोध का व्यवधान होता ही है। परमानंद में किसी प्रकार का व्यवधान नहीं होता। संवेदनरूप, स्वात्म परामर्श ही परमानंद कहा जा सकता है।[८]

स्वात्मपरामर्श से उत्पन्न आनंद और कुछ नहीं, चमत्कार है। यह चमत्कार विमर्श का ही रूप है जिसकी अवस्थिति प्रकाश पर अवलंबित होती है। अभिनवगुप्त ने अपने इसी दार्शनिक सिद्धांत के आधार पर रस को प्रकाशमय, आनंदमय और चमत्कार सिद्ध किया है। जब वे रसना को स्पंद कहते हैं, उस समय स्पंद से उनका तात्पर्य है स्व- स्वभाव-परामर्श-रूप परम शिव के धर्म का जिसे शक्ति नाम से अभिहित किया जाता है, स्पंदन (चलन)।[९] परम शिव की स्वातंत्र्य शक्ति ही उनका स्वभाव है। परम शिव की इच्छा मात्र से शिवतत्व का उदय होता है। शिवतत्व प्रकाशस्वरूप होता है, किंतु यह अकेले रह नहीं सकता। इस कारण विमर्शरूप शक्तितत्व उससे संबद्ध रहता है। यही परम शिव के स्वभाव का परामर्श है, क्योंकि यह चित्स्वरूपिणी होती है। इसके बिना शिव प्रकाशमान स्फटिक आदि के सदृश जड़ हो जाय। स्पंद और कुछ नहीं है, वह मात्र शक्ति का स्पंदन है, अर्थात् विमर्श का उदय है। विमर्श को ही चमत्कृति भी कहते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि विमर्श, चमत्कृति और स्पंद प्रायः एक ही भाव का द्योतन कराते हैं।

विश्वमय परम शिव का माया की सत्ता में आभास पुरुषतत्व नाम से ज्ञात है। परम शिव की शुद्ध सत्ता (स्फुरता) प्रकाश-विमर्श-रूपा होने के कारण क्रिया शक्ति कही जाती है और स्वात्म-विश्रांति-रूप होने के कारण यही आनंदशक्ति है। किंतु माया की सत्ता में आने के कारण प्रकाशविमर्श की अवस्था भिन्न हो जाती है। प्रकाशात्मक सीमित सत्ता के कारण सत्व गुण का उद्रेक होता है, जिससे पुरुष सुख का अनुभव करता है। प्रकाश विहीन सत्ता से तम का उद्रेक होता है जो प्रलय-स्थानीय (मोहात्मक) होता है और प्रकाश तथा अप्रकाश का दृश्यात्मक रूप रज के

८. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृत्तिविमर्शिनी, भा० २, पृ० १७७-९।

९. स्वस्वभाव परामर्शमात्रस्य नित्यस्य शून्यतात्यतिरेचन कारणभूतस्य तावन्मात्रसंरम्भात्मनः शक्त्यपराभिधानस्य धर्मस्य किंचिच्चलनात् स्पन्द इति।

५ (७१-३-४)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उद्रेक में सहायक होता है, जो दुःखात्मक होता है।[१०] पुरुष स्व-स्वरूप के परिज्ञान के अभाव के कारण ममत्व, परत्व की कल्पना करने लगता है और अपने जीवन में सुखात्मक, दुःखात्मक तथा मोहात्मक भोग का अनुभव करता है।[११] पुरुष का जो भोग माया की सत्ता में होता है वह सुख दुःख मोहात्मक ही होता है; क्योंकि परम शिव की प्रकाश-विमर्शमयी सत्ता संकुचित होकर ही पुरुष में आभासित होती है। किंतु अभिनवगुप्त ने रसभोग की पृथक् सत्ता स्वीकार की है। उन्होंने उसे प्रकाश-आनंदमय चमत्कार और स्पंद के रूप में स्वीकार किया है। इससे यह सिद्ध होता है कि रसभोग विमर्श की ही अवस्था पर होता है। अस्तु वह चिन्मय और आनंददायक होता है, परंतु रसभोग में वासना-संवाद और हृदय-परामर्श अपेक्षित होता है। इस कारण रसभोग में संस्कारों का अनुवेध किंचिदंशों में बना रह सकता है। अतः रसभोग पूर्णतः परम भोग (परमानंद) का रूप नहीं धारण कर सकता। यही कारण है कि अभिनवगुप्त ने काव्यानंद को आनंद की मध्यम कोटि में रखा है। तथापि अभिनवगुप्त की यह मान्यता है कि जो प्रमाता स्व - संवेदन को अत्यधिक विकसित बना सकता है, वह रसभोग की अवस्था में स्वात्म-परामर्श से पूर्णतया अंतरायशून्य आनंद का भोग कर सकता है, जिसमें किसी बाह्य वस्तु की सत्ता नहीं रह सकती। नाट्य सामग्री उसकी संस्कारजन्य वासना को उद्बुद्ध करने के लिये पर्याप्त होगी और वासना के उद्बुद्ध हो जाने पर वह निरंतर निर्विघ्न प्रतीतिगम्य भाव का अनुभव कर सकता है, जो चिन्मय और आनंदमय होता है, किंतु सभी प्रमाताओं के लिये ऐसा नहीं कहा जा सकता। भोग हृदय - परामर्श तथा स्वात्म-विश्रांति पर अवलंबित है। अतः भोग भी आनंद, चमत्कार, स्पंद आदि का समानार्थी सिद्ध हुआ। रसना को चिन्मय, प्रकाशमय, आनंदमय, भोग आदि मानने से यह प्रकट होता है कि विमर्श की ही अवस्था पर रसनाव्यापार सिद्ध होता है।

परम शिव की स्वातंत्र्यशक्ति अत्यंत महत्वपूर्ण है। इससे परम शिव की चित्, आनंद, इच्छा, ज्ञान और क्रिया नामक पाँच शक्तियाँ शुद्ध आभास का रूप धारण कर लेती हैं। इन आभासों के प्रकट होने के कारण परम शिव की पूर्णता में किसी प्रकार का अंतर नहीं पड़ता। यह सब परम शिव की निषेध-व्यापार-रूपा शक्ति का ही व्यापार है जिसे स्फुरता या महासत्ता कहते हैं। यह शक्ति परम शिव की इच्छाशक्ति है। चित् से प्रभावित परमशिव का जो प्रथम आभास प्रकट होता है उसे शिवतत्व कहते हैं। वह चिन्मय और प्रकाशस्वरूप होता है। वह

१०. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृत्तिविमर्शिनी, भा० २, पृ० २५४–५५।
११. वही, भा० २, पृ० २५३।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'अनन्योमुखः अहंप्रत्ययः' हैं। परंतु प्रकाशस्वरूप चिन्मय शिवतत्व का विमर्श के बिना कोई महत्व नहीं। विमर्श स्वरूपिणी शक्ति शिव से संबद्ध ही रहती है। शक्तिविहीन जिस शिवतत्व की कल्पना की जाती है, उसमें 'अहम्' अप्रकट अवस्था में रहता है और वही अहम् शक्तितत्व में आकर प्रकट रूप में आभासित हो उठता है। प्रकाश-विमर्श-मय शिव-शक्ति-तत्व वस्तुतः परम शिव से पृथक् नहीं किए जा सकते। यही कारण है कि कुछ दार्शनिकों ने उन्हें पृथक् आभास के रूप में स्वीकार नहीं किया है। शक्तितत्व परमशिव की इच्छाशक्ति ही है, जो निषेध-व्यापार-रूपा है। यह बीज रूप में स्थित रहती है और जीवन क्रिया को नियंत्रित तथा संयमित रखती है। इसमें आनंद की प्रधानता होती है। अतः यह स्वात्म-विश्रांतिरूपा है। इच्छाशक्ति से प्रभावित तीसरा आभास होता है जिसे सदाशिव तत्व कहते हैं। इसमें 'अहमस्मि' का भाव प्रकट होता है। इससे 'अहमस्मि' (मैं हूँ), इतने का ही बोध होता है। 'अहमिदमस्मि' (मैं यह हूँ), इसका स्पष्ट बोध नहीं होता। ज्ञानशक्ति से प्रभावित चौथा तत्व ईश्वर तत्व है, जिससे 'इदमहमस्मि' (यह मैं हूँ) का बोध होता है। इसमें 'मैं' और 'यह' दोनों समानाधिकरण रूप में आते हैं। 'यह मैं हूँ' इससे ऐश्वर्य का बोध होता है। क्रिया से प्रभावित पाँचवाँ आभास सद्विद्या तत्व है, जिसमें 'अहमिदमस्मि' (मैं यह हूँ) का बोध होता है। इसमें 'इदम्' अंश गौण पड़ जाता है और 'अहम्' अंश प्रधान हो जाता है। इस तत्व से ऐसा बोध होता है कि यह सब मेरा विभव है। सद्विद्या-तत्व भेदाभेद-विमर्शात्मक होता है। ये पाँचों तत्व परमशिव की महासत्ता से उत्पन्न होने के कारण शुद्ध स्वरूप के होते हैं। महासत्ता की तिरोधान करनेवाली संकुचित शक्ति को माया कहते हैं। इस माया से प्रभावित जो आभास उत्पन्न होते हैं, उन्हें अशुद्ध और संकुचित आभास कहते हैं। चित्, आनंद, इच्छा, ज्ञान और क्रिया शक्तियाँ ही माया के द्वारा संकुचित हो काल, नियति, राग, विद्या और कला के रूप में आभासित हो उठती है और पुरुषतत्व काल, नियति, राग, विद्या और कला तत्वों से प्रभावित हो नाना प्रकार के क्रिया-कलाप में अपने को लीन कर लेता है और ममत्व-परतत्व के बंधन से विजड़ित हो उठता है। मायाच्छन्न होने के कारण वह यह अनुभव नहीं कर पाता कि वह और कुछ नहीं परमशिव का ही आभास है। किंतु जब भिन्न प्रकार के मल-आणवमल, कार्यमल और मायीयमल—उसकी साधना से दूरीभूत हो जाते हैं तो वह सद्विद्यातत्व से उत्तरोत्तर शक्तितत्व की ओर बढ़ता जाता है और शक्तितत्व तक पहुँचकर वह स्वात्म-विश्रांति-रूप परमानंद का अनुभव करता है। इस स्थिति में पहुँचने की अवस्था अव्यतिरेक तुरीयातीत अवस्था है। साधक इस अवस्था तक पहुँचकर पुनः नीचे नहीं उतरता। इस अवस्था में पहुँचा हुआ, साधक मात्र 'अहम्' का अनुभव करता है। 'इदम्' 'अहम्' में ही समाहित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हो जाता है। अभिनवगुप्त रस-चर्वणा को इसी शक्ति या विमर्श की अवस्था में रखते हैं। उनके अनुसार सामाजिक वीतविघ्न प्रतीतिगम्य भावों का आस्वाद माया की भूमि में नहीं ग्रहण करता। सामाजिक नाटक देखते समय नाटक के नायक के साथ तादात्म्य स्थापित कर लेता है। उस समय वह ऐसा अनुभव करता है कि यह मैं हूँ। यह शुद्ध सद्विद्या की अवस्था है। धीरे धीरे मानसी, साक्षात्करात्मक अनुभूति के कारण 'इदं' अंश गौण पड़ जाता है और 'अहम्' प्रबल हो उठता है। इस अवस्था में ईश्वरतत्व की प्रधानता हो जाती है। सामाजिक समस्त अनुभूतियों को अपने में ही निहित कर लेता है। वह ऐसा नहीं समझता कि जो कुछ अनुभव कर रहा है उसके पीछे 'इदम्' (नाट्य) का माध्यम है, अपितु सब कुछ अपना ही समझकर वह अनुभव करता है। यहाँ अपने या पराए का बंधन नहीं रहता, प्रत्युत् बाह्य वस्तु की सत्ता का स्थान गौण रहता है और सामाजिक के संस्कारगत भाव ही आत्यंतिक मात्रा में जाग्रत हो उठते हैं। इसके पश्चात् सामाजिक को 'अहमस्मि' का बोध होता है। 'इदम्' अंश उसकी भावना को जगा देता है, इसके अनंतर उसकी चर्वणा संस्कारगत भावों के कारण अबाध गति से होती रहती है। इस अवस्था में पूर्णतः तन्मयीभाव आजाता है, जिसका परिणाम यह होता है कि 'मैं हूँ' के अतिरिक्त और कोई वस्तु उसे अवभासित नहीं होती। चरमावस्था में पहुँचकर सामाजिक मात्र 'अहम्' का अनुभव करता है। इस अवस्था में पहुँचने पर सामाजिक को विषय एक अत्यंत सूक्ष्म माध्यम के रूप में प्रतीत होता है। हम ऐसा भी कह सकते हैं कि सामाजिक की भावनाएँ इतनी उद्दामता धारण कर लेती हैं कि वह सर्वतोभावेन वीतविघ्न हो हृदय परामर्श से उत्पन्न स्वात्म-विश्रांति-रूप आनंद का अनुभव करता है। विषय का संबंध नहीं के बराबर ही रहता है, किंतु हम ऐसा नहीं कह सकते कि इस अवस्था में पहुँचकर विषय की सत्ता पूर्णतया समाप्त हो जाती है। हाँ, इतना कहा जा सकता है कि विषयसत्ता अत्यंत तिरस्कृत हो जाती है, किंतु रसानुभूति की चरमावस्था तक संस्कार का अनुवेध तो रहता ही है; क्योंकि रसानुभूति में हृदय परामर्श का प्राधान्य होता है। अभिनवगुप्त ने रसानुभूति को अव्यतिरेक तुरीयातीत की अवस्था में न रखकर व्यतिरेक तुरीयातीत की अवस्था में रखा है। उसके मूल में यह है कि अव्यतिरेक तुरीयातीत की अवस्था में पहुँचा हुआ साधक पुनः अपनी प्राकृत अवस्था को प्राप्त नहीं होता। उसे 'अहम्' के अतिरिक्त और कुछ अवभासित नहीं होता, किंतु सामाजिक की यह अवस्था नहीं होती। वह अभी तक इस प्रकार के निर्विघ्न प्रतीतिगम्य प्रकाश आनंदमय रस की अनुभूति करता है जब तक विभावादि के साथ उसका संबंध बना रहता है। विभावादि की अवस्थिति तक ही रसचर्वणा होती है और साथ ही यह मानसी होती है, प्रत्यक्षकल्प होती है और साक्षात्करात्मक होती है, जब कि साधक की अनुभूति इससे सर्वथा विलक्षण होती

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। अतः रसानुभूति व्यतिरेक तुरीयातीत अवस्था में होती है। इस अवस्था में प्रमाता समस्त व्यवधानों से ऊपर उठकर विषय और विषयी दोनों की अभिन्नता अनुभव करता है। नाटक का विषय उसके अंतर्मन में निमज्जित हो जाता है और वह अपनी वासना के फलस्वरूप रस का भोग करता है। इस अवस्था में प्रमाता तभी तक रहता है जब तक रस विषय उसके समक्ष रहता है। रस विषय के तिरोधान के साथ ही वह अपनी प्रकृत अवस्था को प्राप्त हो जाता है।

अभिनवगुप्त ने रसानुभूति और योगसाधना में एक विशेष अंतर प्रतिपादित किया है। उनके अनुसार योगी जो आनंद प्राप्त करता है, वह आत्मा के साथ बलात्कार से उत्पन्न होता है, जब कि प्रमाता रस के आवेग से उस आनंद को उसी प्रकार वाणी रूपी धेनु से प्राप्त करता है जिस प्रकार धेनु अपने बछड़े की तृष्णा से दिव्य रस रूपी दूध प्रवाहित करती है।[१२] योगजन्य आनंद और रसानुभूतिजन्य आनंद में एक दूसरा भी अंतर अभिनवगुप्त ने दर्शाया है। योगजन्य आनंद का अधिकारी मात्र विशिष्ट योगी ही होता है, वह आनंद व्यक्तिनिष्ठ होता है, जब कि सहानुभूतिजन्य आनंद समस्त प्रमाताओं की अनुभूति का विषय होता है[१३] और समस्त प्रमाताओं की अनादि वासना से चित्रित चित्तों के वासना - संवाद के फलस्वरूप समस्त प्रमाताओं को एक समान अनुभूति होती है।[१४] ऐसे अवसर पर जो सर्वात्मिका संवित्ति देहभेद के कारण संकुचित बनी रहती है, वह निरंतर विकसित होती हुई एक दूसरे में प्रतिबिंबित होने लगती है[१५] और समस्त प्रमाताओं में एक

१२. वाग्धेनुर्दुग्ध एवं हि रसं यद्बालतृष्णया।
तेन नास्य समः स स्याद् दुह्यते योगिभिर्हि सः॥
तदावेशेन बिनाप्याक्रान्त्या यो योगिभिर्दुह्यते। —ध्वन्या०, पृ० १६६

१३. इह तु दर्शने व्याप्तिग्रहणावस्थायां यावन्तस्तद्देशसंभाव्यमान सद्भावाः प्रमातारस्तावतामे कोऽसौ धूमाभासश्च वह्न्याभासश्च बाह्यनये इव, तावति तेषां परमेश्वरेणैक्यं निर्मितम्। —ईश्वरप्रत्यभिज्ञा० भा० २, पृ० १६५।

१४. सर्वेषामनादिवासना चित्रीकृत चेतसां वासनासंवादात्।
—अभिनवभारती, पृ० १७१।

१५. संवित्सर्वात्मिका देहभेदाद् या संकुचिता तु सा।
मेलकेन्योन्यसंघट्ट प्रतिबिम्बाद्विकस्वरा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समान अनुभूति के कारण तादात्म्य स्थापित हो जाता है। समस्त प्रमाताओं के साधारणीकरण के मूल में सर्वात्मिका संवित्ति एवं वासनासंवाद है।

आभासवाद या साधारणीकरण—आभासवाद के अनुसार प्रत्येक आभास जो अमिश्र अवस्था में रहता है, समय और स्थान निर्विशेष होता है अथवा सामान्य ही होता है। मिश्र हो जाने पर वह विशेष हो जाता है और प्रत्येक प्रमाता उसे अपनी दृष्टि से विशेष रूप में देखता है।[१६] उदाहरण के लिये यदि मात्र 'नीला' कहा जाय तो प्रत्येक श्रोता को 'नीलेपन' का ही बोध होगा जो अपने रूप में सामान्य ही होगा, किंतु यदि 'नीला घट' कहा जाए तो श्रोताओं को भिन्न भिन्न रूप में घट के 'नीलेपन', उसकी गोलाई, लंबाई, चौड़ाई आदि विभिन्न रूपों का सामान्य रूप में बोध न होकर विशेष रूप में ही होगा; क्योंकि इन सबका संबंध एक विशेष वस्तु 'घट' के साथ है। रसानुभूति की प्रक्रिया में प्रमाताओं को निर्विशेष की ही अनुभूति होती है, क्योंकि इस प्रक्रिया में जो आभास प्रस्तुत हैं, वे भिन्न नहीं होते और उनमें प्रमाता को विशेष की अनुभूति नहीं होती। दुष्यंत आदि पारमार्थिक न होने के कारण दुष्यंत विशेष के रूप में अवभासित न होकर सामान्य पुरुष या नारी के रूप में ही अवभासित होते हैं। इस प्रकार की मान्यता आभासवादियों की ही नहीं है, मीमांसकों ने भी इसे स्वीकार किया है। अभिनवगुप्त ने आभास की निर्विशेषता सिद्ध करने के लिये 'अभिनव भारती में' मीमांसकों का मत उद्धृत किया है। 'सत्रमासत्', 'तामग्नौ प्रादात्' इन वाक्यों में 'आसत्' और 'प्रादात्' क्रियापद यद्यपि भूतकाल के सूचक हैं, तथापि भावक प्रतिभा, भावना, विधि, नियोग आदि के कारण उन्हें वर्तमानकालिक के रूप में ही गृहीत करता है तथा अन्य पुरुष की क्रिया को अपने ऊपर आहित कर उसी प्रकार की क्रिया के संपादन के निमित्त तत्पर हो जाता है।[१७] इस प्रकार भावक को विवक्षित अर्थ से अधिक अर्थ की प्रतीति होती है, जिसमें समय स्थान अनालिंगित रहते हैं। इसी प्रकार काव्यात्मक शब्द सहृदय प्रमाता को समय-स्थान अनालिंगित रूप में अधिक अर्थ की प्रतीति

उच्छलन्निजरश्म्योघः संवित्सु प्रतिबिम्बितः।
बहुदर्पणवद्दीप्तः सर्वायेताप्ययत्नतः॥
—तंत्रालोक, २८-५-७३। संदर्भ : डा० प्रेमस्वरूप गुप्त, रसगंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन, पृ० १७५।

१६. ईश्वर प्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, भा० २, पृ० ६४–६७।
१७. अभिनवभारती, पृ० ४७०।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कराते हैं जो समय स्थान से अनालिंगित होने के कारण निर्विशेष (साधारण) रूप में ही उपस्थित होते हैं। आभासवाद का यह सिद्धांत रसनुभूति की प्रक्रिया में अत्यंत आवश्यक पृष्ठभूमि प्रस्तुत करता है। इसके आधार पर ही विभावादि का साधारणीकरण संभव है।

अभिनवगुप्त ने नाट्य में दो ही इंद्रियों को रसग्राहिका इंद्रियों के रूप में ग्रहण किया है। वे हैं श्रवणेंद्रिय और नेत्रेंद्रिय। सामाजिक रंगमंच पर उपस्थित विभवादि के क्रियाकलाप देखता है तथा संलाप सुनता है। विभावादि उसके रसोद्रेक के माध्यम का काम करते हैं। वस्तुतः रसानुभूति की प्रक्रिया में अभिनवगुप्त ने रस को विषय के रूप में ग्रहण न करके रसना को उद्रिक्त करने के माध्यम के रूप में ही स्वीकार किया है। जब सामाजिक रंगमंच पर रामादि के वेश में नट को देखता है तो प्रारंभिक अवस्था में उसकी नट बुद्धि आच्छादित हो उठती है, किंतु उस नट में उसकी राम बुद्धि स्थिर नहीं होती। कल्पना के सहयोग से वह देश काल आदि के बंधन से ऊपर उठ जाती है। परिणामस्वरूप नाट्यगत सामग्री उसकी निजी वासना को उद्‌बुद्ध करने में सहायक होने लगती है और देश काल के बंधन से अनालिंगित होने के कारण नाट्य सामग्री निर्विशेष रूप में ही उपस्थित होती है। इसका परिणाम यह होता है कि सामाजिक को अपनी कल्पना का उन्मुक्त उपयोग करने का अवसर प्राप्त होता है और जब सामाजिक अपनी भावनाओं की चरम सीमा पर पहुँच जाता हैं तो वह नायक के साथ अनायास ही तादात्म्य स्थापित कर लेता है और उसी के समान समस्त परिस्थितियों में अनुभव करने लगता है। भावों के चरम-विकास की परिणति आत्म विस्मृति में हो जाती है। ऐसी परिस्थिति में सामाजिक की आत्मा न तो पूर्ण रूप से उल्लिखित ही होती है और न तो तिरस्कृत ही होती है सामाजिक का व्यक्तित्व भी इस अवस्था में निर्विशेष हो जाता है। सर्वात्मिका संवित्ति के कारण समस्त सामाजिकों का साधारणीकरण हो जाता है, और समस्त सामाजिकों के भाव उसी रूप में युगपत् दीपित हो उठते हैं, जिस रूप में अनेक दर्पणों में प्रतिबिंबित रवि रश्मियाँ दीप्त हो उठती हैं। हृदय परामर्श और वासना संवाद के कारण स्वात्म-विश्रांति-रूप, प्रकाश आनंदमय रस की अनुभूति होने लगती है जो प्रत्यक्षकल्प, मानसी और साक्षात्कारात्मिका होती है, क्योंकि चरम विकास के क्षण तक श्रोत्रेंद्रिय और नेत्रेंद्रिय इसमें सहायभूत सिद्ध होते हैं। इस प्रकार हम देख सकते हैं कि अभिनवगुप्त ने अपने दार्शनिक सिद्धांतों को मनोवैज्ञानिक और व्यावहारिक बनाने का प्रयत्न किया है।

नाट्य के नटादि सामाजिक के ध्यान के माध्यम उसी प्रकार सिद्ध होते हैं जिस प्रकार कृष्णादि की मूर्ति उपासक के ध्यान के माध्यम होते हैं, स्वयं उपास्य नहीं होते। मूर्ति के माध्यम से उपासक देवता विशेष की कृपा का भाजन बनता है,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसी तरह नटादि के माध्यम से सामाजिक अपनी ही उद्बुद्ध वासना की चर्वणा करता है और आत्म-विश्रांति-रूप आनंद अनुभूत करता है। रसचर्वण के अवसर पर सामाजिक भी देश कालादि से अस्पृष्ट हो स्वयं रसोद्रेक का फल प्राप्त करता है। उसे कभी यह अनुभव नहीं होता कि मैं किसी दूसरे के रस का आस्वादन कर रहा हूँ। देश काल आदि से अस्पृष्ट होने के कारण नाट्यसामग्री विधि स्थानीय हो जाती है।[१८] रसानुभूति चित्तवृत्यात्मक होती है। इस कारण सामाजिक रस विषय को देखकर प्रतिक्रियात्मक संवेगों का अनुभव नहीं करता, प्रत्युत वह आत्मविश्रांति का अनुभव करता है। अतः रसचर्वण मानसी और साक्षात्कारात्मक ही कही जा सकती है, क्योंकि प्रत्यक्ष नटादि सामग्रियों के देखने से दृष्ट वस्तु का मानसिक बिंब ही उभरता है जो सामाजिक को विश्रांति की ओर ले जाता है। यदि भावात्मक प्रतिक्रिया हो तो निश्चय ही सामाजिक को विश्रांति की अनुभूति नहीं हो सकती, प्रत्युत भावों का क्रियात्मक स्वरूप ही उसमें दृष्टिगोचर होगा जो मानसिक अविश्रांति का ही प्रतीक है।

तन्मयीभवन—जब प्रमाता कोई वस्तु देखना चाहता है तो उस समय वह उस वस्तु के प्रति व्यापक हो जाता है और चिन्मय होने के कारण वह वस्तु भी प्रमाता को अपने सहज, शुद्ध, प्रकाशमय स्वरूप में दृष्टिगोचर होने लगती है।[१९] उदाहरण के लिये हम कह सकते हैं कि 'मैं इस घड़े का अनुभव करता हूँ'। इस कथन में अनुभव का विषय घड़ा और अनुभवकर्ता 'मैं' दोनों एकाकार हो उठे। अनुभव वस्तुतः तब होता है जब कि विषय की विषयी के आत्माकार परिणति हो जाय, दोनों

१८. तत्र च नटो ध्यायिनामिव ध्यानपदम्। न हि तत्र 'अयमेव सिन्दूरादिमयो वासुदेवः' इति स्मरणीय प्रतिपत्तिः, अपितु तदुपायद्वारेणाति स्फुटीभूत सकलपगोचरो देवता विशेषो ध्यायिनां फलकृत्। तद्वत्नाट्यप्रक्रिया द्वारोदिततिस्फुटाध्यवसाय विषयितो नियतदेशकालाद्यस्पृष्ट विधिस्थानीयोऽर्थो 'अस इदं फलम्' इति व्युत्पत्तिं वितरति।
—वही, पृ० ४१४।

१९. ग्रहण समये भावस्य भावयाभावत्वेन भासितं निजं सहज शुद्ध प्रकाशाख्यं स्वरूपमेव प्रमातारं प्रति स्फुटी भवति, यतः तदा प्रमाता तद्वस्तु प्रति दिदृक्षासमये व्यापकी भवति।'—भास्करकंठ, संदर्भः। अभिनवगुप्त—ए हिस्टारिकल ऐंड फिलासौफिकल स्टडी, पृ० २८६।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक हो जाएँ।[२०] अभिनवगुप्त के अनुसार विराट् सार्वभौमिक परम शिव के चेतना रूपी समुद्र में विषय और विषयी की चेतना तरंगों का संमिलन ही ज्ञान है।[२१] प्रमाता का वस्तु के प्रति व्यापक हो जाना इस भाव का द्योतन कराता है कि प्रमाता उस वस्तु को स्वात्मसात् कर लेता है तथा तन्मयीभाव का उसमें आसादन हो जाता है।[२२] दोनों चेतना स्वरूप हैं, इसी लिये इस प्रकार तन्मयीभाव तथा एकाकारता संभव होती है। अंतर्मुखी दर्शन होने के कारण यह विषय की आत्माकार परिणति को स्वीकार करता है, जब कि वेदांत आदि दर्शन आत्मा की विषयाकार परिणति को स्वीकार करते हैं। इस प्रकार अभिनवगुप्त के अनुसार विषय की आत्माकार परिणति ही तन्मयीभवन है। नाट्य विषय को जब प्रमाता देखता है तो उसकी चेतना व्यापक रूप में उसका ग्रहण करने लगती है और नाट्यविषय भी चेतनामय होने के कारण सहज, शुद्ध, प्रकाशमय स्वरूप में दृष्टिगत होने लगता है और दोनों चेतनाएँ एकाकार हो उठती हैं। इसका परिणाम यह होता है कि विषय और विषयी दोनों एक हो जाते हैं। विषयी (प्रमाता) विषय को स्वात्मसात् कर लेता है और विषय की विषयी की तदाकार परिणति के फलस्वरूप तन्मयीभाव का आसादन हो जाता है। प्रमाता इस स्थिति में जो कुछ अनुभूति करता है वह आत्मानुभूति ही होती है। विषय का कोई अनुवेध नहीं रहता, क्योंकि विषय आत्मचेतना में ही निमज्जित हो जाता है। आत्मानुभूति प्रकाशमय, आनंदमय ही होती है, क्योंकि आत्मा स्वयं प्रकाश-विमर्श-स्वरूप है और आनंद और कुछ नहीं आत्मा की ही शक्ति है। अतः जो रसानुभूति होती है वह आत्मानुभूति से परे कोई वस्तु नहीं है। इसी लिये उसे चिन्मय, प्रकाशमय, आनंदमय आदि नामों से अभिहित किया जाता है।

*

२०. 'तथा च घटो मम स्फुरतीति कोऽर्थः ? मदीयं स्फुरणं स्पन्दनमाविष्टो मद्रूपतामापन्न एव चिन्मयत्वात्।
—ईश्वरप्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी, भा० १, पृ० ४२, पादटिप्पणी।

२१. अभिनवगुप्त—ए हिस्टरिकल ऐंड फिलासिफिकल स्टडी, पृ० २८६।

२२. व्यापकीभावनंश्च तद्वस्तु स्वात्मसात्करोति तन्मयीभावसासादनं च वस्तुनः शुद्ध प्रकाशरूपत्वासादनमेव प्रमातुः शुद्ध प्रकाशमात्र रूपत्वात्।
—वही, पृ० २८७।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वैष्णव अनी अखाड़े

वेदप्रकाश गर्ग

कुंभ पर्व के चारों क्षेत्रों (हरिद्वार, प्रयाग, नासिक, उज्जैन) में योगावसर पर कुंभ योग शाही स्नान के रूप में अनेक शताब्दियों से चला आ रहा है, यह विश्वविदित है। किंतु शाही स्नान में भाग लेनेवाले इन अनी अखाड़ों के संबंध में तथ्य रूप विषय का ज्ञान अधिकांश को नहीं है। इन अनी अखाड़ों का असाधारण गौरव देखकर दर्शकों के हृदयों में इनके संबंध में जानने की उत्सुकता का जागृत होना स्वाभाविक है, किंतु प्रकट औत्सुक्य-समाधान-सामग्री के अभाव में उन्हें निराश ही होना पड़ता है। चारों कुंभ क्षेत्रों के शाही पर्व स्नान के अवसर पर प्रधान रूप से 'वैष्णवदल' तथा 'शंभुदल' दोनों ही दल शाही महत्व रखते हैं। इस लेख में केवल 'वैष्णव दल' के अनी अखाड़ों के लौकिक इतिहास पर ही कुछ प्रकाश डालने का प्रयास है।

अखाड़ों की रचना और संगठन

१८वीं शताब्दी में वैष्णव संप्रदायों को अनेक संकटों का सामना करना पड़ा था। यवन आक्रमणकारियों और विधर्मी शासकों से तो उनको अपार कष्ट था ही, वैष्णवेतर संप्रदायों की असहिष्णुता भी उनको त्रस्त कर रही थी। सुना जाता है कि वि० सं० १७२० के लगभग किसी कुंभ के अवसर पर नंगे होकर तीर्थों में स्नान करनेवाले शैव तथा शाक्त संप्रदायियों को वैष्णवों ने रोका—'तुम ऐसा शास्त्र विरुद्ध आचरण मत करो। तीर्थ जलाशयों में नग्न होकर स्नान करना निषिद्ध है।' इसपर वे चिढ़ बैठे। इसी शास्त्र विरुद्ध कृत्य को करना उन्होंने अपना धर्म समझ लिया और वैष्णवों पर अत्याचार करने लगे। कहा जाता है कि लक्ष्मी गिरि और भैरव गिरि नामक गुसाइयों (शांकर मतावलंबी) ने तो प्रतिदिन कम से कम पाँच-पाँच वैष्णवों का वध करके ही भोजन करने की प्रतिज्ञा कर ली थी।

उस समय वैष्णवों के जीवन मरण का प्रश्न उपस्थित हो गया था। मुसलमानों एवं उपद्रवी गुसाइयों से वैष्णवों की रक्षा के लिये समस्त वैष्णव संप्रदायों ने पारस्परिक मतभेद और सांप्रदायिक संकीर्णता के विचारों को भुलाकर सामूहिक सगठन किया। उक्त संगठन के फलस्वरूप वैष्णवों की तीन अनी और उनके ५२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द्वारे निर्धारित किए गए। इन अनियों का नेतृत्व रामानंद संप्रदायानुयायी वीर, प्रतापी और उत्साह संपन्न श्री बालानंद जी ने किया था।

फिर इन तीन अनियों के सात अखाड़े बनाए गए। आगे चलकर इन सातों अखाड़ों के १८ प्रभेद हो गए। अखाड़ों का पूर्ण संगठन निम्न प्रकार है —

इन अखाड़ों की ये तीन अनियाँ प्रसिद्ध हैं— १–निर्मोही, २–दिगंबर, और ३–निर्वाणी। पहली अनी में निर्मोही, महानिर्वाणी और संतोषी अखाड़े संमिलित रहते हैं। निर्मोही अखाड़े में १–रामानंदी निर्मोही, २–विष्णुस्वामी निर्मोही, ३–मालाधारी निर्मोही, ४–राधावल्लभी निर्मोही और ५–झाड़िया निर्मोही मिले रहते हैं। महानिर्वाणी अखाड़े में १–रामानंदी महानिर्वाणी साधुओं के साथ ही २–हरिव्यासी महानिर्वाणी भी मिले रहते हैं। संतोषी अखाड़े में १–रामानंदी संतोषी के साथ २–हरिव्यासी संतोषी मिले रहते हैं। इस प्रकार निर्मोही अनी में ९ अखाड़े हैं। इनमें श्रेष्ठता की दृष्टि से निर्मोही अखाड़ा प्रधान है।

दूसरी अनी में दो अखाड़े हैं—१–रामजी दिगंबर और २–श्यामजी दिगंबर।

तीसरी अनी में निर्वाणी, खाकी तथा निरावलंबी ये तीन अखाड़े संमिलित रहते हैं। निर्वाणी अखाड़े में १–रामानंदी निर्वाणी, २–हरिव्यासी निर्वाणी और ३–बलभद्री निर्वाणी संमिलित रहते हैं। खाकी अखाड़े में १–रामानंदी खाकी के साथ ही २–हरिव्यासी खाकी अखाड़ा भी मिला रहता है। निरावलंबी अखाड़े में १–रामानंदी निरावलंबी के साथ २–टाटंबरी अखाड़ा मिला रहता है। इस प्रकार निर्वाणी अनी में ७ अखाड़े हैं। इन अखाड़ों में श्रेष्ठता की दृष्टि से सर्वप्रमुख निर्वाणी अखाड़ा है।

इस प्रकार सभी वैष्णव संप्रदायों के अखाड़ों के मिल जाने से कुल 'नव कुलों' का निर्माण हो गया है। ऊवल अखाड़ा इन सबका संमिलित पंचायती अखाड़ा है।

उपासना एवं संप्रदाय संबंध

यद्यपि वैष्णवों की तीन अनियों के सभी अखाड़ों में श्री राम-कृष्ण की ही उपासना है, इसी से पत्रव्यवहार में 'श्रीरामकृष्णाभ्यां नमः' शीर्षक रहता है, तथापि कुछ अखाड़ों में रामोपासकों की अधिकता है और कई एक अखाड़ों में कृष्णोपासकों का आधिक्य है। इसी लिये इन वर्तमान १८ अखाड़ों में ७ अखाड़ों की गणना रामजी में और ११ अखाड़ों की गणना श्याम जी में है। निर्मोही अनी में रामानंदी निर्मोही, रामानंदी महानिर्वाणी और रामानंदी संतोषी नामक अखाड़े श्री रामोपासना प्रधान हैं तथा विष्णुस्वामी निर्मोही, मालाधारी निर्मोही, राधावल्लभी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निर्मोही, झाड़िया निर्मोही, हरिव्यासी महानिर्वाणी और हरिव्यासी संतोषी नामक अखाड़े श्री कृष्णोपासना प्रधान हैं। ऐसे ही दिगंबर अनी में एक अखाड़ा रामजी और दूसरा श्यामजी का प्रसिद्ध है, जो नाम से ही प्रकट है। निर्वाणी अनी में भी रामानंदी निर्वाणी, रामानंदी खाकी और रामानंदी निरावलंबी नामक अखाड़े रामजी के तथा हरिव्यासी निर्वाणी, बलभद्री निर्वाणी, हरिव्यासी खाकी और टाटंबरी नामक अखाड़े श्याम जी के हैं।

श्री राम और श्री कृष्ण—इन द्वयोपासना संबंध के कारण ही भागवत-धर्म सिद्धांत प्रधान श्री, ब्रह्म, रुद्र और सनक ये चार वैष्णव संप्रदाय प्रसिद्ध हैं। इन संप्रदायों के अतिरिक्त कुछ और स्वतंत्र वैष्णव संप्रदाय भी हैं, किंतु उनको भी इन चारों संप्रदायों में ही अंतर्भुक्त मान लिया जाता है। आचार्य नाम भेद से भिन्न भिन्न संप्रदायों में मंत्र, इष्ट, उपास्य स्वरूप, क्षेत्र, शाखा, मुक्ति तथा धर्मादि भेद हैं। जैसे—

श्री संप्रदाय

श्री संप्रदाय के नाम से दो संप्रदाय अभिप्रेत हैं— १–रामानुज संप्रदाय और २–रामानंद संप्रदाय। इन दोनों का दार्शनिक सिद्धांत एक ही है। वह है 'विशिष्टाद्वैत', किंतु उपासना स्वरूप में कुछ भेद है। रामानुज संप्रदाय के आचार्य श्री रामानुज हैं। इस संप्रदाय में लक्ष्मीनारायण स्वरूप भगवान् की उपासना और अष्टाक्षर नारायण मंत्र, श्री रंगधामादि प्रधान हैं। वैष्णवों के नाम-माला-मंत्र-तिलक और मुद्रा—इन पाँच संस्कारों में से तुलसी की कंठी (माला), सेवा, भाव, भजन के अतिरिक्त हर समय कंठ में नहीं रखते। तीनों अनी अखाड़ों में इस संप्रदाय का कोई अखाड़ा नहीं है। भगवत् उत्सव समयादि के अवसर पर अनी अखाड़ों के साथ इस संप्रदाय का संपर्क अवश्य रहता है।

रामानंद संप्रदाय के आचार्य श्री रामानंद हैं। इस संप्रदाय में श्री सीताराम स्वरूप भगवान् की उपासना, षडाक्षर राममंत्र, अयोध्या धाम, अंतशाखा, राघवानंद महाप्रसाद, श्रवण द्वार और सायुज्य मुक्ति है। पंचसंस्कार वैष्णव सदा धारण किए रहते हैं। तीनों अनी अखाड़ों में इस संप्रदाय के वैष्णव भी हैं और रामानंदी नाम से स्वतंत्र अखाड़े भी हैं।

ब्रह्म संप्रदाय

ब्रह्म संप्रदाय के नाम से तीन संप्रदाय अभिप्रेत हैं— १–मध्वसंप्रदाय २ हित संप्रदाय और ३–गौड़ीया संप्रदाय।[1]

१. गौडीय संप्रदायी अपने को मध्वसंप्रदाय के अंतर्गत मानते हैं, पृथक नहीं तथा इसी लिये संप्रदाय को वे माध्व गौडीय संप्रदाय कहते हैं।—संपादक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मध्व संप्रदाय के प्रवर्तकाचार्य श्री मध्व होने से यह 'मध्व संप्रदाय' नाम से प्रसिद्ध है। दार्शनिक सिद्धांत 'द्वैत' है। श्री कृष्ण भगवान् की उपासना और विष्णु हंस मंत्र है। सावित्री इष्ट, बद्रिकाश्रम धाम, अंकयात क्षेत्र, सालोक्य मुक्ति और मुख द्वार है। इस संप्रदाय का तीनों अनी अखाड़ों में कोई अखाड़ा नहीं है।

हित संप्रदाय का नाम ही राधावल्लभ संप्रदाय है। इसके प्रवर्तकाचार्य श्री हित हरिवंश हैं। इनका दार्शनिक सिद्धांत 'सिद्धाद्वैत' है। नित्य युगलकिशोर स्वरूप राधावल्लभलाल भगवान् की उपासना और द्वादशाक्षर युगल मंत्र है। राधा इष्ट हैं। वृंदावनधाम, यमुनाक्षेत्र, महाप्रसाद निष्ठा, चक्षुद्वार और युगल कृपा द्वारा सामीप्य मुक्ति है। तीनों अनी अखाड़ों में इस संप्रदाय के वैष्णव भी हैं और निर्मोही अनी के अंतर्गत स्वतंत्र 'राधावल्लभ निर्मोही' अखाड़ा भी है।

चैतन्य संप्रदाय का नाम गौडीय संप्रदाय भी है। इसके आचार्य श्री चैतन्य महाप्रभु हैं। दार्शनिक मत 'अचिंत्य भेदाभेद' हैं। गोपेंद्रनंदन स्वरूप भगवान् की उपासना, व्रज वृंदावन धाम, नित्यानंद शाखा, सायुज्य मुक्ति प्रधान है। तीनों अनी अखाड़ो में इस संप्रदाय के वैष्णव भी हैं और निर्वाणी अनी में बलभद्री निर्वाणी के नाम से अखाड़ा भी है।

'दादू संप्रदाय' का नाम भी 'ब्रह्म संप्रदाय' में है। इसके प्रवर्तकाचार्य दादूदयाल जी हैं। दादू जी विरक्त, ज्ञानी और भक्तिरस में रत थे। यह उनकी वाणी से भी विदित है। ये तिलक छाप के आग्रही नहीं, इनका अंतर्मुखी योग से प्यारे प्रियतम में लय रहना ही साधन है और निरंजन निराकार रूप में ब्रह्म की सत्ता सर्वत्र अनुभव करना लक्ष्य है। स्वतंत्र 'दूधाधारी निर्मोही' अखाड़ा है। इनका प्रधान केंद्र नरेणा (राजस्थान) में है। यह 'दूधाधारी अखाड़ा' निर्मोही अनी में संमिलित होकर कुंभपर्व पर शाही स्नान करता है। इसी से निर्मोही अनी में ९ की जगह साढ़े नौ अखाड़े भी माने जाते हैं।

रुद्र संप्रदाय

रुद्र संप्रदाय के नाम से दो संप्रदाय इष्ट हैं— १–विष्णुस्वामी संप्रदाय और २–वल्लभ संप्रदाय। इन दोनों संप्रदायों का दार्शनिक मत 'शुद्धाद्वैत' है। विष्णु स्वामी संप्रदाय में राधाकृष्ण स्वरूप भगवान् की उपासना, श्री तुलसी मंत्र, लक्ष्मी इष्ट पुरुषोत्तम धाम, त्रिपुरारि शाखा, नेत्रद्वार, साम्राज्य मुक्ति प्रधान हैं। तीनों अनी अखाड़ों में इस संप्रदाय के वैष्णव भी हैं और निर्मोही अनी में स्वतंत्र 'विष्णुस्वामी निर्मोही' अखाड़ा भी है।

वल्लभ संप्रदाय के प्रवर्तकाचार्य श्री वल्लभाचार्य हैं। इस संप्रदाय में बालस्वरूप नंदनंदन भगवान् की वात्सल्य भावमयी उपासना है और श्री कृष्णशरण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मंत्र प्रधान है। संस्कार में तिलक, कंठी, मंत्र ये तीन हैं। तीनों अनी अखाड़ों में इस संप्रदाय का कोई अखाड़ा नहीं है।

सनक संप्रदाय

सनक संप्रदाय का नाम निंबार्क संप्रदाय भी है। इस संप्रदाय के आचार्य श्री निंबार्काचार्य हैं। दार्शनिक मत 'द्वैताद्वैत' है। श्री गोपालस्वरूप भगवान् की उपासना और अष्टादशाक्षर गोपाल मंत्र है। रुक्मिणी इष्ट, द्वारावतीधाम, हंस शाखा, गोमती क्षेत्र, श्री भट्ट महाप्रसाद, नासिकाद्वार, सारूप्य मुक्ति, प्रधान है। इस संप्रदाय में हरिव्यासदेव जी प्रधानरूप से प्रचारक होने के कारण इसका दूसरा नाम 'हरिव्यासी संप्रदाय' भी है। इस संप्रदाय के हरिव्यासी वैष्णव तीनों अनी अखाड़ों में भी हैं और हरिव्यासी के नाम से निर्मोही तथा निर्वाणी अनी में स्वतंत्र अखाड़े भी हैं। एक और अखाड़ा 'झाड़िया निर्मोही' नाम से निर्मोही अनी के अंतर्गत है। अब यह अखाड़ा 'रामानंदी झाड़िया' बन रहा है।

इस प्रकार इन तीनों अनी अखाड़ों में सभी वैष्णव संप्रदायों के अनुयायी न्यूनाधिक रूप में संमिलित हैं। इनमें न कोई छोटा है और न कोई बड़ा। सभी वीर वैष्णव बांधव हैं। सभी महावीर ध्वजधारी हैं और सभी अपने अपने अखाड़े की रेख टेक पालन करने में कुशल हैं। अतः इन अखाड़ों के वैष्णवों में सांप्रदायिक संकीर्णता को स्थान नहीं दिया गया, अपितु संप्रदाय को गौण रखकर अखाड़ों की रेख टेक (मर्यादा पालन) को ही मुख्य माना गया। सभी अखाड़ों में उदारता का भाव है। वैष्णवों में परस्पर प्रेम है। सभी संप्रदायों का समादर है। सभी अपने-अपने अखाड़ों की जय के साथ चारों संप्रदाय, बावनद्वारे, अनंत कोटि वैष्णव, अपने अपने गुरुगोविंद, हनुमान गरुड़देव, रामकृष्णदेव तथा महाप्रसाद की समान रूप से जय बोलते हैं।

उक्त संप्रदायों में से किसी भी संप्रदाय का अनुयायी वैष्णव हो, वह किसी भी अखाड़े का 'रकमी'. (रेख टेक पालन करनेवाला) बन सकता है। जो अखाड़े की रकम उठाता है, प्रतिज्ञा पालन करता है, उसके लिये कहीं कोई रोक टोक नहीं रहती। इसी प्रकार किसी भी द्वारेवाला व्यक्ति किसी भी अखाड़े का नागा बन सकता है।

अखाड़ों के साधुओं की श्रेणियाँ

अपने गुरुस्थान को छोड़कर 'चतुःसंप्रदाय' की सेवा करने की भावनावाला साधु इन अखाड़ों में संमिलित होकर 'अखाड़ामल्ल' के नाम से पुकारा जाता है। वह रकमी निम्नलिखित श्रेणियों को क्रमशः मर्यादानुसार प्राप्त करता है। जिस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नागा की सेवा में वह साधु नियोजित होता है, उसका वह 'सादिक' कहलाता है। इन साधुओं की ये श्रेणियाँ हैं —

१. यात्री—ये साधु अपने से बड़ी श्रेणीवालों के लिये दातुन आदि का प्रबंध करते हैं तथा इधर उधर भ्रमण किया करते हैं।

२. छोरा—अपने से बड़े बंदगीदार से लेकर अतीत तक की सेवा के लिये प्रभाती लाना, जल लाना, स्नान कराना, पत्ता दौना लगाना, बुहारी देना, चौका लगाना और अतिरिक्त समय में अपने पठन पाठन में तत्पर रहना इनका काम है। इसका व्यावहारिक नाम 'रकमी' भी होता है।

३. बंदगीदार—कोठार की वस्तु संभालना, भोजन तैयार करना, मंदिर में थाल पहुँचाना, हनुमान जी का पट लेकर चलना, छड़ी उठाना तथा शस्त्रास्त्र की शिक्षा प्राप्त करना ही इनका काम है।

४. हुरदंगा—भगवत्सेवा पूजा, आरती करना, भोग लगाना, पंगत (पंक्ति) कराना, निशान उठाना, पंच की गोलक संभालना तथा शास्त्र शस्त्र विद्या में निपुणता प्राप्त करना इनका काम है।

५. मुदाठिया—भगवत्-भागवत-सेवा पूजा करना, हिसाब संभालना, टहलवा आदि से टहल कराना, सबकी देख रेख रखना, एवं शास्त्र-शस्त्रास्त्र विद्या में विशेषता प्राप्त करना ही इनका मुख्य कर्तव्य है।

६. नागा—सेवकों को चेतावनी देना, भगवत-भागवतों की पूजा का प्रबंध करना, संप्रदाय के मठ मंदिरों एवं अनुयायियों की रक्षा करना, नृसिंहा बाजा बजाना, जमात बनाकर देश में भ्रमण करना, वैष्णव धर्म का प्रचार करना, कुंभ का प्रबंध करना, आदि इनके प्रमुख कर्त्तव्य हैं।

७. अतीत—संप्रदाय की प्रमुख समस्याओं पर विचार करना, उनका हल प्रस्तुत करना, भगवत भागवत भजन भाव निष्ठा तथा नागादि के प्रति हितप्रद आदेश देते रहना, आदि इन नागा अतीतों का काम है। सिद्ध नागाओं को ही नागा अतीत के नाम से अभिहित किया जाता है।

उपर्युक्त श्रेणियों के अतिरिक्त दो श्रेणियाँ और मानी जाती हैं—

सदर नागा—पंच मिलकर सदर नागा का चुनाव करते हैं। अखाड़ों के पंचों की ओर से, चुने हुए सदर नागा को इनाम (कोई विशेष वस्तु) कंठी, कटोरी और कोतवाल मिलता है। तत्पश्चात् वह जमात बाँधकर देश में बारह वर्षतक विचरण भ्रमण करता है और प्राप्त आय से अखाड़े का नकशा (वस्तु) बनाना, भगवद्भक्तिवर्धक सुंदर उपदेश देकर सेवक वैष्णव वर्ग बढ़ाना, उनके द्वारा परोपकारी कार्य कराना आदि उसके प्रधान कर्तव्य हैं। इनके अतिरिक्त अन्य श्रेणी के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साधुओं को शस्त्रशास्त्र, वैष्णव रहनी रीति, धर्म कर्म संबंधी शिक्षा देना, दोनों समय अभ्यास कराना, प्रत्येक कार्य में निरालस्य तत्पर रहना तथा अन्य सबको उद्यत रखना भी उसके कार्य हैं।

महाअतीत—पंच पंचायत तथा राज दरबार आदि का जो कुछ भी योग्य कार्य होता है, उन सब ऐसे कार्यों के लिये वह नियत रहता है। वैसे महाअतीत का मुख्य कार्य भगवद्भजन करना ही है।

एक एक श्रेणी की तीन तीन वर्ष पर्यंत अवधि रहती है, जिसमें सदर नागा की अवधि १२ वर्ष तक रहती है। अतीत की अवधि देहावसान तक मानी जाती है। सदर नागा का निर्वाचन अखाड़े के पंचों द्वारा किया जाता है। वह स्वतंत्र जमात लेकर देशाटन किया करता है। उक्त काल में जिन स्थानों पर जमात जाया करती है, वहाँ उसका खूब स्वागत सत्कार किया जाता है।[२] इस प्रकार संप्रदायों की उन्नति और उनके प्रभाव क्षेत्र का विस्तार होता रहता था।

अधिकार—५२ महांतों के ऊपर एक सदर नागा का अधिकार होता है और ५२ नागाओं के ऊपर एक अतीत का अधिकार होता है।

साधुओं के कर्तव्य

अखाड़ों के साधुओं का, हिंदू धर्म एवं हिंदुओं के मंदिरों की रक्षा करना, वैष्णव धर्म के विद्रोहियों का दमन करना, कुंभपर्व के अवसर पर वैष्णव संप्रदाय की मर्यादा की रक्षा करना, अखाड़ों के नियमों का पालन करना, परंपरा की रक्षा करना, कार्यकारिणी की आज्ञा का अनुगमन करना आदि कर्त्तव्य हैं। सभी रकमियों का अपने निश्चित् कर्त्तव्यों का पालन करते हुए शास्त्र तथा शस्त्र विद्या में निपुणता प्राप्त करना प्रमुख कर्तव्य है। इसी कारण इन साधुओं का अधिकांश समय सैनिक शिक्षा प्राप्त करने में ही व्यतीत होता है।

विशिष्ट शब्दावली

रकम—एक प्रकार की प्रतिज्ञा है। इसके नियत दिन के शुभावसर पर दूध-पाक, मालपुआ, कच्ची पक्की विशेष सामग्री का भगवान् को भोग लगाया जाता है। तत्पश्चात्, रकमी रकम उठाता है। यह अखाड़े की एक प्रधान वस्तु मानी जाती है, वह सिखलाई जाती है, पूछी जाती है।

सेली—नागाओं की ये चार सेली मानी जाती हैं—१–सागरिया,

२. आजकल सदा घूमने फिरनेवाली ये जमातें बंद सी हो गई हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२-उज्जैनिया, ३-वसंतिया और ४-हरिद्वारिया। इनके नाम रंग, दिशादि अंतरंग भेद पृथक् पृथक् हैं, जिनका कि रकम की प्रधान वस्तु होने के कारण सर्वसामान्य के समक्ष उल्लेख नहीं किया जाता, नागा बननेवालों को ही बताया जाता है। इन सेली नागाओं को 'पट्टदार' भी कहते हैं।

उतार चढ़ाव—पारस्परिक घनिष्ट संपर्क जुड़े रहने के उद्देश्य से उक्त सेलियों के उतार चढ़ाव का क्रम है। जैसे—सागरिया सेली के हाथ के नीचे उज्जैनिया और उसके हाथ के नीचे वसंतिया, वसंतिया के हाथ के नीचे हरिद्वारिया और हरिद्वारिया के हाथ के नीचे सागरिया सेली रहती है। इस प्रकार उतार चढ़ाव की नियमावली रकम की है। रकम में दो रकम 'सदरी' तथा दो रकम 'कदरी' नाम से अभिहित हैं।

उक्त सेलियों में सागरिया और उज्जैनिया सदर नागा होकर प्रयाग कुंभ को प्रयाण करती हैं। वसंतिया और हरिद्वारिया सदर नागा होकर हरिद्वार कुंभ जाती हैं। इस प्रकार इन दो संज्ञाओं का अंतर छह वर्ष का होता है।

शेली—यह अनियों के पहचान की एक वस्तु होती है, जो काले डोरे से बनी हुई होती है। निर्मोही अपने दाहिने पग में और निर्वाणी अपने बाएँ पग में बाँधे रहते हैं। दिगंबर अनीवाले नहीं बाँधते है।

लटूरी—यह भी अनियों की परिचायिका है। सिर के केशों की लटूरी (जूड़ा) को निर्मोही दाहिनी ओर को झुकी हुई, दिगंबर ठीक मध्य भाग में और निर्वाणी बाईं ओर को झुकती हुई बाँधते हैं।

महावीरी—सिंदूर की एक रेखा लगाई जाती है, जो महावीर की प्रसादी होती है। इसे निर्मोही दाहिनी ओर भृकुटी के पास, दिगंबर सीधी मध्य में और निर्वाणी बाईं ओर की भृकुटी के पास लगाते हैं।

कुंभ पर अखाड़ों के मिलने का क्रम

कुंभादि पर्वों पर शाही स्नान को जाते समय प्रत्येक अनी के अखाड़ों का इस प्रकार मेल होता है —

निर्मोही अनी — रामानंदी निर्मोही, रामानंद संतोषी और रामानंदी महानिर्वाणी—ये तीनों अखाड़े एक साथ मिलते हैं। विष्णु स्वामी निर्मोही, मालाधारी निर्मोही, हरिव्यासी संतोषी, हरिव्यासी महानिर्वाणी, राधावल्लभी निर्मोही और झाड़िया निर्मोही ये छह अखाड़े एक साथ मिलते हैं। तत्पश्चात् ये मिले हुए दलद्वय एक साथ मिलते हैं। इस प्रकार ९ निर्मोही अखाड़ों का एकत्र समूह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'निर्मोही अनी' कहलाता है। तदनंतर एक साथ कुंभ-शाही-स्नान करने चलते हैं। इन्हीं के साथ दादूपंथी 'दूधाधारी निर्मोही' अखाड़ा भी स्नान करने जाता है।

दिगंबर अनी—रामजी दिगंबर और श्यामजी दिगंबर, ये दोनों अखाड़े एक साथ मिलकर 'दिगंबर अनी' कहलाते हैं।

निर्वाणी अनी—रामानंदी खाकी, निरावलंबी और रामानंदी निर्वाणी, ये तीनों अखाड़े एक साथ मिलते हैं। हरिव्यासी निर्वाणी, हरिव्यासी खाकी, बलभद्री और टाटंबरी नामक चार अखाड़े परस्पर मिलते हैं। तत्पश्चात् ये मिले हुए दलद्वय एक साथ मिलते हैं। इस प्रकार ७ अखाड़ों का एकत्र समूह 'निर्वाणी अनी' कहलाता है। निर्वाणी और निर्मोही अनी आगे पीछे रहती हैं और दिगंबर अनी दोनों के मध्य में। युद्ध के समय दाहिनी ओर निर्वाणी, मध्य में दिगंबर और बाएँ पार्श्व में निर्मोही रहा करते थे। इनके भिन्न भिन्न निशान भी थे।

ध्वज एवं उसके चिह्न

तीनों अनियों के निशानों (ध्वजों) में महावीर जी (हनुमान) की प्रतिमा तो समान रूप से होती है, किंतु रामोपासक अखाड़ों के निशानों के भीतर की ओर सूर्यनारायण का चिह्न बना रहता है। यही भिन्नता है। निर्मोही अनी के ध्वज का बादला रूपहरा (श्वेत) दिगंबर अनी के निशान का बादला पंचरंगा और निर्वाणी अनी के ध्वज का बादला सुनहरा होता है।

वाद्य

रणसिंहा—तीनों अनियों में बजाया जाता है। निर्मोही और निर्वाणी अनी का बाजा अरबी (अर्जुन) है और दिगंबर अनी का बाजा बैंड है। निर्मोही अनी के आगे नौबत झाड़िया निर्मोही अखाड़ा बजाता है। दिगंबर अनी के आगे नौबत गर्व-गंजनी बजती है और निर्वाणी अनी के आगे डंका रामानंदी खाकी बजाता है।

इन तीनों अनी अखाड़ों की ओर से अपनी अपनी अनी में सर्वसंमति से चुने हुए, अनी के एक एक महंत और प्रधान मंत्री नियुक्त रहते हैं, जिनके अधिकार में कुंभ शाही स्नान संबंधी सरकारी व्यवस्था के साथ संपर्क रखना और उस अनी के उत्तरदायित्व का भार रहता है। इसके अतिरिक्त आगत आदरणीय महानुभावों के स्वागत का प्रबंध करना भी है। कुंभ इन अखाड़ों का सर्वस्व है। कुंभ के लिये वर्षों से तैयारियाँ करते हैं, किंतु इन तैयारियों में ही इनके अस्तित्व का उद्देश्य समाप्त नहीं हो जाता। इनका संगठन ही कर्मपथ का अवलंबन लेते हुए किया गया है। कुंभ की रोचकता को भी ये अखाड़े खूब बढ़ाते हैं।

खालसा

सिक्खों के अनुकरण पर कुछ खालसों का भी संगठन किया गया है, जिन्हें

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चतुःसंप्रदाय खालसा करते हैं। इन तीनों अनी अखाड़ों के अतिरिक्त अन्य सब वैष्णव संगठन 'खालसा' कहलाते हैं। इन खालसों में वीरध्वज होगा तो वह इन तीनों अनियों में से किसी एक अखाड़े का ही होगा। खालसा का स्वतंत्र निशान नहीं है। अतः खालसे भी तीनों अनो अखाड़ों के शाही-स्नान-महत्व के अंतर्गत ही महत्व-युक्त हैं। श्री वैष्णवों के वर्तमान खालसा निम्नलिखित हैं —

१– चार संप्रदाय खालसा, २– डाकोर खालसा, ३– इंदौर खालसा, ४– बारह भाई डांडिया खालसा, ५–नंदरामदास धीरमदास खालसा, ६–तेरह भाई त्यागी खालसा, ७–सप्तऋषि खालसा, ८–रतलाम खालसा और ९–महात्यागी खालसा।

इन खालसों में भी सभी संप्रदायों के वैष्णव महानुभाव रहते हैं। प्रत्येक खालसा के संत सेवा-भावी महांतों में, चाहे गादीस्थ हो चाहे संमाननीय संत महंत हों, वे तीनों अनी अखाड़ों की ओर से संमानित किए गए ही 'श्री महांत' कहाते हैं।

अनी अखाड़ों की बैठकें

निर्मोही अनी—रामानंदी निर्मोही अखाड़े की बैठकें वृंदावन, अयोध्या, चित्रकूट, पुरी, नासिक, उज्जैन, गोवर्द्धन आदि में हैं। रामानंदी महानिर्वाणी की वृंदावन, अयोध्या, चित्रकूट, पुरी आदि में हैं। रामानंदी संतोषी की अयोध्या, चित्रकूट आदि में है। मालाधारी निर्मोही और हरिव्यासी महानिर्वाणी की बैठक वृंदावन में है तथा हरिव्यासी संतोषी की पुरी में है। विष्णुस्वामी निर्मोही की बैठक वृंदावन और बूँदी (कोटा) में हैं। झाड़िया और राधावल्लभ निर्मोही की बैठकें वृंदावन और नीम का थाना (जयपुर) में है। इनके अतिरिक्त शिवपुर, बड़ौदा (ग्वालियर) आदि कई स्थानों में इनकी पुरानी छावनियाँ भी थीं।

दिगंबर अनी—रामजी दिगंबर की बैठकें—वृंदावन, अयोध्या, चित्रकूट, नासिक, उजैन, पुरी आदि में और श्यामजी दिगंबर की बैठकें वृंदावन, पुरी आदि में है। इनके अतिरिक्त इनकी छावनियाँ भी हैं।

निर्वाणी अनी—रामानंदी निर्वाणी की बैठकें वृंदावन, अयोध्या, चित्रकूट, उजैन, पुरी, गोवर्द्धन आदि में हैं। रामानंदी खाकी की—अयोध्या, चित्रकूट, नासिक, उज्जैन, पुरी आदि में हैं। निरावलंबी की बैठकें वृंदावन, अयोध्या, पुरी आदि में हैं। हरिव्यासी निर्वाणी की वृंदावन में, बलभद्री की वृंदावन, पुरी आदि में और टाटंबरी की वृंदावन में हैं। हरिव्यासी खाकी की बैठकें अज्ञात हैं। इनके अतिरिक्त इनकी छावनियाँ भी हैं।

अखाड़ों की शासनव्यवस्था

अनी अखाड़ों की सुव्यवस्था के लिये अनेक नियम बनाए गए थे, जिनका

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बड़ी कठोरता से पालन किया कराया जाता है। यहाँ इन अखाड़ों की सामान्य शासन-व्यवस्था पर प्रकाश डाला जा रहा है। इन अखाड़ों के निम्नलिखित अधिकारी होते हैं—

महांत—महांत का चुनाव प्रत्येक अखाड़े के सदस्य नागा अतीत करते हैं। इनके द्वारा निर्वाचित महांत को चुनाव के समय प्रस्तुत रहना पड़ता है। अखाड़ों की व्यवस्था महांत, पंच तथा सरपंच आदि की एक कार्यकारिणी समिति द्वारा की जाती है। महांत को इस समिति की आज्ञा माननी पड़ती है, अन्यथा उसे सामान्य सभा पदच्युत कर देती है। महांत, सरपंच या पंच आदि त्याग पत्र न दें तो आजीवन अपने पद पर बने रह सकते हैं। इनमें से यदि किसी की मृत्यु हो जाय या कोई त्यागपत्र दे दे तो रिक्त स्थान की पूर्ति अखाड़े के नागा अतीतों की एक विशेष आयोजित सभा द्वारा की जाती है।

अखाड़ों की संपत्ति की देखभाल व्यवस्थापिका समिति के कुछ पंचों द्वारा होती है। वर्ष में कार्यकारिणी समिति की बैठक एक बार अवश्य होती है। उसमें प्रत्येक साधु एवं महांतादि के कर्तव्याकर्तव्य पर विचार किया जाता है। महांत अखाड़े की संपत्ति का स्वामी होता है। उसे अखाड़े के मंदिर आदि की पूजा व्यवस्था करनी पड़ती है। परंपरा की रक्षा करना भी उसी का काम है। सांप्रदायिक वेशभूषा आचार व्यवहार का उसे पूर्णतः पालन करना पड़ता है। न तो उसे उत्तराधिकारी चुनने का अधिकार होता है और न परंपरा के विरुद्ध आचरण करने का। साधुओं को नागा बनाने का कार्य महांत ही करता है। उसी को शिष्य बनाने का अधिकार होता है। महांत आय व्यय का पूरा लेखा पंचों को देता रहता है और महांती से हट जाने पर सामान्य सदस्य मात्र रह जाता है।

गोलकी—अखाड़ों की संपत्ति के आय व्यय का हिसाब गोलकी रखता है। इसका निर्वाचन तीन वर्ष के लिये किया जाता है। सामान्य व्यय के लिये यह १००) तक अपने पास रख सकता है। गोलकी के सामने ही एक पुजारी दूसरे पुजारी को कार्यभार सौंपता है। बदचलनी पर गोलकी बीच में ही पदच्युत हो सकता है।

अखाड़ों की सामान्य व्यवस्था प्रायः उपर्युक्त रीति से ही होती है। मठों में सैकड़ों साधु नित्यप्रति भोजन करते हैं। उनके रहने की व्यवस्था भी वहीं की जाती है। प्रत्येक मठ के साथ एक मंदिर भी होता है, जिसमें सांप्रदायिक पूजा पद्धति के अनुसार भगवान् की मूर्ति की आराधना भी होती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इन अखाड़ों का हमारे धार्मिक संप्रदायों में एक अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान है। अत्याचारियों का दमन करके उन्होंने हिंदू धर्म एवं जाति का बड़ा उपकार किया है। लगभग तीन सौ वर्षों से ये अखाड़े हिंदू धर्म और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिंदू जाति की अनवरत तथा अपूर्व सेवा करते चले आ रहे हैं, इसमें कोई संदेह नहीं है। अनी अखाड़ों के संगठन तथा प्रबंध में समस्त वैष्णव संप्रदायों ने योग दिया था, जिसके कारण उनके अस्तित्व की ही रक्षा नहीं हुई, वरन् उनकी सामूहिक उन्नति भी हुई। इन अनी अखाड़ों ने वैष्णवों के सैनिक और धार्मिक केंद्रों के रूप में महत्व-पूर्ण क,र्य किया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आई पंथ का आई-उग्रप्रकाश

शिवसिंह चोयल

भारत के निवासी विभिन्न जातियों और संप्रदायों में बँटे हुए हैं। इस देश में कई संप्रदायों के प्रमुख स्थान हैं जहाँ बड़े बड़े भवन और मंदिर बने हुए हैं। आई संप्रदाय भारत में अपनी अनेक विशेषताओं के फलस्वरूप एक खास जाति (सीरवी) का संप्रदाय ही न होकर कई जातियों द्वारा अपनाया गया शक्ति संप्रदाय है। इस संप्रदाय को माननेवालों में अधिकांश सीरवी लोग हैं जिनकी आबादी राजस्थान जोधपुर क्षेत्र में पाली और जोधपुर जिलों में सबसे अधिक है। कुछ मात्रा में उदयपुर जिले में भी आई पंथी सीरवियों के घर बताए जाते हैं। मारवाड़ के अतिरिक्त मध्यभारत में भी सीरवियों की संख्या अधिक है। आई पंथ का मुख्य देवस्थान बढ़ेर बिलाड़ा (जोधपुर जिला) है जहाँ आईजी का प्राचीन मंदिर है और उनके अधिष्ठाता पुजारी दीवान साहब के बड़े सुंदर भवन बने हुए हैं। बिलाड़ा बढ़ेर का प्राचीन इतिहास पूर्ण रूप से अभी तक नहीं लिखा गया है। इस संप्रदाय के संबंध में 'आई-आनंद-विलास' 'आईचरित्र' और 'आई-उग्रप्रकाश' आदि राजस्थानी भाषा के पद्यात्मक ग्रंथ भिन्न भिन्न समय में भिन्न भिन्न कवियों द्वारा रचे गए थे। इनमें से 'आई-आनंदप्रकाश' और 'आई-उग्रप्रकाश' ही देखने में आए हैं। शेष आईचरित्र जो भारत के प्रथम राष्ट्रीय कवि दुर्शाजी आढ़ा पाँचेटियावाले के वंशज खुमानसिंह आढ़ा द्वारा रचा गया था, उसकी हस्तलिखित प्रति इन वर्षों में देखने में नहीं आई है। प्रथम ग्रंथ आई आनंदविलास को कुछ वर्षों पूर्व सीरवी नवयुवक मंडल, बिलाड़ा ने प्रकाशित कर दिया था आई-उग्रप्रकाश अभी तक अप्रकाशित अवस्था में ही पाई गई है। अग्रलिखित पंक्तियों में आई-उग्रप्रकाश के विषय में कुछ जानकारी देने का प्रयास किया जा रहा है —

आई-उग्रप्रकाश राजस्थानी का पद्यात्मक ग्रंथ है। इसके रचयिता पुष्करण जाति के ताराचंद जी व्यास थे जो आईजी के दीवान साहब बढ़ेर बिलाड़ा के कामदार (मुख्य कार्यकर्ता) थे। इस ग्रंथ में नवदुर्गावतार भगवती आई माता अथवा जीजी बाई के सविस्तर वर्णन के साथ ही आई संप्रदाय का भी संक्षिप्त इतिहास लिखा गया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ग्रंथ का आरंभ कवि ने गणेश वंदना से इस प्रकार किया है —

दोहा

श्री गुरु नाथ गणेश हर, गिरजा गिरा मुकुंद।
आई उग्र प्रकाश हित, ता पद वंदित चंद॥

छप्पय

श्री गिरजा सुत सुभग, सुखद गणनाथ सहायौ।
एक दंत गज वदन सुमन, मुनि जन मन भायौ॥
मेधा भवन महंत चतुर, भुज अंकुश धारिया।
फरसी कलस त्रिसूल भाल, शशि जय कारिया॥
सिंदूर लसत तन चंद पै, लंब उदर आभा दिये॥
आई उग्र प्रकाश हित, चंद व्यास वंदन किये॥

दोहा

मन वचन कर्म चित बुद्धि बल, ब्रह्म एक उर धार।
आई उग्र प्रकाश गुन, रचित चंद जयकार॥
ज्योति रूप विख्यात जस, त्रिभुवन वेद पुरान।
ताकि प्रभुता को लखे, भव जंतु तुच्छ ग्यान॥

सोरठा

सकल नंद स्वरूप, ज्योति प्रकाश प्रसिद्धता।
अरचित देव अनूप, माया त्रिभुवन मोहिनी॥
सकल तत्त्व को सार, या सिद्धा प्रकृति परा।
वेद जन निव्रत धार, हरिहर विधि इत्यादि भय॥
आदि निगम ओऊंकार, ज्योति रूप त्रिगुणता जय॥
निराकार आकार, गुण तिस निरवाण पद।
गुरु बिना ग्यान न पाय, गुरु बिना मोक्ष न पाइये।
वाहि ब्रह्म गुण गया, स्वामी पद सिर नमिये॥

दोहा

श्री पद कुंज प्रभाव गुन, सकल तत्व को सार।
आई उग्र प्रकाश का, रचित चंद जयकार॥
आगम उक्त अंतरस, धरम ध्यान शुभ काम।
आई उग्र प्रकाश को, धरयो ग्रंथ को नाम॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसके पश्चात् कवि ताराचंद ने बिलाड़ा नगर का बीलपुर के नाम से वर्णन किया है।

दोहा

ज्योति रूप जगदीश्वरी, आई मात कहात।
नगर बीलपुर आनंद किये, विलसे जन सुख सात॥

छप्पय

पावन नीर प्रसिद्ध, बाँण गंगा बल लायौ।
देव खात उप उवक, प्रकट दरसन दिखवायौ॥
जज्ञारंभ रचाय, सकल सुर मुनिजन आये।
अड़सठ तीरठ उग्र सिद्ध, साधक सुख पाये॥
बलराय अंब आई इते, ब्रह्म रूप बरदायिनी।
सुर सरित जोत जाग्रत सदा, व्यास पथ मनभायिनी॥
बिलाड़े यज्ञ काज, बाँण गंगा नृप लाए।
तीरथ सकल पयोध, देवगण मुनिजन आए॥
वाहनी होम बनाय, प्रकट हुत भूख अति ज्वाला।
निगम उक्त आहूति, मंत्र द्विज करे जय माला॥
बल प्रबल भूप विख्यात जग, दान अधिक व्रतदायने।
किय क्रिया त्रिलोकीनाथ, प्रभू वामन रूप स्वभायने॥
पूरब दिस शिवलिंग, अष्ट भैरव हणमंता।
दक्षिण दिस गणराज, योगणी चौसठ चहंता॥
पच्छिम वीर विशाल, देवगण समूह जानौ।
उत्तर उदधि त्रिशक्ति, धरम गंधर्व पिछानौ॥
अध उरध नवग्रह, थापियत गंगा यमुना सरस्वती।
बिच ब्रह्म यज्ञ आहूत, भूख ज्वाला उत्पति॥

बिलाड़े का वर्णन करके कवि ने आई माता के मंदिर (बढेर) के तत्कालीन दीवान शिवदान सिंह जी के विषय में कुछ दोहे लिखे हैं—

दोहा सोरठा

गंगा बाण कहाय, नाम थप्यौ बल राजसी।
देवी पुनि बलराय, मंदिर ताहि प्रचंड रचि॥
सासन ले शिवदान, हुकम पाय जगदंब को।
नाहर नेहर निदान, ग्रंथ रचना आरंभ किया॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भैरव अस्ट प्रकार, मघवादिक सुर सिद्ध मुनि।
चंदन मत व्रत धार, आचार जगत सबन कू॥
गादी चीर सुभाष, ज्योति स्वरूप प्रकाश तव।
'आई उग्र प्रकाश', पुस्तक दरसन हुक्म तै॥
ग्रंथ रचियों कवि व्यास, सुन बहुभेद प्रसंग धुन।
आई आनंद विलास, कह्यो भवानी दास गुन॥
आगम उक्त सुनाय, ताकें भेद प्रभावतें।
चंद्र रच्यौ चितलाय, देवीं विचार विध॥
धरयौ ग्रंथ को नाम, आई उग्र प्रकाश गुन।
फले मनोरथ काम, क्रिपा करि शिवदानसिंह॥

छप्पय

जाहर जंबू द्वीप खंड, तिह भरथ कहावै।
देश सिरोमणि देख, मुरधरा सहुमन मन भावै॥
नगर सिरे योधाण, महापुर जगत सुजानें।
भूपा मुकुट मंहत मान, नृप सुजस प्रमानें॥
तिह निकट बीलपुर, अम्बयेत गादीधर शिवदान है।
दिवाण भाण कुल उद्यत, भौगुन गहिक सनमान हैं॥
आई मात अखण्ड जोत, तित आप विराजें।
ताहि क्रिपा अनुसार, धरे अवतार सुकाजें॥
वर दियों अंब जन जानकें, जोत पात गादी दई।
इह परम धरम सत सील, लिय वचन सिद्ध आग्या भई॥
तिह गादी शिवदान ग्यान, आलय गुन ग्राही।
लाल नंद लज गेह, अम्ब सेवा व्रत साहीं॥
पर ब्रह्म जोत अंतर धरहिं, पद निरवांण प्रमाण किय।
ईष्टाधिकार आनंदयुत, ध्यान धरत द्विज चंद हिय॥

कवि ने अपने पूर्वज व्यास भवानीदास जी का अनुसरण कर आई पंथ की विशेषताओं का और तत्कालीन दीवाण शिवदान सिंह जी वढ़ेर बिलाड़ा का यशोगान किया है। देवी जीजी (बाद में आई माता या आईजी) के विषय में वर्णन करने के साथ ही दीवान गोविंद जी से लेकर तत्कालीन दीवान तक का संक्षिप्त इतिवृत कविता में लिखा है। पुरुष और स्त्री के कर्तव्यपालन की ओर भी कवि ने प्रकाश डाला है। इतना ही नहीं प्रसिद्ध दानी भक्त राजा हरिश्चंद्र और उसकी पत्नी तारा आदि के उदाहरण प्रस्तुत कर मानवता के सच्चे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गुण बतलाए हैं। आई पंथी लोगों के लिये अहिंसा का पालन आवश्यक कर्तव्य माना गया है। आई पंथ शाक्त मत की एक शाखा है।

कहते हैं कि डाबी गोत्र का क्षत्रिय बीका के घर जीजी देवी (आई माता) का अवतार हुआ था। बाल्यावस्था में ही जीजी की माता स्वर्ग सिधार गई थी। जीजी बड़ी देवी भक्त तथा अति रूपवती बालिका थी। बीका अंबा माता का बड़ा भक्त था। उसकी भक्ति से प्रसन्न होकर देवी ने उसके घर कन्या के रूप में अवतार लेने का वरदान दिया था। आई उग्र प्रकाश में लिखा है—

दूहा सोरठा

विध जुत सेव विधान, करी पद पूजा ध्यान किय।
अम्ब कृपा उनमान, बीक रिष पे अति घणी॥

छप्पय

रूप अनूप प्रकाश, अम्ब आई दरसायो।
दियौ दरस महामहाय, बीक रिष अति सुख पायौ॥
बीस भुजा लिय सस्त्र, अभयवर लीने आई।
अद्भुत प्रभा अनंत, किरण रोज प्रभुताई॥
वर देत भई बीका प्रतै, मांग मांग फल अधिक फल।
तू सदा सेव उत्तम कर्पे, ताहित संकट न राख जन॥

दूहा

कर अंगुली प्रनाम जुत, बीकं सीस नमाय।
कही दरस तब चाहना, देत रहो जग माय॥

छप्पय

अहं प्रसन्न अमोघ लहूँ अवतार गेह तब।
तोहि तिया हमु मात पिता तुम कहो सदा भव॥
कन्या हुए कर रहूँ संक मति लाव कदाई।
प्रभुता मोहि प्रन जगत जगत को जान कहाई॥
मैं भई अनुग्रह तो हिये भक्ति भली विध कीजिये।
पूरब प्रसाद इत आगमन आदि पंथ सुन लीजिये॥
बीक प्रतै वर दियौ सिद्ध बाचा सरसाई।
कन्या रूप कहाय लिये प्रछन प्रभुताई॥
रूप अनंत, स्वरूप देव सिसुता जिम दरसें।
रंभा सोतन भास कोन उपमा पद परसें॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाजुल जोत जाग्रत सदा, जवात जनेता जोगणी।
हित भक्त बीक गृह अवतरो असुरां घणा अरोगणी॥

दोहा

सिंध थटे मुलतान सूं, रोड़ी भरवर राम।
गूजर धरा सोरठा लग, दर से दिखण आय॥ १॥
मांड़व घर मध्र आवणों, भयो अम्बा अवतार।
नद जल सर तरु सघन बहु, बैठे कृपा सार॥ २॥
जग जांणे बीका तणी, कन्या रूप अपार।
आदि रूप आदेश्वरी, सदा भक्त जयकार॥ ३॥
रूप देख चित्त बसत सवे, हैं कोई देव चरित्र।
मानव कला न जानियो, परमा परम पवित्र॥ ४॥
को जाने करतार कीं, माया जोति प्रकास हित।
अगम निगम बिध उच्चरे, अभय अखंडित॥ ५॥
धूल न भेद प्रकाशियो, रिष सेवा कृत साध।
गुप्त पंथ जीजी तणे, साधन जोग समाध॥ ६॥
त्रिविध रूप दरसाय दिन, बाल जवानी वृद्ध।
लखै न को व्यवहार जग, देत नवे निध सिद्ध॥ ७॥
रुप कला कन्या तणी, देख डरे सुर सेस।
मांड़व घर असुंराण घण, गोरी साह जवनेस॥ ८॥
पातसाह गोरी तपे, भुज बल वीर अपार।
गज तुरंज जुध स्वारथी, हुक्म लाख असवार॥ ९॥
बीका सुता स्वरूप अति, सुणियों साह सुजांण।
अपछर तनत अवतार इह, भरे पदमणी पांण॥ १०॥
मात लोक सुर लोक मध, पुनि पाताल मंजार।
देखि नहीं काने सुणी, इन समान कोई नार॥ ११॥

कहते हैं कि जीजी की सुंदरता पर माँडू (मालवा) का तत्कालीन यवन बादशाह गोरी मुहम्मदशाह आसक्त हो गया था। उसने जीजी के साथ विवाह करने की ठानी थी। जिस पर चँवरी में जीजी ने सिंहनी का रूप धारण कर उसको अपना अलौकिक चमत्कार दिखाया था। देवी के चमत्कार से प्रभावित हो कर मुहम्मदशाह ने क्षमा याचना की और उसका भक्त बन गया था। इस घटना को व्यास तारा चंद ने इस प्रकार वर्णन किया है—

इह वानी सुन पात साह, हरषौ मन हुलसाय।
भेजी सात सहेलियाँ, देखन कूँ हित लाय॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पड़दायत कूँ साह कहै, ताहि तभी चिरताय।
हुक्म प्रमाणे चेरियाँ, चढ़ि चक डौल चलाय॥ १२॥
माँडव था दस कोस जिन, अंबापुर सुभ ग्राम।
आई आप विराजिया, सकल रूप की धाम॥ १३॥
द्वादस बरस प्रमाण वय, सुंदर तन मृदु बैन।
परम रूप कौ लख सके, उग्र तेज कज नैन। १४॥

छप्पय

चढ़ी सिंघ भवानी प्रवल होय।
उत्कृष्ट क्रोध लोचन भुज बीस रक्त पाट लिय त्रिसूल।
पतसाह देख भ्रम पड़्यौ मुरछा तन लपटी मृत्यु जेम।
द्रिग सुधा दीठ जगदंब तेम॥

दोहा

तू जगदंबा जोगणी, ब्रह्माणी वरदाय।
मैं अग्यानीं मूढ़मति, निज जन करो सहाय॥ १॥
निज्या धरम सहु देस मैं, करयौ प्रगट सुलतान।
संत सिषा बहु साचवैं, बाचे पुरान कुरान॥ २॥
दोहु मग समतुल गिने, दुविधा रहै न कोई।
ग्यान ध्यान धीरज लिए, पायँ लगत सब कोई॥ ३॥
गौरी बड़ सुलतान पे, कृपा अंबा अणपार।
आई पंथ उद्धार जन, सहु जाने संसार॥ ४॥

उपर्युक्त पद्यानुसार जीजी ने गोरी मुहम्मदशाह को चमत्कार दिखाकर तथा उसको शाक्त मतावलंबी बनाया और तब क्रम से १०८ वर्ष तक मालवा और गुजरात की ओर रहकर तथा भारत के पंजाब और काश्मीर आदि प्रदेशों की यात्रा करने के पश्चात् मारवाड़ की ओर आने का विचार किया। देवी जीजी बहुत से हस्तलिखित ग्रंथों तथा अन्य आवश्यक सामान को एक पोठिया (सामान लादने के काम आने वाला बैल) पर लादकर अपने पिता बीका डाबी के साथ मेवाड़ होती हुई मारवाड़ की ओर आई। मेवाड़ से मारवाड़ आने का कवि ने इस प्रकार वर्णन किया है—

दोहा

बरस एक सौ आठ, मालवा घर रहाय।
दिखण दिस थिरता करी, बहुजन उद्धारे माय॥ १॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मुरधर दिस चित अंबधर, बील नगर निज धाम।
मग मेवाड़ पधारणो, संत सुधारण काम ॥ २ ॥
रहें मास मेवाड़ षट, गुप्त सिद्धता धार।
बीक संग लीनो सदा, आड़ावले थिर सार ॥ ३ ॥
गिर प्रचंड की तलहटी, डायलाणे सुभ थान।
देवी पुरी निज जानि के, जीजी बड़ प्रगटान ॥ ४ ॥

छप्पय

जीजी बट दिखनाम, सिंभू तरु सुखद सुहायो।
सुरगण सिद्ध सुसाध बीर बावन जुत छायो ॥
चौसट्ट जोगण रमें जमें, इंद्रादिक जागे।
बैठे छांही तिकाह भीव दुष्कृत भ्रम भागे ॥
इण विध अखंड बट अंब कीय दरसण लम।
पूजियाँ महाफल होय जन आई मुख उच्चार इम ॥

दोहा

इण विध बड़ उद्धार किय, हरे कष्ट अति भार।
अब पधारे बीलपुर, प्रगट लखें संसार ॥

सोरठा

बिलाड़े बलिराय, गंगा बाण सुहावणी।
आई तन मन भाय, जान्यो सुभपुर अंत में ॥ १ ॥
सरिता सुभ वहंत, अथग नीर आभा दिये।
पाद पस दल अनंत, देखे द्रिग थिरता भई ॥ २ ॥

मेवाड़ में छह मास पर्यंत रहने के पश्चात् देवी जीजी ने गोड़वाड़ क्षेत्र के डायलाणें नामक ग्राम में हलों को बड (वट) वृक्ष के रूप में बदलकर अपनी योग विद्या का परचा (चमत्कार) दिया। पाली जिले के उक्त डायलाणा नामक ग्राम में उक्त जीजी बड़ अभी तक विद्यमान है। डायलाणा ग्राम भूतपूर्व मेवाड़ राज्य द्वारा 'आई माता' को भेंट किया गया था।

मेवाड़ से मारवाड़ में बिलाड़ा आने तथा यहाँ पर उस समय के अधिपति का नाम तथा आईजी का यहाँ के तत्कालीन जागीरदार भारमल जी के प्रधान कार्यकर्ता (कामदार) जाखों जी के पुत्र माधोजी (माधव जी) के बारे में सच्ची सूचना देना आदि बातों का कवि ने इस प्रकार वर्णन किया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वंशावली

दोहा

कुँवर भारमल कर कृपा, जाणा प्रते बुलाय।
दियो प्रधानौ दिल खुशीं, सचिव मंत्र हित लाय॥
राज काज बहु कुरब दें, मुद्दे प्रधानो दिद्ध।
भारमल भल भाव जुत, जाणा प्रते प्रसिद्ध॥
राजस भाली नै सुजस, नगर बील निज राज।
भारमल के सचिव भणि, सहु कृत राज सुकाज॥
कमध कुलो रवि वंस में, धूहड़ राय सधीर।
धूहड़ रं चंडेस भो, वाहि चंड रन वीर।
ताहि अजैसीं सुत भयो, वापल ता सुत बंग।
बंग सुतन बाधों भयो, ताके धारड़ अंग॥
धारड़ सुत वस्तों भणो, बस्ता सुन जाणेस।
जाणा सुत माधो कहे, ता गोयंद कहेस॥
तिण वंसन में जाणसीं, भयो अधिक प्रताप।
राजकुली राठोड़ में, जाकी दस दिस ताप॥
तिण जाना के दीह सुत, माधव कहूँ न दीठ।
आपस मांहि विरुद्ध हुय, चल्यो उठ अकुलाय॥
प्रात भयो भई सोध सुत माधव कहूँ न दीठ।
दूत दिये तेड़ाय बहु, कोउ न लगे सहीठ॥
सहु पच पच के चुप रहे, कहूँ न लगे पग हाथ।
मात पिता अति शोक में, अवरन जाके साथ।
माधव गयो जितरामपुर, राय निकट रह वास।
बालक कोमल बुद्धि लख, राव रखियों निज पास॥
दें उमराव मुरातबों, अश्व सुभट गाम।
दौड़ायत अरिगन सदै, गए अपने थे थाम॥
कमध बंस राठोड़ को, तेज प्रताप अपार।
रीझे राव कृपालु हुय, दियो वधारो सार॥
पितामात इत बहु भुरे, पुत्र मोह के काज।
सुत बिन उदास भीत भ्रम, निस दिन रुदन आवाज॥
ताहि समै निज भक्त हित, आवन भयो जगमात।
पूर्ण दास प्रभाव तैं, आई आय प्रभात॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संवत पनरे से बरस, इकवीसें इत आय।
भादव सुदि दुतिया तिथि, वार सनिसर भाय॥
प्रात समै आवन भयो, रिष बीका लें साथ।
वृद्ध रूप पुनि पोठ इक, लिये त्रिसुल गिज हाथ॥
जय जय शब्द पुकार जिय, सुर नर हरष कराय।
अंबा आई बीलपुर, नीब निकट बैठाय॥

छंद

घट पात्र घाट कुटिया बनाय। रिष बीका करें सेवा सुभाय।
बड़हेर (बढ़ेर) नाम दीध। कर आप अखंडित जोति कीद्ध॥

जिस समय (अर्थात् वि० संवत् १५२१) के भादवा सुदी २ द्वितीय शनिवार के दिन आई माता अपने पिता को साथ लेकर एक पाठिया सहित वृद्धा का रूप बनाकर बिलाड़ा में आई उस समय बिलाड़ा राय जोधाजी के पुत्र भारमल जी का राज्य था। जाणोजी जो उन्हीं के निकट संबंधी थे, भारमलजी के कामदार थे। जाणोजी राठौड़ के माधव नाम का एक मात्र लाड़ला पुत्र था। किसी कारण वश अपने पिता से रुष्ट होकर माधव घर से निकल कर चलता बना और घूमता घामता मालवा के तत्कालीन रामपुरा राज्य के राजवी के दरबार में जा पहुँचा। वहाँ पर उसकी योग्यता से प्रसन्न होकर माधव को जागीर प्रदान की और अपना उमराव भी बनाया। इधर जाणो जी और उनकी पत्नी अपने एक मात्र पुत्र के बिना चिंतित थे और उन्होंने उसकी खोज कराने के लिये आदमी इधर उधर भेजे। जब आई माता बिलाड़े आई और जाणोजी की पोल में रहने लगी तो बातों ही बात में माधव के गुम हो जाने की बात सुनी। इस पर देवी ने जाणोजी और उसकी पत्नी को धैर्य प्रदान कर कुछ ही दिनों में उसके बिलाड़े लौट आने की बात कही जिससे उस दम्पति को कुछ संतोष हुआ। अंत में देवी के बचन के अनुसार जाणोजी का पुत्र माधव रामपुरे से पीपाड आई बरात के साथ बिलाड़े पुनः लौट आया। बहुत दिनों से बिछुड़े हुऐ पुत्र को पाकर जाणोजी और उनकी धर्म पत्नी बहुत प्रसन्न हुए। उस दिन से आई माता की मान्यता बढ़ी और लोग उसे एक चमत्कारी देवी मानकर उसकी आज्ञानुसार चलने लगे तथा उनकी बातों पर विश्वास करने लगे। जाणोजी तथा उसकी पत्नी और माधव जी सभी जन आई जी की सेवा चाकरी में उपस्थित रहने लगे। आईजी अखंडि ज्योति स्थापित कर ईश्वर आराधना में लीन रहने लगी। आई-उग्रप्रकाश में कवि ने उपर्युक्त बातों का संक्षिप्त रूप में वर्णन किया है—

जाणोजी द्वारा आईजी से निवेदन —

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

छप्पय

माधव मेरो पुत्र रुष्ट निकस्यौ गृह बाहिर।
बहु दिन बीतैं ताहि कहूँ पायौ नही जाहिर॥
× × × ×
अब बिना पुत्र को जीय कोह जगदंबा जानिये।
तव कृपा अनुग्रह होय तब अंगज हमु ढिग आनि॥

इस पर देवी आई माता अथवा जीजी कहती है—

पुत्र मिल तत्काल, जाणा घर धीरज तन में।
वांछित फल हुए अधिक सदा सुख संपत मन में।
जाण तू निज भक्त पुत्र अब माधव आवे।
भई कृपा तव वंस राज पदवी इम पावे।
संतोष राख द्रिढ़ता लिये वर अमोघ मेरो भयो।
जग वंदे तोहि कुल चंड सुत दुख दालिद्र तेरो गयो॥

दूहा

बिलाड़े बलिराय के, आई बिराजे आय।
जोधाणौ जोधो नृप पति, कमधज राज कराय॥ १॥
कूंभो कुंभल मेर जिन, जाणौं आसज काज।
दिल्ली असपति साह मिल, सहु दुनिया सिरताज॥ २॥
मोकल सुत महाराण रज, कुंभ करण दातार।
शासण दियण गजां तुरी, अेकलिंग अवतार॥ ३॥
इष्ट महा इकलिंग प्रभ, धीरज ध्यान धरंत।
पतसाह उरसाल घण, राजस करत अनंत॥ ४॥
उभय कर लोक भणे, उदैसिंघ रायमल्ल।
महावीर जुध स्वारथी, जगत कहे सहु भल्ल॥ ५॥

बिलाड़े आने के पूर्व देवी जीजी अथवा आईजो से मेवाड़ का राजकुमार रायमल अपने पिता द्वारा निर्वासित होकर सोजत में जाकर मिला था। आईजी के वरदान से रायमल को मेवाड़ का राज्य शीघ्र ही मिल गया था। जिसके कारण रायमल भी आईजी का भक्त बन गया था और उसने गोड़वाड़ में डायलाणा ग्राम भेट किया। माधव जी रामपुरे से बिलाड़ा लौटे इस बात का वर्णन कवि ने इस प्रकार किया है—

दूहा

जांणा अरज बहुरे करी, आई सु अकुलाय।
माधव अंगज मिलन की, अति अभिलाषा कराय॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तेरो पुत्र प्रधान कर, आवहिगो अब पेथ।
मन वंछित सहु कामना, सफल होय जग जेथ॥
रामपुरे रघु वेश्य इक, नगर सेठ पद ताहि।
ताके पुत्र प्रतापसी, पुर, पीपाड़ विवाहि॥
माधव संग बरात के, भेजियौ राव अभीत।
गज तुरंग रथ सुभट लिय, किये प्रयान नचीत॥
मुरधर दिस आवन भयो, अब कृपा अनुसार।
डेरा पुरा सेहवाज किय, जित पितु भगनी सार॥

छप्पय

भ्रातज भूवा मिलाप, भयो लोचन भर आए।
बिछड़ियाँ बहु दिन भए अब दरसण पाए॥
खिप्र लियो पुर बील मात पितु चरने लागे।
परमानंद प्रकास सोक चिंता दुःख भागे॥
तत्काल लगे आई सू पदमन वंछित आसा फलीं।
जबसें सामध पुनि मात मिल अंबा सहु पूरी रली॥

दूहा

अब दियो वर माधव पे, तूनिज पंथ प्रधान।
धरम धुरीण प्रसिद्ध जग, वचन अचल द्रिढ़ ग्यान॥
आग्या ले जगदंब की, साह संग पीपाड़।
पाणि ग्रहण कराय के, गए देस मेवाड़।
रामपुरा के राघ बहु, भयो प्रसन्न अपार।
आदि सगत आदि कथा, माधव कही बिस्तार॥
सीखकरी मधराव ये दियो बिदा सिरपाव।
गज तुरंग सुखपाल पुनि, आदर दे अति भाव॥

छंद पद्धरी

कर सीख चढ़े माधो कुमार।
सुभ सुकन भए अंब अनुसार॥
चोगणी पूठ संमुख अथंक।
कुलतानव जोबक हुय असंक॥
खुद गोद लिए अलवा पूजाय।
नवरंग बसन भूषण पेनाय॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तिय जुथ सबद मंगल कहात।
दुंदुभी नगारे बजाते जात॥
सिर तिलक कुँवारी कन्या कन्यकाय।
जल कुंभ सीस पूरण सुहाय॥
दाहिनी देब बोली सुखेस।
उत्तम अनंत साँवण बिसेस॥
उछरंग कर माधव प्रयान।
पुर बिला आय जित अंब थान॥
पितु मात अंब पाए लगाय।
कर धूप ध्यान पद उदक पाय॥
बिनती करन लगे बिसेख।
मन मुदित भए जगदंब देख॥
निस दिवा सुध चित्त करे सेव।
गदापि पुहुप नई वेद भेव॥
सिद्ध साध नार नर मिलत सोय।
निज पंथ जपे जागरण होय॥
गुरु हुकम सीस दुविधा नहि कोय।
भ्रम भ्रांत साध मग देत खोय॥
निजार धरम संचियार साध।
हिल जावें पाट आई अराध॥
इन राह चलत माधव सुजाण।
सत् सील साधना करत प्राण॥

जाणाजी से मिलकर माधव फिर रावपुरा के राव के पास गया। वहाँ राव ने उसका खूब आदर सत्कार किया और जागीर प्रदान की। तत्पश्चात् पुनः वह अपने माता पिता के पास बिलाड़ा चला आया। देवी आई माता के आज्ञानुसार वह भक्ति की साधना में लग गया। फिर देवी की आज्ञा से ही माधव ने अपना पहला विवाह सीरवी जाति में पँवार गोत्र के हांबड़ बीलाजी की पुत्री सोढ़ी के साथ किया। इस बात का और सीरवी जाति की उन्नति का संक्षिप्त वर्णन कवि ने इस प्रकार किया है—

दूहा

पाणि ग्रहण पहला करयों, सोढ़ा साख पँवार।
सीरवियों सगपण करों, आई पम उच्चार॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

माधवो वाच

अंब हुकम सिर ऊपरे, कवण सीखी साख।
गोत बरण आश्रम कहाँ, अंबा मुख तें आख॥

आई उवाच

कुल उत्पति तोने कहूँ, सुण माधव चित धार।
विप्र आदि चारों बरण, रच धाता संसार॥
छत्री कुल में प्रगटना, धरा थंभ रनधीर।
यामें भेद न जानिये, जुद्ध स्वारथी बड़ वीर॥
सोपन गढ़ सिर कोप किय, अलावदीन सुलतांन।
रजपूतों साका किया, विरचों भयो राजाँण॥
भाज गया केता भिड़े, अमल कियो असुराँण।
छोड़ धरा जालोर दिस, मुरधर पसे जु आँण॥
सकटी जोते सात सौ, सरिता लूणी आय।
सीर करे हल साहियों, खेती अन्न निपजाय॥
बड़ साखाँ सोड़ह बड़े, सूर वीर दातार।
सीर कियो तब सीरवी, सहु दाखें संसार॥
असल जात रजपूत हैं, मैं समझाऊँ तोहि।
अंतर इनसें न करो, सक्त भक्त जे होई॥
सुन माधे संतोष किय, आग्या अंब प्रमान।
आई पंथ मिलाय के, सनमन किये सुथान॥
आदू खड़े सीरवी, कुल हांबड़ था धनवंत।
डोरो हाथ बँधायने, सोपिए कीनो संत॥
हांबड़ बीनो नग सुतन, बिभो विसेख वसाय।
सुत पोता इक कन्यका, सोढो नाम क़हाय॥
अपछरसी सोढी अवल, बरस एक दस बीत।
सगपण माधे सू कियो, अंबा हुक्म अभीत॥
लगन मुहूरत थापने, दसहु दोष निवार।
वेध लात अरु पात कह, पंडित देख विचार॥
परणें मधकर प्रेम सूं, राज सरंग अपार।
पिय त्यारी पावन सदा, इष्ट धरम आधार॥
सोढ़ी के सिर हस्त दिय, अब कहया सुत होय।
जग विख्यात प्रताप हुय, उग्र तेझ तन जोय॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पनरे सौ पच्चीस में, परणें मधकर राय।
तीस बरस प्रकास जग, गोयंद जन्म कहाय।।
भयो द्वादस बरस मैं, गोयंद परणें आय।
मूलेवी चहुवाण नख: हापा सुता सुजाण।।

आईजी की आज्ञा से माधवजी का विवाह सीरवी बीलाजी हामड़ की कन्या सोढी के साथ वि० सं० १५२५ में किया गया, जिसके गर्भ से गोयंददास नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। उसका भी विवाह आई माताजी की आज्ञा से सीरवी हापाजी मुलेवा की पुत्री के साथ हुआ। अस्सी वर्ष की आयु के उपरांत जाणोजी राठौड़ का देहांत हुआ। उस समय आई माताजी की आज्ञा से माधवदास जी ने 'हाल' नामक मृत्यु क्रिया संपन्न की। यह क्रिया आई पंथी डोरा बंद (चाहे किसी भी जाति का क्यों न हो) की मृत्यु होने पर दाह संस्कार के पूर्व करनी पड़ती है। गुड़ की लापसी बनाकर एक व्यक्ति जो मृतक का निकटवर्ती संबंधी हो शरीर से अंगरखी पृथक् कर आईजी बढेर (मंदिर) जाता है और वहाँ पाट (जहाँ घृत का दीपक जलाया जाता है) के समक्ष थाली रखकर 'हाल' का मंत्र अथवा जाप बोलकर लापसी भिखारी को या कुत्तों को डाल देता है। तत्पश्चात् दाह संस्कार किया जाता है। कवि ताराचंद जी ने आई-उम्रप्रकाश में 'हाल' का इस प्रकार वर्णन किया है—

छंद

घर बैठा जग दंबा आय मिला कृपा कीनी।
सहु कारज संसार पाय मोती गल लीनी।।
तज देहु चले निरदोष हुय ध्यान समाधि लगाय के।
पुर स्वर्ग पोहच कन अंबहित गये देव पद पायकें।।
जीव चले सत एक साथ संगत उर धारे।
धरम परम आचार जप रा शब्द उच्चारें।।
कर लापसी पंच धार पूर काँसे पधरावे।
बसन हित आन प्रथम गुरु ने पहरावें।।
इण पथ हाल विध सू करें आई जाप जपायने।
अब प्रते अरदास माधे कीनी मन रंजन।।
जाण सिद्धि सुरग राज पद अथ के भजन।
हाल करों हुलसाय जेम जम दूत न व्यापे।।
बिन क्रिया हाल गत नही मिलें प्रेतगति पावे सहि।
गुरुमुखो होय साधे क्रिया मात सुणे माधे कही।।
अंबा होय प्रसन्न हाल बहु विध।
सुभ दूज सनिवार भणे आसीस जु लीनी।।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भरे थाल नई वेद बसन आभूषण अरपे।
गाय भैंस हय नाजदान जल जें निज करपे।
कर दीन भल संचियार दिय साच सुचव्रत धारना।
निज तात हित माधे भय कभय जल पार उतारना॥
जाण रे जनतार कुमध्य माधव मन रंजन।
गादी बैठो गरज करे अरियाँ भय भंजन।
वाचा सिद्ध के कांणा कविया अधिकारी।
सुख संपत आगार ध्यान धारण व्रतधारी॥

जाणजी के बाद माधवदास अपने पिता का उत्तराधिकारी बना। कुछ वर्षों के पश्चात् माधव जी भी स्वर्ग सिधारे। उनके स्वर्ग सिधार जाने के पश्चात् वि० सं० १५५७ के माघ सुदी २ शनिवार के दिन आई माता ने गोयंददासजी को अपना दीवान (मुख्य पुजारी) घोषित किया तथा तिलक किया। जैसा कि लिखा है—

दूहा

म्हारे गादी पुत्र तू गोयंद सुण सुख पाय।
देवी रो दीवाण पद, दीनो तब चित्त लाय॥

इसके अतिरिक्त आई माता ने गोविंददासजी को गुरु की महिमा इस प्रकार बतलाई—

दूहा

गुरु कीजै गुण जाँणने, निरलोभी निरवाण।
जोग पंथ जाग्रत कला, परमारथ मग जाण॥
सिद्ध कला साधक लिये आत्म ग्यान विवेक।
ध्यान समाधि धारणा, लहु जाणे ब्रह्म अेक॥

छंद त्रिभंगी

गुन सकल सुग्याता मूरतधाता मंत्र सुदाता जन मोहीं
परब्रह्म परायण सिवनारायण जन मन भायण तरु छोंही॥
करपे जपे माला वाक विसाला सुधा प्रनाला सुखसाला।
रत पंकज लोचन अघ के मोचन तन में सोचन मतवाला॥

सिर भस्मी लगावे हरिगुण गावे धरम चलावे व्रतधारी।
त्यागी तिहि ममता जिय में सता इंद्रिय दम लाज बिसारी॥
परभूमि प्रवेश न लेन लेसा भगवे भेसा अनुरागी।
आत्मज विन्यासी ध्यान हुलासी लविलासी॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जप तप अति हांसी ब्रह्म विलासीं ध्यान निवासी सदा।
निरगुण निरवाँणी अनुभव वाणी सुविध पिछाड़ी दूर अदा॥

× × ×

सिर प्राण चढ़ावे ब्रह्म मिलावे त्रिकुटी आवे सिव सगती।
कुंडली ध्यावे उरग प्रभावे तड़ित जनावें तंतुकती॥
हित जोग आराधे समाधि साधे पंथ अगाधे सिद्ध करे।
इह जीवन मुक्ति आगम उक्ति रहनी जुक्ति प्रान धरे॥

गुरु और शिष्य तथा साधु महात्माओं के गुणों अथवा लक्षणों को बताकर आईजी ने दीवान गोविंददासजी को अपना उत्तराधिकारी घोषित कर समस्त डोरा-बंद सेवकों को उसकी आज्ञा का पूर्ण रूप से पालन करने को कहा। इसके अतिरिक्त आई माता ने 'दीवाण गोविंददासजी' को योग विद्या की भी बहुत सी बातें बताकर अंतर्धान होने का विचार किया। इसके लिये वे अपने निवास अथवा ध्यान करने की साल में पश्चिम की ओर मुँहकर घृत का दीपक जलाकर ईश्वर आराधना में बैठ गईं। अपने भक्तों ('बाँड़ेरु' या गत डोराबंद सेवकों) को अपना अंतिम उपदेश सुनाकर साल के किंवाड़ सात दिन तक नहीं खोलने को कहा। सात दिन के पश्चात् जब आई माता की साल (भजन करने की कोटड़ी) के किवाड़ खोले गए तो वहाँ केवल दीपक की ज्योति के ही दर्शन हुए। आई माता ने समाधि ले ली और अलोप हो गई। यह घटना वि० सं० १५६१ चैत्र सुदी २ शनिवार की है। आईजी ने अपने पंथ संबंधी जो जो आवश्यक बातें बताईं वे इस प्रकार हैं—

दोहा

गोयंद म्हारो रूप छैं, याको दरस कराय।
कणामूठ पूरहु कलस, हमु पूजा करे सुभाय॥ १॥
पावन रोटी प्रथम कृत सो इनका सो लाय।
तिको भोग मेरे लगे, साध सुनो सुख पाय॥ २॥
गोयंद मेरो पुत्र है, बहुरे शिष्य सुखान।
यामे मोमें भेद नहिं, जानहु साधु प्रमान॥ ३॥
या क्रिपा विध साध जन, फले मनोरथ काग।
जन्म जन्म के अध कटे, भजहुँ जोति अठ जाम॥ ४॥

छंद

गादी बैठे ताहि मोहिं समधड़ जिय जानो।
इनके वचन अमोघ सत्यकर हिरदे आनो॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपरदंभ अरु दुष्ट डहक क्रिया डहकावें।
ताकों संग न करु हु कदाचित भूल भरमावें॥
हूँ सदा सरबदा भक्त हित सावधान रष्य करन।
दिव निसा ध्यान इमु रूप धर ताहि कष्ट दुकृत हरन॥

दोहा

जिन जन साधु पिछान हित, चिंत्यों अंत बिचार।
रच्यो सूत्र को डोरड़ो, ग्रंथ एक दस धार॥ १॥
आई भक्त निजार धर्म, रात्रे सहनांण प्रसिद्ध।
गुरु मंत्रे सब राखड़ीं, ग्रंथ एक दस दिद्ध॥ २॥
दस अवतारे ग्रंथ दस, एकादस हनुमान।
धूप खेवन नरकर लसे, त्रिया तिय उनमान॥ ३॥
डोरों आई हुलस चित्त, दियो प्रथम गोयंद।
दाहिन कर नर बाँधजे, कठे त्रिया अमंद॥ ४॥

आईजी ने अंतर्धान (समाधिस्थ) होने के पूर्व भक्त जनों से गोयंद को उसका ही स्वरूप समझने, तथा कच्चे सूत का ग्यारह गाँठ का डोरा पुरुष के दाहिने हाथ पर और स्त्री के गले में बाँधने को कहा।

इतना ही नहीं आई जी ने अपने डोराबंद बाँडेरुओं से यह भी कहा कि गोयंद तथा इसके पश्चात् इसके वंशज दिवाण जैसी आज्ञा दें उसी का पालन करना किंतु उसका अनुकरण कभी मत करना, आई पंथी डोराबंद से भेद भाव कभी मत करना तथा झूठ मत बोलना, हिंसा कभी मत करना, कभी नशा नहीं करना आदि अनेक उपदेश दिए।

देवी आईजी पढ़ी लिखी थीं ऐसी लोगों की धारणा है क्योंकि देवी के समय की कई हस्तलिखित पंजाबी, बंगला और कश्मीरी आदि भाषाओं और लिपि में लिखित पुस्तकें बढ़ेर बिलाड़ा में अभी तक पाई जाती हैं।

आई माता के अंतर्धान होने तथा दीवाण पदवी देकर धार्मिक क्रियाएँ करने के आदेश का वर्णन आई-उग्रप्रकाश में विस्तार से लिखा गया है। कुछ अंश यहाँ दिया जा रहा है—

दूहा

संवत पनहरें सौ इगसठे, चेत मास सुद बीज।
वार सनिश्चर दुय घड़ी, चढ़ते दिन गिण लीज॥ १॥
तिण वेला आई भई, अंतरध्यान बिलीन।
जोत मई दुय जोगणीं, देवलोक गव कीन॥ २॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुस्तक झोली अरु छड़ी, अंचल चीर अनूप।
बहुर चरण रख मोजड़ी, गादी पर रहि सूंप ॥ ३ ॥
गोयंद भुज सिर भार हिय, गादीं पति कर लेहु।
पदवी दई दीवाण कह, सिसु किय कृपा सनेहु ॥ ४ ॥
साल मांहि गोयंद सहित, बैठे साध अहमंद।
वचन भयो कांसा करे, ध्यान कथे गुण फंद ॥ ५ ॥
या विध बीते सप्त दिन, दरसण अति अभिलाख।
द्वार खुलन जन हरख हुत, शीघ्र शीघ्र इह दाख ॥ ६ ॥

सोरठा

खोल कपाट कहाय, नभवाणी जगदंब किय।
गोयंद मन सुख पाय, निकट रहूँ तोरें सदा ॥ १ ॥
गादी निकट सुभाँत, सुधा अतर सुवासना।
पुह पनगंध समात, बात चलत मलयागिरी ॥ २ ॥
पुनि भरभ्कण भ्किणकार, भिमभिम नुपूर बाजत जिम।
अनहद के आकार, सून्य मांहि बाका बजें ॥ ३ ॥

व्यास ताराचंद जी ने आई-उग्रप्रकाश में देवी के अंर्तधान होने तक का वर्णन करने के बाद अंत में दीवान लखधीरजी से लेकर तत्कालीन दीवाण शिवदान सिंहजी की नामावली और दिवाण रोहितासजी का हाल लिखा है। पश्चिमी मारवाड़ (थली) में और गुजरात आदि स्थानों में जाकर दीवाण, रोहितास जी द्वारा 'आई मत' का प्रचार करना तथा तत्कालीन जोधपुर नरेश महाराजा उदयसिंह जी को परचा (चमत्कार दिखाना) आदि घटनाएँ विस्तृत रूप से लिखी हैं। बिलाड़ा वढेर के दीवान वंश में रोहितासजी बड़े चमत्कारी और वीर दीवान हुए हैं।

*

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मध्यकालीन वीरकाव्य और इतिहास

राजमल बोरा

हिंदी साहित्य के इतिहास में मध्यकालीन वीरकाव्यों के नायक प्रायः ऐतिहासिक पुरुष रहे हैं, अतः इस साहित्य का अध्ययन इतिहास के आलोक में किया जा सकता है। इसी दृष्टि से यह अध्ययन प्रस्तुत करने का प्रयत्न है।

भारतवर्ष के इतिहास का अवलोकन किया जाय तो यह ज्ञात होता है कि 'इतिहास ज्ञान' की ओर इस देश की जनता ने कम ध्यान दिया है। आज भी देश के व्यवस्थित इतिहास लेखन की आवश्यकता बनी हुई है। भारतवर्ष के लंबे समय तक पराधीन रहने के अनेक कारणों में एक बड़ा कारण यह भी है कि भारतवासी अपने पड़ोसियों के इतिहास को नहीं जानते थे। किसी राष्ट्र को यदि अन्य राष्ट्रों का नेतृत्व करना हो तो उसके लिये अन्य राष्ट्रों के इतिहास से परिचित होना आवश्यक है। ऐतिहासिक बोध के आधार पर ही कोई राष्ट्र अपनी चेतना का विस्तार अतीत में और वर्तमान समय में भी कर सकता है। भारतवर्ष की स्थिति तो यह है कि उसे अपने ही देश के व्यवस्थित इतिहास की जानकारी नहीं है। विदेशों के संबंध में कितना ज्ञान है, यह कहने की आवश्यकता नहीं है। यह आज की बात नहीं बल्कि उस समय की बात की ओर ध्यान आकर्षित करने का प्रयत्न किया जा रहा है, जिस काल के वीर काव्यों के संबंध में कुछ महत्वपूर्ण तथ्यों की ओर ध्यान आकर्षित करने का प्रयत्न इस निबंध में किया जा रहा है। इतिहास की ओर इस उपेक्षा के कारण ही हम आज अनेक ऐतिहासिक तथ्यों से अपरिचित रह गए हैं। गत एक हजार वर्षों का इतिहास भी भारतीयों द्वारा कम और विदेशियों द्वारा अधिक लिखा गया है। इसीलिये आज इतिहास के पुनर्लेखन की आवश्यकता बनी हुई है।

डाक्टर हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है—'वस्तुतः इस देश के इतिहास को ठीक आधुनिक अर्थ में कभी नहीं लिखा गया। बराबर ही ऐतिहासिक व्यक्ति को पौराणिक या काल्पनिक कथा नायक जैसा बना देने की प्रवृत्ति रही है। कुछ में दैवीशक्ति का आरोप करके पौराणिक बना दिया गया है—जैसे राम, बुद्ध, कृष्ण आदि और कुछ में काल्पनिक रोमांस का आरोप करके निजंधरी कथाओं का आश्रय बना दिया गया है— जैसे उदयन, विक्रमादित्य और हाल। जायसी के रतनसेन, रासो के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पृथ्वीराज में तथ्य और कल्पना का—फैक्ट्स और फिक्शन का—अद्भुत योग हुआ है। कर्मफल की अनिवार्यता में दुर्भाग्य और सौभाग्य की अद्भुत शक्ति में और मनुष्य के अपूर्व शक्तिभांडार होने में दृढ़ विश्वास ने इस देश के ऐतिहासिक तथ्यों को सदा काल्पनिक रंग में रँगा है। यही कारण है कि जब ऐतिहासिक व्यक्तियों का भी चरित्र लिखा जाने लगा, तब भी इतिहास का कार्य नहीं हुआ। अंत तक ये रचनाएँ काव्य ही बन सकीं, इतिहास नहीं।'[1] द्विवेदीजी के इस कथन को स्वीकार करते हुए भी अनेकों ऐसे काव्य ग्रंथ हिंदी में मिलते हैं जिनकी ऐतिहासिकता पर संदेह नहीं किया जा सकता। रासो ग्रंथों के लिये द्विवेदी जी का कथन बिल्कुल सत्य प्रतीत होता है। प्रेममार्गी कवि जायसी के पद्मावत के संबंध में एवं इसी प्रकार के अन्य काव्यों में भी ऐतिहासिक दृष्टिकोण का अभाव मिलता है। किंतु रीतिकाल में लिखे गए वीरकाव्यों में यह बात सर्वथा सत्य प्रतीत नहीं होती। रीतिकालीन वीरकाव्य रासो काव्यों की अपेक्षा इतिहास के अधिक निकट हैं। डाक्टर टीकम सिंह तोमर ने अपने ग्रंथ 'हिंदी वीर काव्य' में १६००-१८०० ई० के बीच लिखे गए हिंदी वीर काव्यों की ऐतिहासिकता पर विचार किया है। तोमरजी ने केशव, जटमल मतिराम, भूषण, मान, गोरेलाल, श्रीधर, सदानंद, सूदन, गुलाब, पद्माकर, एवं जोधराज द्वारा लिखे गए ऐतिहासिक नायकों से संबंधित वीरकाव्यों का अध्ययन प्रस्तुत करते हुए उन ग्रंथों की ऐतिहासिक प्रामाणिकता को स्वीकार किया है। जहाँ तक घटनाओं का संबंध एवं पात्रों का विवरण है, वह इतिहास के अनुकूल है, कुछ उदाहरण—

केशव का वीरसिंहदेव चरित

'केशव विरचित वीरसिंहदेव चरित की ऐतिहासिकता पर विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि उसमें वर्णित प्रायः सभी विवरण ऐतिहासिक हैं। डाक्टर बेनीप्रसाद जैसे इतिहास विशेषज्ञ का इस ग्रंथ को ऐतिहासिक दृष्टि से एकदम हेय एवं तुच्छ अतः त्याज्य मानना न्यायसंगत नहीं प्रतीत होता। सच बात तो यह है कि नीरक्षीर विवेक से कवित्व को इतिहास से पृथक् कर देने पर 'वीरसिंहदेव चरित' नवीन मौलिक एवं महत्वपूर्ण प्रचुर ऐतिहासिक सामग्री पाठकों के सामने रखता है, जिसका दिग्दर्शन अन्यत्र दुर्लभ प्रतीत होता है।'[2]

१. संक्षिप्त पृथ्वीराजरासो, सं० डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी एवं नामवरसिंह, पृ० १०।

२. हिंदी वीरकाव्य, डा० टीकमसिंह तोमर, पृ० १३०।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भूषण

'इस प्रकार भूषणकृत रचनाओं पर ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने के पश्चात् यह परिणाम निकलता है। कि उन्होंने अपने काव्य के लिये ऐतिहासिक घटनावली का ही आश्रय लिया है, उन्होंने मुक्तक रचना की है इसलिये घटनाओं के क्रम में व्यतिक्रम आ गया है.....भूषण ने घटनाओं की तिथियों का उल्लेख नहीं किया है, पर इतिहास की सहायता से उन घटनाओं का क्रमानुसार वर्णन करने से ऐतिहासिक ज्ञान के क्रमिक विकास की जानकारी हो जाती है।'[3]

लाल का छत्रप्रकाश

'ऐतिहासिक दृष्टि से विवेचन करने के उपरांत यह परिणाम निकलता है कि छत्रप्रकाश में केवल एक ही तिथि दी गई है, अन्यथा उसमें सन् संवतों का अभाव है। घटनाओं के रूप में यत्र तत्र व्यतिक्रम पाया जाता है। यद्यपि सभी घटनाओं की परीक्षा करने के लिये पर्याप्त सामग्री का अभाव है, तो भी जिन घटनाओं की परीक्षा की जा सकी है, उनमें से प्रायः सभी मूलरूप में इतिहासानुकूल है।'[4]

इसी तरह अन्य कवियों के संबंध में भी समझा जा सकता है, यह ठीक है कि ये काव्य ग्रंथ हैं और कवित्व गुणों से युक्त कल्पना का इनमें प्रचुर उपयोग है, घटनाएँ आगे पीछे हो गई हैं और घटनाओं का बार बार उल्लेख हो गया है किंतु ऐतिहासिकता उनमें है। रासो ग्रंथों की तरह इनकी ऐतिहासिकता के संबंध में मतभेद नहीं है। अतः ये काव्य संदिग्ध नहीं हैं।

हमारे यहाँ जब ऐतिहासिक खोज प्रारंभ हुई तो उसमें काव्य ग्रंथों को महत्वपूर्ण स्थान नहीं दिया गया और सब जगह से प्रमाणित तथ्यों को बाद में काव्य में खोजा गया। इसीलिये काव्य ग्रंथों के आधार पर इतिहास की खोज नहीं हुई। हाँ, इतिहास के आधार पर काव्य ग्रंथों को परखने का प्रयत्न किया गया। रासो काव्यों के संबंध में आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने अपने इतिहास ग्रंथ में लिखा है—'प्राकृत की रूढ़ियों से बहुत कुछ मुक्त भाषा के जो पुराने काव्य—जैसे, बीसलदेवरासो, पृथ्वीराजरासो आजकल मिलते हैं वे संदिग्ध हैं। इसी संदिग्ध सामग्री को लेकर थोड़ा बहुत विचार हो सकता है। उसी पर हमें संतोष करना पड़ता है।'' शुक्ल जी ने यह बात

३. वही, पृ० २३७।
४. वही, पृ० २८७।
५. हिंदी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचंद्र शुक्ल (नौवाँ संस्करण), पृ० २६।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऐतिहासिक आधार को लेकर ही कही है। प्रामाणिकता एवं अप्रामाणिकता का प्रश्न ऐतिहासिक ही है। और फिर रचना की प्रामाणिकता के साथ साथ रचना में ऐतिहासिक वृत्त हो तब तो उसकी प्रामाणिकता की ओर ध्यान जाना स्वाभाविक है। काव्य की परीक्षा का मापदंड इसी लिये और बातों के साथ साथ ऐतिहासिक भी हो गया। यह बात आदिकालीन वीरकाव्य के लिये जितनी उपयुक्त है, उतनी मध्यकालीन वीर काव्यों के लिये नहीं। किंतु मध्यकालीन वीरकाव्यों का अध्ययन भी ऐतिहासिक धरातल पर प्रस्तुत किया गया। यहाँ भी ऐतिहासिक दृष्टिकोण प्रमुख रहा अर्थात् काव्य की ऐतिहासिक प्रामाणिकता को परखते समय इतिहास के अन्य प्रमुख स्रोत महत्व-पूर्ण रहे और काव्य कम। इसी लिये थोड़ा भी संदेह हो जाने पर कृति को इतिहास के अनुकूल नहीं माना गया। भूषण की कृति को ही यदुनाथ सरकार ने इतिहास के लिये अनुपयुक्त कहा है।[६] डाक्टर बेनीप्रसाद ने वीरसिंहदेव चरित को ऐतिहासिक दृष्टि से हेय, तुच्छ एवं त्याज्य माना है[७] जब कि तथ्य इसके विपरीत है। डाक्टर टीकमसिंह तोमर ने वीरकाव्यों की ऐतिहासिकता की प्रामाणिकता पर विचार करते समय काव्यों में आए पात्रों का विभाजन दो रूपों में किया है। एक निश्चित पात्र और दूसरे अनिश्चित पात्र। यहाँ निश्चित पात्र वे हैं, जिनके नाम इतिहास ग्रंथों में मिलते हैं या ऐतिहासिक दृष्टि से जिनका उल्लेख अन्यत्र मिलता है और अनिश्चित पात्र वे हैं, जिनका उल्लेख इतिहास ग्रंथों में नहीं मिलता। प्रश्न यह है कि इनकी अनिश्चितता को निश्चितता में कैसे बदला जाय? अब तक के अध्ययन का निष्कर्ष एक प्रकार से यह रहा कि काव्य में आए हुए वे पात्र या घटनाएँ या विवरण जो अन्य ऐतिहासिक ग्रंथों में भी मिलते हैं या ऐतिहासिक आधार पर प्रमाणित मान लिए गए हैं, उनको ऐतिहासिक रूप से प्रामाणिक स्वीकार कर लिया जाय किंतु जिनके उल्लेख केवल काव्यग्रंथों में हैं और उनका कोई अन्य ऐतिहासिक आधार नहीं मिलता है तो वे संदिग्ध बने रहें या अनिश्चित। कहने का तात्पर्य केवल इतना ही है कि जैसे इतिहास के आधार पर काव्य की परीक्षा की गई, वैसे काव्यों के आधार पर ऐतिहासिक वृत्त लिखने का प्रयत्न नहीं किया गया। अतः अब इस ऐतिहासिक वृत्त की परीक्षा या समीक्षा इतिहास के आधार पर की जानी चाहिए। आदिकालीन वीरकाव्यों की तुलना में मध्यकालीन वीरकाव्य इतिहास के लिये प्रचुर

६. शिवाजी, यदुनाथ सरकार, पृ० २११।

७. हिस्ट्री आव् जहाँगीर, भा० १, पृ० ५३ (पाद टिप्पणी)। उक्त उद्धरण हिंदी वीरकाव्य, टीकमसिंह तोमर की पादटिप्पणी से है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सामग्री प्रस्तुत करते हैं। इधर इस विषय पर अनेकों लेख शोधपत्रिकाओं में प्रकाशित हुए हैं और कुछ संपादित ग्रंथों में भी इस युग के वीरकाव्यों की ऐतिहासिकता प्रमाणित हुई है। अब आवश्यकता इस बात की है कि इस सारी सामग्री को इतिहास के लिये उपयुक्त घोषित किया जाय और इतिहास के पुनर्लेखन के समय इसका उपयोग किया जाय।

आज इतिहास अतीत का विवरण मात्र नहीं है और न राजपुरुषों की गाथा ही है। आज का ऐतिहासिक दृष्टिकोण बदला हुआ है। आज के इतिहास लेखन में राजपुरुषों एवं उनके आश्रितों के दृष्टिकोण के बजाय जनता के संघर्ष की गाथाओं का लिखा जाना भी उपयुक्त माना गया है। इसके लिये राजनैतिक विकास दिखलाया जाता है; सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक संस्थाओं का विवरण भी प्रस्तुत किया जाता है। आदर्श एवं विश्वास, परंपरा एवं प्रगति, विरोध एवं साम्य आदि को भी दिखलाना आवश्यक समझा गया है। राजपुरुषों की गाथा इतिहास का सतही विवरण माना गया है। अतः इन वीर काव्यों के अध्ययन का वास्तविक ऐतिहासिक अध्ययन केवल घटनाओं और पात्रों के विवरण तक ही सीमित नहीं रखा जा सकता। ऐतिहासिक पुरुषों का अध्ययन इतिहास ग्रंथों की अपेक्षा इनमें अधिक विस्तार से मिलता है। अतः इतिहास के अछूते पन्नों पर भी वीरकाव्यों के माध्यम से प्रकाश डाला जा सकता है।

हिंदी साहित्य में, रीतिकाल तक के साहित्य में, अब तक जो विवरण प्राप्त हुआ है, उनमें इतिहास से संबंध रखनेवाले काव्य वीर गाथाकाल के रासो ग्रंथ और मध्यकाल के अनेकों ग्रंथ हैं। डाक्टर टीकमसिंह तोमर ने १६००-१८०० ई० के बीच लिखे गए १२ कवियों की १८ रचनाओं को अपने अध्ययन का आधार बनाया है किंतु उन्होंने ५२ ग्रंथों की एक तालिका ऐसी दी है, जो इसी समय के भीतर लिखे गए हैं और ऐतिहासिक पुरुषों से संबंधित हैं। इन ५२ ग्रंथों में से अनेकों अब भी अप्रकाशित हैं।[८] ये सभी ग्रंथ वर्तमान खोज को देखते हुए कम हैं। प्रकाशित सामग्री के आधार पर भी सामग्री इससे अधिक दिखाई देती है। नागरीप्रचारिणी पत्रिका एवं अन्य शोधपत्रिकाओं में अब भी प्रचुर सामग्री दिखाई देती है, जिसको अब तक ऐतिहासिक धरातल पर शोध का आधार नहीं बनाया गया है। इस प्रचुर सामग्री के आधार पर लिखा गया इतिहास निश्चित ही इस काल के इतिहास के संबंध में नई धारणा प्रस्तुत करेगा। हिंदी में इस प्रकार

८. हिंदी वीरकाव्य, पृ० १७-२० ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के ग्रंथों का अध्ययन अब तक केवल शोध के रूप में ही किया जा रहा है। पृथ्वीराज रासो को छोड़कर शायद ही किसी ऐतिहासिक पुरुष पर लिखे गए काव्य का अध्ययन लोकप्रिय रहा हो। क्या वास्तव में पृथ्वीराजरासो भी लोकप्रिय रचना है? इसका उत्तर विद्यार्थीवर्ग ही दे सकता है। कठिनाई निश्चित ही विषय की अपेक्षा भाषा की है। किंतु रीतिकाल के ग्रंथों की भाषा रासो की तुलना में कठिन नहीं है। इस पर भी भूषण को छोड़कर एक दो अन्य कवियों तक ही दृष्टि पहुँचती है। इन वीर काव्यों को पढ़कर देश के प्रति स्वाभिमान का भाव जैसा पैदा होना चाहिए वैसा नहीं होता। यदि होता तो रचनाएँ लोकप्रिय होतीं। इतिहास का गौरवमय रूप, अतीत की स्वाभिमानी मुद्राएँ काव्य में जिस रूप में देखी जानी चाहिए, वैसी नहीं दिखाई देती। यह इतिहास का दोष है या काव्य रचयिताओं का या काव्यनायकों का या भाषा का या काव्यगुणों का, इसकी समीचीन समीक्षा होनी चाहिए। प्रस्तुत अध्ययन में इन प्रश्नों का समाधान ऐतिहासिक धरातल पर देने का प्रयास किया जायगा।

इस भूमिका के बाद अब आलोच्यकाल के ऐतिहासिक पक्ष पर विचार करना समीचीन होगा। ऐतिहासिक पुरुष अपने समय के राजनीतिक पुरुष रहे हैं। दूसरे शब्दों में वे सत्ताधारी रहे हैं अतः उनका अपने युग की राजनीतिक गतिविधियों से सीधा संबंध रहा है। कहा भी गया है कि अतीत की राजनीति आज का इतिहास है और आज की राजनीति कल का इतिहास होगी। अतः जब भी हम अतीत का इतिहास उस युग में पहुँच कर उस युग के परिप्रेक्ष्य में देखते हैं तो उस युग की राजनीतिक गतिविधियों का अध्ययन ही करते हैं। इसी लिये ऐतिहासिक पुरुषों का अध्ययन अपने समय की राजनैतिक शक्तियों का अध्ययन भी है। मध्यकालीन वीरकाव्यों में इन ऐतिहासिक पुरुषों का चरितगान, प्रशस्तिगान कवियों द्वारा तत्कालीन मान्य सांस्कृतिक आदर्शों के संदर्भ में ही किया गया है। किंतु इन कवियों ने अपने आपको प्रशस्तिगान या चरितगान तक ही सीमित नहीं रखा। उन्होंने अपने नायकों के राजनैतिक कार्यों का (आज की दृष्टि से ऐतिहासिक कार्यों का) उल्लेख भी किया है।[१] सत्ताधारियों के संघर्ष को उन्होंने सजीव शब्दों में चित्रित किया है। जय और पराजय दोनों का, विजयश्री एवं बलिदान दोनों का उल्लेख सांस्कृतिक संदर्भ में प्रस्तुत किया गया है। उस युग के काव्यों को समझने के लिये उस युग के राजनैतिक ढाँचे तथा अनुशासन प्रणाली को समझना बहुत आवश्यक है। जब तक सत्ताधारियों की शक्ति एवं उस शक्ति का जनजीवन से संबंध रखनेवाली शृंखला का ठीक ठीक परिचय प्राप्त नहीं कर लिया जायगा तब तक उनके संबंध में कवियों के कथन का मूल्यांकन भी नहीं किया जा सकेगा। कवियों द्वारा गाई गई गाथाएँ राजनैतिक पुरुषों की गाथाएँ हैं, यह ठीक है किंतु ये उस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यक्तिविशेष की सत्ता के वृत्त तक सीमित हैं। अतः पहले उस युग के भारत के राजनैतिक स्वरूप को समझने का प्रयास अपेक्षित है।

मध्ययुग में सामंतवाद को विशेष रूप से प्रश्रय मिला। विजयी राजा के अधीन अनेक सामंत होते थे। ये सामंत स्थानीय शासन करते और आवश्यकता पड़ने पर राजा की सैनिक सहायता करते थे। ये सामंत देश के केंद्र में स्थापित निरंकुश राजतंत्र के अधीन कार्य करते थे। इस संबंध में डा० राजबली पांडेय ने लिखा है—'भारत में साम्राज्य की सामान्य कल्पना मांडलिक राज्य की थी, इसलिये सारा साम्राज्य ही स्थानीय सामंतों के बीच बँटा हुआ था। परंतु मध्ययुग में राजनीतिक विशृंखलता, अनिश्चितता और अरक्षा के कारण इस सामंती व्यवस्था को अधिक प्रोत्साहन मिला।···मध्ययुग में, देश के खण्डशः विभाजित होने के कारण, बड़े पैमाने पर भक्ति का विकास न होकर केवल स्थानीय सामंत तक वह सीमित हो जाती थी। इसका प्रभाव शासन पद्धति और देश की सैनिक शक्ति पर भी पड़ा'[९] दूसरी बात यह कि जनता ने राजनीति में रुचि लेना छोड़ दिया 'निरंकुश एकतंत्र, सामंतवाद और देश के खंडित होने से जनता में एक घातक प्रवृत्ति का उदय हुआ जिसे राजनीति के प्रति उदासीनता कह सकते हैं···जब भारतीय राजवंशों का ध्वंस कर विदेशी राजवंश स्थापित होने लगे तो सामान्य जनता ने उन्हें अपना शासक उसी प्रकार स्वीकार कर लिया जिस प्रकार वह किसी भारतीय राजवंश को स्वीकार करती थी···इस राजनीतिक दासता और उदासीनता की प्रवृत्ति यहाँ तक पहुँची कि दिल्ली के मुगल शासक जनता के हृदय में ईश्वर के आसन पर आरूढ़ हो गए। जगन्नाथ जैसे उद्भट पंडित ने निस्संकोच कहा, 'दिल्लीश्वरो वा जगदीश्वरो वा' अब राजधानियों पर कोई भी अधिकार करके जनता पर शासन कर सकता था''[१०]

मध्ययुग के जिन वीरकाव्यों की चर्चा इस निबंध में की जा रही है, उनका समय १७०० संवत् से १९०० संवत् के बीच का है। दूसरे शब्दों में रीतिकालीन वीरकाव्यों तक ही विषय को सीमित रखना है। ऐतिहासिक दृष्टि से यह समय १६४३ ई० से १८४२ ई० के बीच का समय है। १६४३ ई० में दिल्ली में शाहजहाँ का शासन था। १८४२ ई० तक यद्यपि अंगरेज भारत में जम गए थे पर १८५७ ई० तक मुगलों का अंतिम बादशाह बहादुरशाह जफर दिल्ली में रहा।

९. हिंदी साहित्य का बृहत इतिहास, भा० १, सं० राजबली पांडेय, पृ० ३७-३८।
१०. वही, पृ० ३९-४०।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक प्रकार से इस युग को मुगलों के पतन का काल भी कहा जा सकता है। शाहजहाँ का काल समृद्धि का था। बाद में औरंगजेब के समय से लेकर अंत तक मुगलों का पूर्णतः पतन होने तक देश में अनेकों संघर्ष होते रहे। औरंगजेब के समय में उसकी कट्टर धार्मिक नीति के कारण देश में अनेक राजा उसके विरोध में संघर्ष कर रहे थे। इनमें प्रमुख छत्रपति शिवाजी, महाराजा छत्रसाल बुंदेला, मेवाड़ के राजा राजसिंह एवं इनके समर्थक अन्य अनेक राजा और सामंत हैं। इन्हीं को आधार बनाकर कवियों ने काव्य लिखे हैं। भूषण ने शिवाजी और छत्रसाल का गुण गाया। गोरेलाल ने छत्रप्रकाश लिखा और मान कवि ने राजविलास लिखा। औरंगजेब के बाद का समय तो मुगलों के पतन का समय है। किंतु इस पतन में कितनी ही अन्य शक्तियाँ उभर रही थीं, जिनमें मराठों की शक्ति प्रमुख थी। एक प्रकार से यह समय देश में राजनैतिक शक्तियों के विघटन का रहा है। इस विघटन में नई शक्तियों का संगठन भी हुआ है किंतु ठीक इसी समय विदेशियों का आगमन भी देश में हो गया और भारतवर्ष एक पतन से मुक्त होते होते दूसरे पतन का शिकार हो गया। इसी बीच विघटित शक्तियों ने ही अपनी अपनी सीमा में भारतीय गौरव की रक्षा में जो योगदान दिया उसी गौरव का गान कवियों ने किया है। यद्यपि उनका योगदान अपनी सीमित शक्तियों को देखते हुए कम नहीं है फिर भी उसकी एक प्रकार से उपेक्षा हुई है। कवियों ने एक प्रकार से इन ऐतिहासिक नायकों को अपने काव्य का विषय बनाया है। शुक्ल जी के शब्दों में इन कवियों ने अपनी प्रतिभा का अपव्यय किया है। यह इसलिये कि इन कवियों के नायक इतिहास प्रसिद्ध वीर पुरुष नहीं थे। पतित सामंतों की प्रशस्तियाँ लिखना एक प्रकार से पतन का अवमूल्यन करना था। किंतु इसका दूसरा महत्व भी है, जिसकी ओर प्रायः कम ध्यान दिया गया है। इस महत्व पर प्रकाश डालने से पूर्व इस युग के संघर्ष के मूल कारणों पर प्रकाश डालना अधिक उपयुक्त होगा।

स्वतंत्रता सब मूल्यों की जननी है। किसी राष्ट्र की संस्कृति का निर्माण, उसका संरक्षण एवं विकास स्वतंत्रता की अवस्था में ही हो सकता है। पराजित जाति संस्कृति का निर्माण नहीं कर सकती। इस संबंध में रूसी इतिहासवेत्ता दानिलेव्स्की ने संस्कृति की उत्पत्ति और विकास के कुछ नियम दिए हैं। उनमें कुछ निम्नलिखित हैं—१—प्रत्येक जाति जो एक भाषा या समान भाषाओं के समूह से परिबद्ध हो और अपने मानसिक और आध्यात्मिक विकास के योग्य हो संस्कृति का आधार बन सकती है। २—यदि वह जाति राजनीतिक दृष्टि से स्वतंत्र हो तभी वह संस्कृति में परिणत हो सकती है। ३—एक संस्कृति के मौलिक सिद्धांत दूसरी संस्कृति में संक्रांत नहीं हो सकते क्योंकि इनकी अपनी विशेषताएँ वैयक्तिक होती हैं। यद्यपि संस्कृतियाँ आपस में एक दूसरे पर प्रभाव डालती रहती है और उपनिवेशीकरण, उर्वरीकरण (पार-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्परिक आदान-प्रदान) और अंतर्वपन (ग्राफ्टिंग) की प्रक्रियाओं द्वारा एक दूसरे से संबंधित होती रहती हैं तथापि उनकी वैयक्तिक विशेषताएँ एक दूसरे से नहीं मिल पातीं।[11] दानिलेव्स्की के इन विचारों के आलोक में यदि इस युग के संघर्ष पर विचार करें तो हमें दो मूल संस्कृतियों का संघर्ष दिखाई देता है। ये दोनों ही संस्कृतियाँ हिंदू संस्कृति और इस्लामी संस्कृति के नाम से अभिहित की जा सकती हैं। इसमें भी इस्लामी संस्कृति का शासन दिल्ली में था। सांस्कृतिक दृष्टि से भारत पराधीन था। ऐसी स्थिति में देश में संस्कृति के पुनरुत्थान के प्रयत्न होना स्वाभाविक था। इस प्रयत्न में भारत के अनेक चिंतकों ने, संतों ने, भक्तों ने अपना अपना मौलिक योगदान दिया है। इस इतिहास को यहाँ दुहराने की आवश्यकता नहीं। इन सब के साथ साथ देश की जनता ने और अनेक सामंतों और राजा महाराजाओं ने भी अपनी सीमित शक्ति के आधार पर देशाभिमान एवं देश की संस्कृति की रक्षा करने का पूरा पूरा प्रयास अपने प्राणों के मोल पर किया है। कितने ही व्यक्तिगत बलिदान हुए हैं। उन बलिदानों का इतिहास खोजने पर प्राप्त हो सकता है। हिंदी में हमें जो वीरकाव्य प्राप्त हैं, उनमें राजा महाराजाओं की प्रशस्तियाँ भले ही देखने को मिलें किंतु उसके मूल में भारतीय संस्कृति का गौरव भी निहित है। राजा महाराजाओं की प्रशस्ति उस संस्कृति के रक्षक के रूप में ही वर्णित है। और सचमुच देखा जाय तो व्यक्तिगत धरातल पर राजा महाराजा और सामंत भी—सभी तो नहीं किंतु अनेक - वीरश्री से ओतप्रोत थे। इसका ज्ञान राजवंशों के विस्तृत अध्ययन से हो सकता है। व्यक्तिगत दृष्टि से बलवान एवं चरित्रवान होने पर भी असफलता के कारण कुछ तो उनके सांस्कृतिक विश्वास हैं और दूसरा प्रमुख कारण ऐतिहासिक भूलें हैं। इसके साथ साथ व्यक्तिगत स्वार्थ और आपसी फूट भी पतन की ओर लेजानेवाले कारण हो सकते हैं। यहाँ सफलता और असफलता के ऐतिहासिक कारणों का उल्लेख करना एवं उसके विस्तार में जाना अभीष्ट नहीं है। यहाँ केवल यही कहना है कि अपनी तमाम कमजोरियों के बावजूद जिस सांस्कृतिक बल पर राजा महाराजाओं ने अपने देश की संस्कृति को सुरक्षित रखने में योगदान दिया है, उनका गुणस्तवन कवियों ने वीरकाव्यों में किया है। डा० राजबली पांडेय ने इस संबंध में लिखा है -'भारत ही ऐसा देश था जहाँ इस्लाम को सतत संघर्ष का सामना करना पड़ा और लगभग एक हजार वर्ष के आक्रमण और शासन के बाद भी भारत के विजय और धर्मपरिवर्तन

११. इतिहास दर्शन, डा० बुद्धप्रकाश, पृ० २८२-२८३।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में उसे आंशिक सफलता ही मिली। संसार के इतिहास में यह एक बड़ी महत्व की घटना है। स्पेन के दक्षिणी छोर से लेकर चीन की दीवार तक इस्लाम की जेहादी सेना ने पूर्ववर्ती धर्म और सामाजिक ढाँचे को पूर्णतः नष्ट कर दिया और अब उनका अवशेष केवल भूखनन से ही प्राप्त होता हैं। पश्चिमोत्तर, अफ्रिका, मिश्र, अरब, असीरिया, ईराक, ईरान, अफगानिस्तान और मध्य एशिया सभी पूर्णतः इस्लाम के सामने परास्त हुए। परंतु भारत में यह घटना नहीं हुई। भारत के सभी राजवंश नष्ट नहीं हुए और राजवंशों के पराजित और नष्ट होने पर भी जनता की अपनी सामाजिक और धार्मिक जीवन के प्रति आस्था और आग्रह बना रहा इनके ऊपर आक्रमण का प्रतिरोध संघर्ष और कष्ट सहन के द्वारा जनता करती रही, जहाँ यह संभव नहीं हुआ वहाँ वर्जनशीलता और केवल कष्ट सहन का मार्ग उसने ग्रहण किया, किंतु अपने सांस्कृतिक जीवन की रक्षा की। केवल थोड़े से लोग दबाव, भय और प्रलोभन से इस्लाम में दीक्षित हुए। राजवंशों की भी प्रायः यही प्रवृत्ति रही। स्थान परिवर्तन और नवीन राज्यस्थापन के कई उदाहरण पाए जाते हैं। सैनिक पराजय के बाद अधीनता स्वीकार करके पुनः संघर्ष और राजनीतिक संघटन के भी कतिपय दृष्टांत मिलते हैं।"[१२] भारतीय नरेशों ने भारतीय संस्कृति की रक्षा का प्रयत्न अपनी अपनी सीमा में किया है इसी का वर्णन कवियों ने वीरकाव्यों में किया है। इन वीरकाव्यों में भारतीय संस्कृति के जो वर्णन हैं वे संस्कृति के उत्थान और विकास के नहीं अपितु अतीत को सुरक्षित रखने की भावनाओं से ओतप्रोत रूढ़ रूप में हैं। चूँकि राजा महाराजाओं ने देशाभिमान और देश के गौरव को जीवित रखने का प्रयत्न किया अतः कवियों ने उनका गुणस्तवन उसी संदर्भ में किया है। कवियों की ये प्रशस्तियाँ रूढ़ सांस्कृतिक संदर्भ में ही गाई गई हैं। दूसरे कवियों ने ऐतिहासिक दृष्टि से जिन वृत्त एवं घटनाओं को अपने काव्य में लिखा है, उनको सांस्कृतिक भावनाओं से रँग दिया है।

कालिदास और तुलसी दोनों के काव्यों में भारतीय संस्कृति मुखर हुई है। दोनों ही महाकवि देश की विचारधारा और देश की उच्च एवं उदात्त संस्कृति का उद्घाटन करनेवाले हैं। किंतु दोनों में एक मौलिक अंतर है वह है अपने समय की राजनैतिक एवं सामाजिक परिस्थियाँ। कालिदास के काव्य में भारतीय संस्कृति का जो रूप है, वह विजित जाति की संस्कृति का रूप है। कालिदास के आदर्श राजा सफल एवं कर्मठ शासक हैं। जीवन के प्रति उनमें स्वस्थ उपभोग का दृष्टिकोण है।

१२. हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास, प्र० भा०, सं० राजबली पांडेय, पृ० ४२-४३।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वे आत्मनिर्भर, तेजस्वी पुरुष पुंगव हैं और उन सब गुणों से विभूषित हैं जो उनके विजयोल्लसित प्रभावशाली जीवन एवं व्यक्तित्व के लिये अपेक्षित हैं।[13] इसके विपरीत तुलसीदासजी पराधीन भारत के कवि होने के कारण उनमें वह शक्तिशाली स्वर नहीं आ पाया है। सच तो यह है कि भारतीय संस्कृति का गर्वोन्मत्त और उन्मुक्त विकासमान रूप कालिदास के साहित्य में ही मिलता है। बाद का साहित्य पराधीन भारत का साहित्य है। यहाँ तुलसीदास को दोष नहीं दिया जा रहा है। डाक्टर देवराज ने ठीक लिखा है—'विनय पत्रिका में तथा अन्यत्र भी तुलसीदास ने जगह जगह अपनी हीनता, अधमता आदि का बखान किया है। प्रकारांतर से यह हीनता भावना उस समय की हिंदू जनता की अवनत अवस्था को प्रकट करती है। उस जनता में संभवतः आत्मविश्वास का इतना ह्रास हो गया था कि वह भगवान् के अवलंब के अतिरिक्त कोई दूसरा सहारा देखती ही न थी। जहाँ कालिदास के उन्नत युग में अपनी बुद्धि एवं अपने बल पर भरोसा रखना श्लाघ्य समझा जाता था, वहाँ तुलसी के समय में मनुष्य का सबसे आवश्यक गुण ईश्वर पर निर्भर होना बन गया था।[14] यहाँ दोनों कवियों की तुलना इसलिये की गई है कि स्वाधीनता और पराधीनता दोनों स्थितियों में अंतर स्पष्ट किया जा सके।

भारतवर्ष का ज्ञात इतिहास पराजयों का इतिहास है। जिसे इतिहास के नाम पर हम पढ़ते आये हैं, वह लगातार आनेवाले आक्रमणकारियों का इतिहास है। इस संबंध में (अर्थात् भारतीय इतिहास के संबंध में) कार्ल मार्क्स को आधार बनाकर राहुल ने लिखा है—'सहस्राब्दियों से भारतीय समाज मुक्त प्रवाह नहीं, प्रवाह शून्य नदी का छाड़न हो गया है। सारे गृहयुद्ध, विदेशी आक्रमण, क्रांतियाँ, विजय, अकाल—चाहे जितने ही तीव्र और नाशकारी रहे हों, पर वह भारत में सतह से भीतर नहीं घुस सके।'[15] इसीलिये भारतवर्ष का इतिहास अर्थात् ज्ञात इतिहास एक प्रकार से लगातार आनेवाले आक्रमणकारियों का इतिहास है। इन आक्रमणकारियों ने निष्क्रिय अपरिवर्तनशील समाज की निश्चेष्टता की मदद से अपने साम्राज्य कायम किए। हिंदी साहित्य का इतिहास एक प्रकार से पराधीन भारत का इतिहास है। और जैसा कि कहा गया है, अब तक का ज्ञात इतिहास बाहर से आनेवाले आक्रमणकारियों का इतिहास है। किंतु इन आक्रमणों का सामना करनेवालों का इतिहास वास्तव में हिंदी साहित्य में अवतरित

१३. आधुनिक समीक्षा, डा० देवराज, पृ० ७९ ८० :
१४. वही, पृ० ८१।
१५. कार्ल मार्क्स, राहुल, पृ० १७९ से १८६।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हुआ है और मध्यकालीन वीरकाव्यों में जिन भारतीय नरेशों को काव्य का आधार बनाया गया है, वे नरेश बाहर से आए हुए आक्रमणकारियों का विरोध करनेवाले हैं। पराजित होने पर भी इन नरेशों ने संघर्ष जारी रखा। राजनैतिक दृष्टि से हार स्वीकार करने पर भी इन्होंने अपने सांस्कृतिक मूल्यों को बनाए रखा है। इन मूल्यों की रक्षा के लिये कितनों ने अपने प्राण दिए हैं। भारतवर्ष का इतिहास त्याग और बलिदानों का इतिहास भी है। इस ओर प्रायः कम ध्यान दिया गया है। इसका कारण यह रहा है कि इतिहास पढ़ते समय हमारी दृष्टि आक्रमणकारियों के इतिहास की ओर रही है और यह दृष्टि रहना स्वाभाविक ही था क्योंकि वे दिल्ली के शासक रहे हैं। किंतु आक्रमणकारियों को छोड़कर भारत के अनेक राजवंशों का विस्तृत इतिहास देखा जाय तो शौर्य एवं वीरश्री की अनेक गाथाएँ देखने को मिलेंगी। हिंदी वीरकाव्यों में ये गाथाएँ हैं। आवश्यकता इन्हें देखने की है।

प्रश्न है कि वीरकाव्यों में यदि विजित जाति की संस्कृति का गान और गौरव होता है तो फिर मध्यकालीन वीरकाव्यों को वीरकाव्य कहा जाय अथवा नहीं? इसका समाधान भी है। वह यह कि यद्यपि भारतीय नरेशों ने राजनैतिक रूप से हार स्वीकार कर ली थी किंतु सांस्कृतिक दृष्टि से वे संघर्ष करते रहे। अर्थात् वे अपने सांस्कृतिक मूल्यों की रक्षा में प्राणपण से लगे रहे। भारतीय नरेश धर्म और संस्कृति के प्रति कितने ईमानदार थे इसके कितने ही उदाहरण मिलते हैं। केसरिया बाना पहन कर युद्ध में जाना, मरण को शृंगार एवं पर्व मानना एवं स्त्रियों का सती हो जाना आदि इस बात को प्रमाणित करनेवाले हैं कि सांस्कृतिक मान्यताओं पर जब राजनैतिक आपत्ति आई तो नरेशों ने अपनी वीरता का पूरा परिचय दिया। या तो उन्होंने विजय प्राप्त कर अपने सांस्कृतिक मूल्यों की रक्षा की या मिट गए। तीसरी स्थिति उन्हें स्वीकार नहीं थी। राजस्थान का इतिहास ऐसे ही त्याग एवं बलिदानों का इतिहास है। और इसी की अभिव्यक्ति हिंदी वीरकाव्यों में हुई है। इस वीरता को वीरता नहीं तो क्या कहना चाहिए?

अब मध्यकालीन वीरकाव्यों की ऐतिहासिकता पर दो शब्द कहना उचित होगा। इस युग के अधिकांश कवि राजाओं के दरबार में रहनेवाले कवि थे। इन कवियों ने अपनी समकालीन घटनाओं और राजनैतिक गतिविधियों का उल्लेख अपने काव्यों में किया है। कुछ ऐसे भी कवि हुए हैं, जिन्होंने अपने से पूर्व घटित ऐतिहासिक वृत्त को अपने काव्य का आधार बनाया है। जिन कवियों ने समकालीन आश्रयदाता को आधार बनाकर काव्य लिखा है, उनके काव्य में समकालीन वृत्त का जितना उल्लेख हुआ है, वह ऐतिहासिक दृष्टि से पूर्ण प्रामाणिक है। क्योंकि समकालीन वृत्त लिखते हुए भी कवियों ने आरंभ में राजाओं की वंशावली दी है। कहीं कहीं समकालीन वृत्त से पूर्व सुनी सुनाई सूचनाओं या स्मृति के आधार पर भी ऐतिहासिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वृत्त लिख दिया गया है। ऐसे प्रसंगों में ऐतिहासिक भ्रांतियाँ मिलती हैं। उदाहरण के लिये मान का राजविलास लिया जाय। मोतीलाल मेनारियाजी ने लिखा है—'मानजी महाराणा राजसिंहजी के समसामयिक थे। अतएव महाराजा राजसिंह के विषय की जो भी बातें उन्होंने अपने इस ग्रंथ में बतलाई हैं वे प्रायः ठीक हैं और ठीक होनी भी चाहिए। क्योंकि यह सब कवि का अपनी आँखों देखा हाल है।'[१६] इसी मान कवि ने राजसिंह के पहले का जो वृत्तांत दिया है, उसमें ऐतिहासिक गड़बड़ियाँ हैं। इन गड़बड़ियों के कारण ही टीकमसिंह तोमर ने लिखा है—'राजविलास के उपर्युक्त ऐतिहासिक विवेचन के उपरांत यह निष्कर्ष निकलता है कि उक्त ग्रंथ में दी हुई तिथियों, घटनाओं एवं सेनाओं के वर्णनों में कवि ने अतिशयोक्ति से काम लिया है। चारणों एवं भाटों में प्रचलित प्रायः सारी बातों का मान ने अपने ग्रंथ में समावेश कर दिया है।'[१७] इसी तरह मेनारिया ने भी उसके अनैतिहासिक उल्लेखों की समीचीन व्याख्या की है। किंतु यहाँ ध्यान रखने की बात यह है कि काव्य में समथामयिक भाग ऐतिहासिक है और पूर्ववृत्तांत अनैतिहासिक। इस पूर्ववृत्तांत वाले भाग को भी पूर्णतः अनैतिहासिक नहीं कहा जा सकता क्योंकि स्मृति में या सुनने में जितना प्रामाणिक अंश आ गया है, उसका प्रामाणिक विवरण है। पूर्ववृत्तांत को कवि ने अधिक काल्पनिक ढंग से लिखा है, इसलिये वह इतिहास के साथ मेल नहीं खाता। इसी तरह जिन कवियों ने समसामयिक आश्रयदाता पर नहीं लिखा बल्कि इतिहास के पूर्व वृत्तांत को काव्य का आधार बनाया उनमें ऐतिहासिक तथ्य प्रामाणिक रूप से नहीं मिलते। जैसे, जोधराज कवि कृत 'हम्मीररासो'। हम्मीर-रासो का रचनाकाल डा० टीकमसिंह तोमर ने सं० १८८५ वि० अर्थात् ८२८ ई० दिया है।[१८] जोधराज के आश्रयदाता नीमराणा (अलवर राज्य के अंतर्गत) के चौहाण वंशीय राजा चंद्रभाण थे। इन्हीं की आज्ञा से कवि ने उक्त रचना की। हम्मीररासो में अलाउद्दीन खिलजी और राव हम्मीर के युद्धों का वर्णन है। ऐतिहासिक दृष्टि से कवि का वृत्त विवादास्पद है। तोमरजी ने ही लिखा है—'हम्मीररासो ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण ग्रंथ नहीं है। उसमें प्रयुक्त तिथियाँ एकदम अशुद्ध हैं और अधिकांश पात्रों की ऐतिहासिकता संदिग्ध है। कवि ने घटनाओं की वास्तविकता, सत्यता एवं प्रामाणिकता का बहुत कम ध्यान रखा है। उसने परंपरागत प्रचलित एवं मनगढंत बातों का स्वतंत्रतापूर्वक प्रयोग किया है, जिसके फलस्वरूप इतिहास की

१६. मान कवि का राजविलास, सं० मोतीलाल मेनारिया (भूमिका), पृ० १६।
१७. हिंदी वीरकाव्य, पृ० २६६।
१८. वही. पृ० ३५।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दृष्टि से यह ग्रंथ अत्यंत साधारण कोटि का बन पड़ा है।'[19] इसके विपरीत वे काव्य जो कवियों ने समसामयिक आश्रयदाता के समसामयिक वृत्तांत को आधार बनाकर लिखे हैं, वे ऐतिहासिक दृष्टि से पूर्णतः प्रामाणिक हैं। जैसे भूषण का काव्य। इस प्रकार के काव्यों के उदाहरण नीचे दिए जा रहे हैं—

१. केशव का वीरसिंहदेव चरित।[20]
२. भूषण का शिवराजभूषण।[21]
३. मान का राजविलास।[22]
४. लाल का छत्रप्रकाश।[23]
५. श्रीधर का जंगनामा।[24]
६. सदानंद का रासा भगवंत सिंह।[25]
७. सूदन का सुजानचरित्र।[26]
८. गुलाव का करहिया कौ रायसौ।[27]
९. पद्माकर की हिम्मत बहादुर विरुदावली।[28]
१०. वचनिका राठौड़ रतनसिंहजी री महेसदासौत री खिड़िया जगा री कही।[29]
११. कवि रघुनाथ रसाल कृत रामचरित्र।[30]
१२. रतनू वीर भाणकृत राजरूपक।[31]

१९. वही, पृ० ३६१।
२०. वही, पृ० १९०।
२१. वही, पृ० २३७।
२२. मान कवि का रामविलास, सं० मोतीलाल मेनारिया (भूमिका), पृ० १६।
२३. हिंदी वीरकाव्य, पृ० २८७।
२४. वही, पृ० ३०६।
२५. वही, पृ० ३१०।
२६. वही, पृ० ३३२।
२७. वही, पृ० ३३६।
२८. वही, पृ० ३४४।
२९. नागरीप्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ६५, अंक ३ (संवत् २०१७), पृ० २८५।
३०. कवि रघुनाथ रसाल कृत 'रामचरित्र'--सं० भा० रा० भालेराव एवं काशी राम शर्मा तथा रघुबीर सिंह, राजकमल, दिल्ली, पृ० २०।
३१. राजरूपक, सं० पं० रामकर्ण, ना० प्र० सभा, भूमिका, पृ० ३।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ये सभी कवि अपने अपने आश्रयदाताओं के समकालीन रहे हैं और इन्होंने अपने काव्यों में समकालीन ऐतिहासिक वृत्त को जितना लिखा है, वह प्रामाणिक है। किंतु जिन कवियों ने इन काव्यों में पूर्व वृत्तांत दिया है, जैसे राजविलास या सुजानचरित्र में, वह इतिहास से मेल नहीं खाता। वचनिका के संबंध में वासुदेव सिंह ने लिखा है—'इस वचनिका में चारण कवि खिड़िया जगा ने जोधपुर के महाराजा जसवंत सिंह और मुगलसम्राट् शाहजहाँ के विद्रोही पुत्रों (औरंगजेब और मुराद) के बीच मालवा में उज्जैन से लगभग १४ मील दक्षिण पश्चिम में धरमत के स्थान पर ६ अप्रैल १६५८ ई० को हुए ऐतिहासिक युद्ध का वर्णन किया है। इस प्रकार यह एक ऐतिहासिक काव्य है और धरमत के युद्ध का विस्तृत और प्रामाणिक चित्र उपस्थित करता है। इस घटना को लेकर अभी तक जो इतिहास ग्रंथ लिखे गए हैं, उनके आधार फारसी लेख ही रहे हैं। डा० यदुनाथ सरकार ने औरंगजेब का विस्तृत इतिहास लिखने में फारसी का आलमगीरनामा, फतूहात-इ-आलमगीरी, तारीख-इ-शाहशुजाई, जाफरनामा-इ-आलमगीरी और आलम-इ-सालिह आदि ग्रंथों को ही आधार बनाया था। लेकिन ये ग्रंथ केवल एक पक्ष को ही ध्यान मे रखकर लिखे गए है। उनमें विजयी औरंगजेब के शौर्य और अहं का ही विस्तार से उल्लेख है। धरमत के युद्ध से दूसरे पक्ष में किस प्रकार तैयारी हुई, कितने प्रमुख सेनानायक एवं योद्धा थे, उनमें क्या क्या मंत्रणा हुई और युद्ध में उस पक्ष के कितने वीर रणभूमि में मृत्यु को प्राप्त हुए आदि आदि प्रश्नों के उत्तर फारसी ग्रंथों में नहीं मिलते हैं। इनका आँखों देखा वर्णन जगा ने 'वचनिका' में किया है।[32] इसी तरह अचलदास खीची की वचनिका, वृंद कवि की वचनिका आदि भी हैं। वचनिका एक प्रकार से काव्यरूप की दृष्टि से चंपू के अधिक निकट हैं। इनमें पद्य के बीच बीच आलंकारिक और तुकांत गद्य की छटा भी रहती है। संभव है वृंद की वचनिका में जो ऐतिहासिक वृत्त है, वह भी समकालीन वृत्त होने के कारण प्रामाणिक हो।

इस युग के कवियों पर अपने आश्रयदाताओं की रुचि की भी अमिट छाप है। यद्यपि काव्य की रचना में कवि स्वतंत्र होता था और सांस्कृतिक मानमूल्यों में वह रूढ़ आदर्श का पालन कर रहा था किंतु आश्रयदाताओं की मनोवृत्तियों का भी वह ध्यान रखता था। इसी से उनके काव्यों में प्रशस्तिमूलक स्वर दिखाई देता है। एक प्रकार से इस युग के कवियों ने संस्कृत के दरबारी कवियों की परंपरा को बनाए रखा। डाक्टर गोपालराय ने लिखा है—'संस्कृत साहित्य में कहीं भी सामाजिक

३२. नागरीप्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ६५, अंक ३, (सं० २०१७), पृ० २८६।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विद्रोह की भावना का चित्रण नहीं मिलता। संस्कृत के कवि सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और धार्मिक व्यवस्था को ज्यों का त्यों मानकर काव्यरचना में प्रवृत्त होते हैं। इसका कारण क्या है? इस प्रश्न का उत्तर संस्कृत साहित्य के आलोचकों ने सम्यक् रूप से देने का प्रयास नहीं किया है और यह तब तक संभव नहीं है जब तक साहित्य के लक्ष्यभूत श्रोता को सामने रखकर विचार न किया जाय।'[३३] इसी बात का उत्तर देते हुए वे लिखते हैं—'संस्कृत साहित्य का श्रोता और कवियों का आश्रयदाता सामंतीय और अभिजात समाज था। सामंतीय और अभिजात समाज में परंपरा का महत्व अधिक होता है, क्योंकि इसकी सारी सत्ता उत्तराधिकार पर आधारित होती है। यह वर्ग समाज में कोई परिवर्तन नहीं चाहता। संस्कृत साहित्य के रचनाकाल में राजा ईश्वर का अवतार माना जाता था। भारतवर्ष की जनता इस सिद्धांत में विश्वास करती थी कि प्रत्येक मनुष्य को अपने कर्मों का फल अवश्य भोगना पड़ता है। ...धनी या निर्धन होना, अच्छे या बुरे कुल में जन्म लेना पूर्वजन्म के सुकृत या दुष्कृत का परिणाम है। वैसी स्थिति में सामाजिक विद्रोह की भावना के लिये कहाँ स्थान है? निश्चय ही यह धारणा सामंतों के हितों के सर्वथा अनुरूप थी और कवियों तथा पुरोहितों ने साहित्य तथा धर्म ग्रंथों में इसका समर्थन और प्रचार किया।'[३४] गोपाल रायजी ने जो बात संस्कृत साहित्य के संबंध में कही है, वह हिंदी के दरबारी कवियों के लिये भी उतनी ही ठीक है। रीतिकालीन कवियों ने भी अपने आश्रयदाताओं की रुचि को ध्यान में रखकर काव्यरचना की है। 'रीति कवियों ने अपने आश्रयदाताओं की रुचियों के साथ अपने व्यक्तित्व को इतना एकम एक कर लिया है कि देखकर चकित रह जाना पड़ता है।'[३५] इन कवियों में अनेक कवि ऐसे भी हैं जिनकी स्थिति सामंतों से भी अच्छी थी और ये राजाओं पर भी नियंत्रण करते थे। कवियों की सामाजिक स्थिति के संबंध में टाड के इतिहास से कुछ उदाहरण प्रस्तुत कर रहा हूँ।

'उन दिनों भट्ट कवियों का प्रभाव बहुत बढ़ गया था। राजाओं, सामंतों और सरदारों की झूठी प्रशंसाएँ करना उनका काम था। इसके बदले में उनको राजपूतों से सदा लंबी रकमें मिलती थीं। इन कवियों ने अपनी झूठी प्रशंसाओं के सुनने का उनको आदी बना दिया था।'[३६]

३३. आलोचना ३१, पृ० ९९।

३४. वही, पृ० ९९-१००।

३५. वही, पृ० १०१।

३६. टाड कृत राजस्थान का इतिहास, पृ० ३३४।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'इन कवियों ने राजपूतों को जीवन की सही बातें कभी नहीं बताई थीं। घर के लड़ाई-झगड़ों में राजपूतों को इन कवियों से अनुचित प्रोत्साहन मिलता था।'[३७]

'विवाहों के अवसर पर कवि और ब्राह्मण राजपूतों के यहाँ जाते थे और झूठी प्रशंसा करके ये लोग दोनों पक्षों से धन वसूल करते थे। जो लोग इन कवियों और ब्राह्मणों को अधिक से अधिक संपत्ति देकर प्रसन्न न कर सकते थे, उनके विरुद्ध कविताएँ बनाकर ये लोग उनका तिरस्कार करते थे। उस अपमान से बचने के लिये विवाह के अवसरों पर इन कवियों को अधिक से अधिक धन देकर प्रसन्न करने की कोशिश की जाती थी।[३८]

'गुजरात की विजय में शूर सिंह को लूट में बहुत सी संपत्ति मिली थी। उससे उसने जोधपुर के नगर और उसके दुर्ग की उन्नति की। इसी संपत्ति में से उसने मारवाड़ के ६ भट्ट कवियों को पुरस्कार दिए। प्रत्येक पुरस्कार एक लाख पचास हजार रुपये का था।'[३९]

ये उदाहरण इसलिये दिए गए हैं कि कवि जहाँ राजाओं से नियंत्रित होते थे, वहाँ वे राजाओं को अपने नियंत्रण में भी रखते थे। कई स्थितियों में तो ऐसा देखा गया है कि कवि राजाओं के परिवार के सदस्य के रूप में ही रहते थे और उन्होंने अपनी राजभक्ति का ध्यान रखकर राजपरिवारों की रक्षा भी की है। न हम राजाओं को दोष दे सकते हैं और न कवियों को क्योंकि दोनों ही प्रकार के उदाहरण मिलते हैं। अतः इस युग के कवियों को राजनैतिक जीवन का एक अंग मान सकते हैं। कई बार कवियों ने राजाओं को कूट मंत्रणाएँ भी दी हैं, युद्ध में तलवार भी हाथ में ली है और धन संपत्ति द्वारा सहायता भी दी है। इसी लिये इन कवियों के संबंध में कहा जा सकता है कि 'रीतिकवियों ने अपने आश्रयदाताओं की रुचियों के साथ अपने व्यक्तित्व को इतना ऐकम एक कर लिया है कि देखकर चकित रह जाना पड़ता है।[४०]

डाक्टर रमेश कुंतलमेघ ने लिखा है—'जिस इतिहास लेखन में स्थानीय

३७. वही, पृ० ३३४।
३८. वही, पृ० ३३४।
३९. वही, पृ० ३७६।
४०. आलोचना, अंक ३१, पृ० १०१।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राजवंशों की गाथा ही गाई जायगी और जनकर्म की उपेक्षा होगी, उसके द्वारा देश की दशा का पर्यवेक्षण नहीं हो सकेगा और स्थानीय देशभक्तियों (प्रांतीयता, जातीयता) को बढ़ावा मिलेगा। जिस इतिहास लेखन में पुराने आदर्शों का ही जयगान किया जायगा उसका परिणाम भविष्य की कीमत पर अतीत में आश्रय लिए रहना होगा। जिस इतिहास लेखन में जाति या संप्रदाय का आधार लिया जायगा वहाँ एक ही ऐतिहासिक तथ्य बिल्कुल विपरीत तथ्यों का उद्घाटन करेगा। सरदार पणिक्कर ने इसका उदाहरण दिया है। हिंदुओं की दृष्टि में वे ही चरितनायक हैं जिन्होंने मुसलमानों का प्रतिरोध किया, जैसे राणा कुंभा, राणा प्रताप, शिवाजी, गोविंदसिंह आदि। मुसलमानों की दृष्टि में वे ही चरितनायक हैं जिन्होंने हिंदुओं को जीता, जैसे अलाउद्दीन खिलजी, फीरोज तुगलक, औरंगजेब।'[४१] यह कथन मध्यकालीन वीरकाव्यों के ऐतिहासिक दृष्टिकोण को एक हद तक ठीक व्यक्त कर रहा है। इसके विपरीत भी अनेक तथ्य मिलते हैं किंतु सांस्कृतिक धारणाओं में अंतर होने के कारण सहज ही हमारा लक्ष्य उस ओर नहीं जाता। राज्याश्रित कवियों ने केवल हिंदू राजाओं की प्रशस्तियों में ही काव्य लिखे हैं, ऐसी बात नहीं है। कितने ही हिंदू कवियों ने मुसलमान बादशाहों की प्रशस्ति में उसी तरह ऐतिहासिक वृत्त को आधार बनाकर काव्य लिखे हैं जैसे वे हिंदू राजाओं के लिये लिखते थे। स्वयं केशवदास ने 'जहाँगीर जस चंद्रिका' लिखी है। श्रीधर कवि का जंगमनामा इसी प्रकार का काव्य है। इसमें फर्रुखसियर और जहाँदारशाह के युद्ध का वर्णन है। दोनों संस्कृतियों में सतत संघर्ष चलता रहने पर भी दोनों में बहुत हद तक मेल भी हुआ है। इसके प्रमाण में अकबर और मानसिंह का उदाहरण जहाँ दिया जा सकता है, वहाँ औरंगजेब और जसवंतसिंह का उदाहरण उससे कम महत्वपूर्ण नहीं है। यह पढ़कर आश्चर्य होता है कि अकबर की मृत्यु मानसिंह के कारण हुई और इसी तरह जसवंतसिंह की मृत्यु औरंगजेब के कारण हुई। एक की मृत्यु में मारनेवाले ने प्रत्यक्ष अपना ही घात कर लिया और दूसरे की मृत्यु में मारनेवाले का अप्रत्यक्ष हाथ था।[४२] यह होने पर भी दोनों स्थितियों में राजनैतिक स्तर पर दोनों एक दूसरे के सहयोगी एवं विश्वासपात्र तथा स्वामिभक्त रहे हैं। राजपूतों ने राजनैतिक स्तर पर हार स्वीकार कर ली थी किंतु सांस्कृतिक स्तर पर हार स्वीकार नहीं की। दानिलेव्स्की का कथन बिल्कुल ठीक है कि संस्कृति

४१. नागरीप्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ६६, (सं० २०२१) अंक ३ पृ० ३३६।

४२. टाड के इतिहास में अकबर द्वारा मानसिंह को विष देने के प्रयत्न की बात लिखी है, भूल से स्वयं उसने (अर्थात् अकबर ने) खा लिया, इसी लिये उसकी मृत्यु हो गई। देखिए पृ० २०६।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपने आप में वैयक्तिक होती है। और इस नाते दो संस्कृतियाँ आपस में मिल नहीं सकतीं। जब तक दोनों ही एक दूसरे का संमान करते रहेंगे तब तक संघर्ष की संभावना नहीं होगी किंतु यदि राजनैतिक शक्ति के कारण संस्कृति को मिटाने के प्रयत्न होंगे तो उसका प्रतिकार प्राण देकर किया जायगा। स्वयं संभाजी का उदाहरण हमारे सामने है। शिवाजी की तरह वह कर्मठ एवं नीतिकुशल नहीं था। वह विलासी प्रवृत्ति का था। इसी से विलासी अवस्था में कैद कर लिया गया। इस समय उसे मुसलमान बन जाने के लिये कहा गया। यह राजनैतिक प्रस्ताव नहीं था। सांस्कृतिक प्रस्ताव था। उसने बड़े स्वाभिमान के साथ उक्त प्रस्ताव को ठुकरा दिया। फलस्वरूप उसकी नृशंसतापूर्वक हत्या कर दी गई (१६८९ ई०)। मार्क्स ने भारतीय इतिहास का विश्लेषण करते हुए लिखा है—'अंगरेज उन विजेताओं की तरह भारत में नहीं आए थे, जो भारत में आकर भारतीय बन भारत के हो गए—वह यूनानियों, शकों, तुर्कों, मुगलों की भाँति हिंदू नहीं बन गए। अंगरेजों में पहले के विजेताओं से अनेक विशेषताएँ थीं। दूसरे विजेता जरूर थे किंतु साथ ही सभ्यता में उस तल पर नहीं पहुँचे हुए थे जिस पर हिंदू पहुँच चुके थे। इसलिये इतिहास के सनातन नियम के अनुसार राजनीतिक विजेता विजित जाति की श्रेष्ठ सभ्यता द्वारा पराजित हो गए।'[४३] तात्पर्य यह है कि यहाँ की संस्कृति और मुगलकालीन इस्लामी संस्कृति दोनों में उस काल में बड़ा मेल हुआ और बहुत हद तक मुगल बादशाहों ने यहाँ की संस्कृति का संमान भी किया। यदि ऐसा न होता तो उनका शासन इतने लंबे समय तक चलना कठिन होता। मुगलों की सफलता का बहुत बड़ा कारण राजपूत थे। इस बात को कट्टर औरंगजेब भी उतनी ही अच्छी तरह जानता था। स्वयं उसके दरबार में जसवंतसिंह और जयसिंह जैसे व्यक्ति थे। किंतु यह भी सत्य है कि उसी की विरोधी प्रतिक्रियावादी नीति के कारण मुगल वंश के अनेक विरोधी पैदा हो गए। आश्चर्य तो इस बात पर होता है कि औरंगजेब का विरोध करनेवाले भी औरंगजेब मात्र का विरोध करते हैं, मुगल वंश का विरोध नहीं। स्वयं औरंगजेब के शासनकाल में ही राजपूतों ने और मराठों ने भी औरंगजेब को हटाकर उसके पुत्र को दिल्ली का बादशाह बनाने का प्रयत्न किया। किंतु वे औरंगजेब की कूटनीति के कारण सफल नहीं हो सके। फिर भी औरंगजेब की मृत्यु के बाद मुगल विरोधी सभी शक्तियों ने मुगल वंश को बनाए रखने का (अपने स्वार्थ को ध्यान में रखकर) प्रयत्न किया है।

४३. कार्लमार्क्स, राहुल सांकृत्यायन, पृ० १७१ से १८३ तक। राहुल जी ने भारतीय इतिहास का विश्लेषण कार्ल मार्क्स के विचारों को उद्धृत करते हुए किया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किसी ने यह नहीं सोचा कि दिल्ली के कमजोर बादशाह को हटाकर दिल्ली के मालिक बन जायँ। औरंगजेब की मृत्यु के बाद अर्थात् १७०७ ई० के बाद से लेकर १८५७ ई० तक दिल्ली में १६४ वर्षों तक मुगल राजा शासन करते रहे। इनमें से प्रायः सभी बादशाह कठपुतली थे। यह लंबा इतिहास पतन का इतिहास है। यह शासन बादशाहों का शासन नहीं, बादशाह बनानेवालों का शासन है। इनमें राजपूत, तुर्क, इरानी, बुंदेले, मराठे, जाट, सिक्ख, अफगानी आदि सभी हैं। इन सब में आपसी स्वार्थों के कारण सदैव संघर्ष होते रहे। इनमें से कोई भी चाहता तो बादशाहत अपने हाथ में ले सकता था किंतु सभी ने नाम मुगलों का ही बनाए रखा और सब लोग आपस में निरंतर लड़ते रहे। कितनी ही बार एक बादशाह को मारकर किसी दूसरे को बादशाह बना देने के उदाहरण मिलते हैं। मुगल परिवार की दयनीय दशा थी। वे नाम मात्र के बादशाह रहे। मराठे चाहते तो दिल्ली के बादशाह हो सकते थे किंतु उन्होंने ऐसा कोई प्रयत्न नहीं किया। दिल्ली में मराठों के प्रभाव को बढ़ते हुए देखकर अफगानों ने अपना प्रभाव बढ़ाना शुरू किया। दोनों में भयंकर संघर्ष हुआ जिसका निर्णय पानीपत के तीसरे युद्ध ने किया। इस युद्ध के बाद मराठों की शक्ति क्षीण हो गई। इतिहास लंबा है। ये सब लिखने का तात्पर्य केवल इतना है कि दिल्ली के मुगल राजपरिवार के प्रति ईश्वरी राजपरिवार का भाव सदैव देखने में आया। सभी शक्तियों ने दिल्ली के मुगल परिवार का संमान एक राजपरिवार के रूप में किया और उन्हें भारत का सम्राट् माना। यहाँ तक कि १८५७ ई० में जब क्रांति हुई तो बहादुरशाह जफर को दिल्ली का बादशाह घोषित किया गया। यह स्थिति केवल दिल्ली की ही रही हो यह बात नहीं। अन्य राज्यों में जो राजपरिवार थे उनका वंशानुगत अधिकार उनपर रहा है। राजपरिवार में अयोग्य या नाबालिग उत्तराधिकारी होने पर राजमाताओं ने या सामंतों ने उत्तराधिकारी के नाम पर स्वयं शासन किया है किंतु किसी ने भी स्वामिभक्ति में कमी नहीं दिखाई। वास्तव में बहुत से युद्ध केवल इसी बात पर हुए कि उत्तराधिकार किसे मिले। राजपरिवार के दुर्बल होने पर मंत्रियों ने ही शासन अपने हाथ में ले लिया और मंत्री कहलाते हुए शासन करते रहे। मराठों का इतिहास इसी प्रकार का है। मुगलों के बाद अंगरेजों से आने के पूर्व यदि कोई बड़ी शक्ति थी तो वह मराठों की थी किंतु मराठों में वास्तविक शासन पेशवों का रहा है। पेशवे मंत्री थे जो बाद में शासक बन गए (शाहू की मृत्यु के बाद)। शाहू को कोई संतान नहीं थी। ऐसी स्थिति में शिवाजी के वंशजों का—राजाराम के वंशजों—का शासन स्वतंत्र रूप से सातारा में और बाद में कोल्हापुर में बराबर चलता रहा और पेशवों ने भी उनका संमान मराठा राजा के रूप में सदैव किया। हर समय जब पेशवा बदलते थे तो बदलने की रस्म शाहू के समय में जैसी थी वैसी ही होती थी। पेशवे वास्तविक शासक होते हुए भी औपचारिक नियमों का पालन करते थे। उन्होंने अपने आको

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वास्तविक राजा किसी भी समय घोषित नहीं किया तो ऐसी स्थिति में उनका दिल्ली का राजा बनना कैसे संभव हो सकता था। मराठों की वास्तविक राजधानी पूना होते हुए राजा की दृष्टि से राजधानी सातारा या कोल्हापुर रही। इस तरह हम देखते हैं कि वीरकाव्यों में राजाओं के प्रति जैसी भावना व्यक्त की गई है, वह भावना हमारे देश में मौजूद थी। हनुमान ने बड़े बड़े कार्य किए किंतु फिर भी वे हनुमान ही रहे। राम नहीं हो सके। इसी तरह भारत का शासन इस लंबे समय में वास्तव में राम ने किया ही नहीं हनुमानों ने ही किया है किंतु हनुमानों का नाम हम राम के परिपेक्ष्य में ही लेते हैं और राम के दुर्बल होने के कारण हनुमान के गौरव को कम कर देते हैं। हमारे यहाँ राजनीतिज्ञों की कमी नहीं थी। किंतु उनका नाम राजा के रूप में नहीं लिया जाता। उनका नाम उनके पदानुसार ही लिया जाता है, इसी से भारत के त्यागी, स्वामिभक्त और देश के लिये मर मिटनेवाले अनेकों के अनमोल, नाम हम नहीं जानते। हमारे देश का इतिहास इस रूप में लिखा ही नहीं गया। हमारे देश में तुलसी के शब्दों में कहना चाहें तो यह कह सकते हैं कि— 'मनियत सबै राम के नाते'। किंतु राम यदि राम हैं तो ठीक है। वास्तविकता यह रही कि राम तो राम नहीं रहे अतः हनुमानों को ही काम करना पड़ा है। राजाओं के राजवंश को बनाए रखने में कितने ही हनुमानों ने अपने प्राणों का त्याग किया है और इनका इतिहास अज्ञात है या यदि ज्ञात भी है तो उपेक्षणीय रहा है। उनके प्रति हमारी सांस्कृतिक भावना वैसी नहीं है जैसी राजाओं के प्रति है। हनुमान अपने आप में बलवान होते हुए भी जब राम का गुण गाता है तो हनुमान के गुण गानेवाले भी राम का गुणगान करेंगे ही ऐसी स्थिति में कवियों ने भारत की सांस्कृतिक मान्यता के अनुसार यदि राजाओं का गुणस्तवन किया है तो उन्हें दोष नहीं दिया जा सकता। कवि स्वयं उस प्रकार के जीवन के अभ्यस्त हो गए थे। एक प्रकार से हमारी संस्कृति अभिजात सामंतों की संस्कृति थी। यह हमें प्राचीन काल से परंपरा के रूप में प्राप्त थी। संस्कृत काव्यों में दरबारी कवियों की जो परंपरा चली आ रही थी उसी का निर्वाह उस युग के हिंदी कवियों ने भी उसी रूप में करने का प्रयत्न किया। किंतु यहाँ संस्कृत के कवियों में और हिंदी के कवियों में अंतर है और सब से बड़ा अंतर है सांस्कृतिक रूप से राजनैतिक स्वतंत्रता का अर्थात् संस्कृत कवियों ने भारत की पराधीनता का वैसा अनुभव हर्ष के काल तक नहीं किया था जैसा बाद के इन कवियों अर्थात् हिंदी के कवियों ने किया। संस्कृत के दरबारी कवियों ने शृंगार का खुलकर वर्णन किया है। इसके साथ साथ उन्होंने नीति संबंधी साहित्य भी लिखा है। यह प्रवृत्ति हिंदी कवियों में भी है। हिंदी कवियों ने भी दरबारों में शृंगार की प्रवृत्ति को जीवित ही नहीं रखा बल्कि उसको बहुत आगे बढ़ाया, कहें तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। हिंदी कविता के इस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गुण की स्वयं आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने भी प्रशंसा की है। वे लिखते हैं—'इन रीति ग्रंथों के कर्ता भावुक, सहृदय और निपुण कवि थे। उनका उद्देश्य कविता करना था, न कि काव्यांगों का शास्त्रीय पद्धति पर निरूपण करना। अतः उनके द्वारा बड़ा भारी कार्य यह हुआ कि रसों (विशेषतः शृंगार रस) और अलंकारों के बहुत ही सरस और हृदयग्राही उदाहरण अत्यंत प्रचुर परिमाण में प्रस्तुत हुए। ऐसे सरस और मनोहर उदाहरण संस्कृत के सारे लक्षण ग्रंथों से चुनकर इकट्ठा करें तो भी उनकी इतनी संख्या न होगी।'[४४] किंतु इस शृंगारवाली प्रवृत्ति में और संस्कृत की शृंगारवाली प्रवृत्ति में भी अंतर है। यह अंतर ऐतिहासिक परिस्थितियों के कारण है और इसकी प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति वीरकाव्यों में देखने को मिलती है। वीरकाव्यों में वीरता के साथ साथ शृंगार का भी प्रचुर योग हुआ है। बहुत कम वीरकाव्य (भूषण जैसों को छोड़कर) शृंगार को छोड़कर लिखे गए होंगे, रासो काव्यों में तो शृंगार और वीरता दोनों एक दूसरे के अंगीभूत बनकर अवतरित हुए ही हैं किंतु इस युग में भी यह प्रवृत्ति रही है। हिंदी कवियों के सामने परिस्थिति बड़ी विकट थी। उनकी संस्कृति खतरे में थी। नारियों को अपहरण से बचाना था। शासन आक्रमणकारियों का था। उनसे लड़ना था। राजनैतिक स्तर पर समझौता हो जाने पर भी सांस्कृतिक मूल्यों की रक्षा के लिये फिर लड़ना पड़ता था। ऐसी स्थिति में वीरता की मौत मरना ही उनके लिये श्रेय था। जौहर की रस्मों में कितनी स्त्रियों ने सतीत्व की रक्षा के लिये प्राण दिए हैं। इसी तरह युद्ध में पति के मर जाते ही स्त्रियाँ सती हो गई हैं। युद्ध जीवन का अंग बना हुआ था जिसकी संभावना हर क्षण बनी हुई थी। टाड ने इस संबंध में लिखा है—'कन्याओं को मार डालने, सती होने और जौहर व्रत पालन करने की प्रथाओं को अपने जीवन में आश्रय देकर राजपूतों ने अपने जिस स्वाभिमान और स्वातंत्र्य का परिचय दिया था, वह संसार में अन्यत्र आसानी से देखने को न मिलेगा। जिन जातियों के इस प्रकार के आचरणों के थोड़े बहुत आभास संसार के जिन लोगों में मिलते थे, राजपूत उनमें प्रधान थे। इस प्रकार की प्रथाएँ स्वाभिमानी राजपूतों के बलिदानों का परिचय देती है। संसार के जिन लोगों में बलिदान होने की शक्ति नहीं होती, वे कभी स्वतंत्र नहीं रह सकते। बलिदानों की शक्ति मनुष्य की श्रेष्ठता का प्रमाण देती है।'[४५] ऐसी स्थिति में नारी के शृंगार का

४४. हिंदी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचंद्र शुक्ल (नौवाँ संस्करण), पृ० २३६-२३७।

४५. टाड कृत राजस्थान का इतिहास, पृ० ३३६।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वर्णन केवल शृंगारी रूप में नहीं किया जा सकता था। रूपनगर की राजकन्या चारुमती (रूपनगर किशनगढ़ में है) के साथ औरंगजेब विवाह करना चाहता था। चारुमती के पिता रूपसिंह का देहांत हो गया था। उसके भाई मानसिंह को यह प्रस्ताव विवश होकर स्वीकार करना पड़ा। किंतु राजपूत कन्या इसे स्वयं स्वीकार करने के लिये कैसे तैयार होती। उसके मनोभावों को मान कवि के शब्दों में ही सुनिए—

गिरि सृंग उतंगनि तैं यु गिरौं, कुल कज्ज हलाहल पान करौं।
जरतै भर पावत कुंज जरौं, बरिहौं सुर, आसुर हौं न बरौं॥
जिन आनन रूप लँगूर जिसौं, पल सर्वं भखैं सुर सौं युग सौं।
जिन नाम मलेछ पिसाच जनौ, सुर ही रिपु हौं नन स्याम मनौं॥
मन सोचति हो उपज्यौ सु मनौ, छिति छत्रपती वर हिंदु छतौं।
श्री राजसि राण खूँमाण सदा, अब ओट गहौं तिनकी सु मुदा॥
पुहवी नन ता सम छत्रपती, रवि बंस विभूषण भाल रती।
घर आसुरि मारन हिंदु धनी, सरनै मो रक्खन सोइ धनी॥
लहि औसरि सुंदरि पत्र लिखै, चित्रकोट धनी अवरूँ यु रखैं।
हरि ज्यौं सु रुक्मनि लाज रखी, अबला यौं राखहु आस मुखी॥[४६]

फलतः राणा राजसिंह ने औरंगजेब का विरोध कर चारुमती से विवाह कर लिया। स्त्रियों के प्रति राजपूतों की भावना के संबंध में टाड ने लिखा है—'यह सभी स्वीकार करते हैं कि राजस्थान में स्त्रियों को राजपूतों ने जो संमान दिया है वह किसी दूसरे देश में नहीं मिलता। संसार की किसी जाति ने स्त्रियों का उतना आदर नहीं किया, जितना कि राजपूतों ने किया है।[४७] इसी तरह राजपूतों की चारित्रिक विशेषताओं के संबंध में भी टाड लिखता है—'राजपूतों के जीवन के साथ सिद्धांतों का अटूट संबंध है, जिनका वे युद्ध के समय अपने शत्रुओं के साथ भी करते हैं और युद्ध समाप्त हो जाने के बाद उन सिद्धांतों और नैतिक व्यवहारों का समर्थन करते हैं। लड़ाकू राजपूतों में उनके पूर्वजों के गुणों का जितना सामंजस्य मिलता है, उतना अन्यत्र न मिलेगा। बाप दादों की चाल छोड़ देनेवालों से वे घृणा करते हैं और उनको असंमानपूर्ण नेत्रों से देखते हैं।[४८] इन परिस्थियों में कवियों ने इन चारित्रिक

४६. राजविलास, सं० मोतीलाल मेनारिया, सप्तम विलास, छं०सं०२७से ३१।
४७. टाड कृत राजस्थान का इतिहास, पृ० ३१० एवं ३११।
४८. वही, पृ० ३०९ – ३१०।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विशेषताओं के साथ अपने नायकों का गुणस्तवन किया है। आक्रमणकारी जो भी आए उनमें ये चारित्रिक विशेषताएँ नहीं थी। अतः उन्होंने इनकी विशेषताओं का लाभ उठाया और यहाँ के नरेश उन नियमों का पालन करते हुए मर मिटे। विलास में उन्होंने कमी नहीं की और अपने विलास का ही परिणाम उनको भोगना पड़ा। विलास से उनकी नींद नहीं खुलती थी और शत्रु सिर पर आ सवार होता था ऐसी स्थिति में मर मिटना ही उनके लिये शेष रह जाता था। उनकी प्रशंसा इसी बात के लिये की जानी चाहिए कि उन्होंने अपना बलिदान किया किंतु अपने मूल्यों की रक्षा करते रहे। भारत पर जब मुसलमानों के आक्रमण हो रहे थे उस समय भारत के नरेशों की विलासप्रियता का वर्णन डा० बुद्धप्रकाश ने इस प्रकार किया है—'साहित्य और इतिहास इस बात का साक्षी है कि जब मुसलमान सेनाएँ दुर्गों के द्वारों को तोड़ रही थी तो परमर्दि मग्न स्त्रियों का नाच देख रहा था, लक्ष्मणसेन मातंगी से खेल कर रहा था, पृथ्वीराज नींद से ऊँघ रहा था और हरिराज नर्तकियों पर और वेश्याओं पर कोश खाली कर रहा था। गुजरात के चार हजार मंदिरों में बीस हजार से ज्यादा देवदासियाँ थीं। जो कुछ मंदिरों के अंदर होता था वही उनकी बाहरी दीवारों पर चित्रित किया जाता था।[४९] यह स्थिति आरंभ की थी किंतु बाद में इस काल में भी राजाओं और सामंतों की यही स्थिति थी। यदि ऐसा न होता तो रीतिकाल में इतने अधिक परिमाण में श्रृंगारी साहित्य नहीं लिखा जाता। नायक नायिका भेद पर हिंदी में पाए जानेवाले प्रचुर साहित्य को देखकर तत्कालीन राजाओं की या सामंतों की मनोवृत्ति और रुचि का सहज ही में परिचय मिल जाता है। सार बात यह है कि संस्कृत कवियों में और हिंदी कवियों में भी पारंपरिक दृष्टि से आदर्श वही रहा किंतु हिंदी कवियों ने जब रचनाएँ कीं उस समय हिंदू संस्कृति का उन्नत काल नहीं था। संस्कृत के कवियों ने स्वाधीनता का अनुभव किया था। हिंदी कवियों को ऐसा अवसर नहीं मिला। उन्हें अतीत को जीवित रखने के प्रयत्न में त्याग और बलिदान के उदाहरण मिले। अतः इस युग के कवियों ने बलिदानों की गाथा ही लिखी है, विजय की गाथा नहीं। राजपूतों के युद्ध प्रायः रक्षात्मक ही मिलते हैं। आक्रमण करना और किसी प्रांत पर विजय प्राप्त कर साम्राज्य बढ़ाने की ओर उन्होंने कम ध्यान दिया है। महाराणा प्रताप का उद्देश्य चित्तौड़ प्राप्त करना ही था। अकबर को दिल्ली से हटाने की बात उन्होंने नहीं सोची थी। यह दूसरी बात है कि चित्तौड़ को वे प्राप्त नहीं कर सके और यह काम वे अपने पुत्र अमरसिंह को सौंप गए। इन ऐतिहासिक परिस्थितियों में कवियों का योगदान भी उसी के अनुरूप रहा है। जैसा कि पहले ही कह दिया गया है कि इस युग के कवियों में भी सामंतीय

४९. नागरीप्रचारिणी पत्रिका, मालवीय शती विशेषांक, सं० २०१८, पृ० ४४६।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाव थे। उनका व्यक्तित्व राजाओं के व्यक्तित्व से मिला हुआ है। वे सामंतों या राजपरिवार के सदस्य बनकर रहे हैं एवं उनके गुण दोषों से पूर्णतः अवगत रहे हैं। कवियों के काव्यों में जिस प्रकार की भावनाएँ व्यक्त हुई हैं, वे भावनाएँ यदि अतिशयोक्ति न हों तो कह सकते हैं कि वे राजपूत राजाओं के जीवन की सच्ची भावनाएँ थी।

मध्यकाल में कुछ वीरकाव्य शृंगार रहित लिखे गए हैं। इनमें भूषण का नाम सर्वोपरि है। पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने इस प्रकार के वीरकाव्यों को शुद्ध वीरकाव्य कहा है।[५०] भूषण के नायक छत्रपति शिवाजी थे। ऐतिहासिक दृष्टि से छत्रपति शिवाजी के संबंध में कहना उपयुक्त होगा। भारतवर्ष की प्राचीन परंपरा के अनुसार जो आदर्श बने हुए थे, छत्रपति शिवाजी उस आदर्श के समर्थक थे। जिन आदर्शों का पालन राजपूत करते आ रहे थे, उन्हीं आदर्शों का पालन छत्रपति शिवाजी ने भी किया। अंतर केवल इतना है कि छत्रपति शिवाजी ने सद्गुणों को ग्रहण किया और उन गुणों का त्याग किया जिनसे उद्देश्य प्राप्ति में बाधा होती। शादी व्याह के लिये छत्रपति शिवाजी ने कोई युद्ध नहीं किया। उनके प्रणय की कोई कथा राजनैतिक स्तर पर नहीं मिलती। राजपूतों में विवाह राजनैतिक स्तर पर होते थे अतः विवाह सामाजिक या पारिवारिक कार्य होते हुए भी उसका प्रभाव उनके राजनैतिक जीवन पर भी पड़ता रहा है। इसी से उन्हें बहुत नुकसान उठाना पड़ा है। ऐसी बात शिवाजी के साथ नहीं थी। राजपूतों के सभी उच्चादर्श छत्रपति ने अपने जीवन में अपनाए हैं। यहाँ तक कि उनका वंश मेवाड़ के वंश से संबद्ध बतलाया गया है। सरदेसाई और सभासद बखर एवं अन्य तत्कालीन ग्रंथों में उन्हें शिसौदिया वंश का बतल या गया है। ऐसी पूरी वंशावली भी दी गई है। यही नहीं उन्होंने गागाभट्ट नामी प्रकांड काशीवासी पंडित से प्राचीन पद्धति से अपना राज्याभिषेक भी किया। भारतवर्ष के इतिहास में मुसलमानों के आगमन के बाद ऐसा कोई उदाहरण नहीं मिलता जिसमें विधिविधान के साथ भारतीय पद्धति से राज्याभिषेक कराया गया हो। शिवाजी का जीवन विलासिता का जीवन नहीं है। अतः विलासिता के कारण राजपूतों को जो हानि उठानी पड़ी, शिवाजी को वैसी हानि नहीं उठानी पड़ी। शिवाजी की महत्वकाक्षाओं का अनुमान उनके इस निम्नलिखित पत्र से लगाया जा सकता है, जो उन्होंने जयसिंह को लिखा था—

५०. हिंदी साहित्य का अतीत, भा०२; शृंगारकाल, पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ० ७००।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'ओ महाराज, यद्यपि आप एक बड़े क्षत्रिय हैं, तथापि अपनी शक्ति का प्रयोग बाबर के वंश की वृद्धि की लिये करते आए हैं और रक्तवर्णवाले मुसलमानों को विजयी बनाने के लिये हिंदुओं का खून बहा रहे हैं। क्या आप इस बात को नहीं समझ रहे हैं कि इस तरह से पूरे जगत के सामने अपनी कीर्ति को कलंकित कर रहे हैं ? यदि आप मुझे जीतने के लिए आए हैं तो मैं आपकी राह में अपना सिर बिछा देने के लिये तैयार हूँ- पर चूँकि आप सम्राट् के प्रतिनिधि होकर आए हैं, इसलिये मैं इस बात का निश्चय नहीं कर पा रहा हूँ कि आपके साथ कैसा व्यवहार करूँ। यदि आप हिंदू धर्म की ओर से लड़ें तो मैं आपके साथ सहयोग करने और आपकी सहायता करने के लिये तैयार हूँ। आप वीर एवं पराक्रमी हैं। एक शक्तिशाली हिंदू राजा की हैसियत से आपके लिये सम्राट् के विरुद्ध नेतृत्व ग्रहण करना ही शोभा देता है। आइए हम लोग चलें, और दिल्ली के ऊपर विजय प्राप्त कर लें। हमारा मूल्यवान रक्त अपने प्राचीन धर्म की रक्षा और अपने प्यारे पूर्वजों को संतुष्ट करने के लिये बहे ?'[५१]

इस पत्र के आधार पर छत्रपति की भावी योजना और उनके आदर्श ध्येय की कल्पना की जा सकती है। यही नहीं छत्रसाल बुंदेला स्वयं उनके पास उनकी सेना में भर्ती होने आए तो उन्होंने यही सलाह दी कि उत्तर में जाकर वे भी उनकी तरह अपना राज्य स्थापित कर मुगलों का विरोध करें। छत्रसाल ने यही किया। शिवाजी की इस महत्वकांक्षा को औरंगजेब ने अच्छी तरह पहचान लिया था। वह जानता था कि शिवाजी का वार सीधा उसी पर है। इसी लिये उसने अपने जीवन का एक बड़ा भाग मराठों से लड़ने में खर्च किया। दक्षिण में स्वयं उसको लड़ना पड़ा। यहाँ तक कि शिवाजी की मृत्यु के बाद भी वह उसके पुत्र के विरोध में दक्षिण में बहुत दिनों तक इसी उद्देश्य से टिका रहा कि शिवाजी की योजना को असफल कर दे। उसे यह भय था कि संभाजी और उसका पुत्र अकबर उसे धोखा दे सकते हैं। संभाजी को तो उसने पकड़ कर उसकी हत्या करवा दी। किंतु शिवाजी की नींव इतनी मजबूत थी कि वह नष्ट नहीं हो सकी। कथा लंबी है। तात्पर्य यह है कि इतिहास में हमें शिवाजी अकेले इस रूप में मिलते हैं, जिनका लक्ष्य दिल्ली को प्राप्त करना था। इतना ऊँचा लक्ष्य रखने के कारण ही वे एक छोटी सी जागीर से आरंभ कर एक मजबूत राज्य की नींव डाल गए, जिनके अधीन दक्षिण का एक बड़ा भाग था। दक्षिण की अपने आसपास की शक्तियों से लड़ते हुए भी उन्होंने दिल्ली की ओर अपनी दृष्टि रखी। अखिल भारतवर्ष ने उन्हें देश का रक्षक और त्राता के

५१. मराठों का इतिहास, गोविंद सखाराम सरदेसाई, पृ० ६६।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रूप में उसी समय स्वीकार कर लिया था। शिवाजी के संबंध में जनभावना को भूषण ने अपने काव्य में बड़ी शक्ति के साथ व्यक्त किया है।

शिवाजी के बाद में मराठों ने बहुत अधिक उन्नति की। यहाँ तक कि वे दिल्ली तक पहुँच गए और वे चाहते तो दिल्ली के शासक हो सकते थे। ऐसी अवस्था में प्रश्न है कि उन्होंने दिल्ली को अपना लक्ष्य क्यों नहीं बनाया? इसका उत्तर भी है। सबसे बड़ा कारण सांस्कृतिक दृष्टिकोण का है, जिसकी चर्चा पहले कर दी गई है। मराठों के इतिहास की दृष्टि से उसका संक्षिप्त विवेचन करना उचित होगा। संभाजी की मृत्यु के बाद मराठों ने राजाराम को शासक बना दिया और शिवाजी के आदर्श का पालन करते रहे। संभाजी के साथ उसका पुत्र, जिसका वास्तविक नाम शिवाजी था, और जो बाद में औरंगजेब द्वारा शाहू कहे जाने के कारण शाहू नाम से ही विख्यात हुआ, पकड़ लिया गया। उसे औरंगजेब ने दिल्ली भेज दिया और अपने आश्रय में रखा। उसका बालपन मुगलों के निकट संपर्क में बीता अतः मुगल राजवंश के संस्कारों से वह जीवन भर प्रभावित रहा। बाद में औरंगजेब की मृत्यु के बाद जब वह महाराष्ट्र लौटा और उसने अपने अधिकार को पुनः प्राप्त करने के लिये संघर्ष किया उस समय उसे ताराबाई से लड़ना पड़ा। बालाजी विश्वनाथ नामी विश्वासी पेशवे की सहायता से वह अपना राज्य स्थापित करने में सफल हो गया। इसमें मुगल बादशाहों ने शाहू को सहयोग दिया था क्योंकि शाहू का उनसे व्यक्तिगत संपर्क रहा था और कमजोर होने के नाते वे शाहू के सहयोग से अपने राज्य की समृद्धि चाहते थे। ताराबाई ने असफल होने पर भी जीवन भर अपना अस्तित्व एक राजनैतिक शक्ति के रूप में बनाए रखा और शाहू की मृत्यु के बाद शाहू को कोई संतान न होने के कारण उस वंश को आगे बढ़ाया। शिवाजी के वंशजों की सत्ता बनाए रखने में ताराबाई का महत्वपूर्ण हाथ रहा है। यहाँ यह सब लिखने का अभिप्राय यह है कि छत्रपति शिवाजी और शाहू की तुलना उनकी महत्वकांक्षाओं के आधार पर की जाय। इसमें किसी की दो राय नहीं हो सकती कि मराठों के इतिहासों में शाहू जैसा उदारमना और लंबे समय तक समृद्धि के साथ राज्य की सीमाओं को बढ़ाकर मराठों के उत्कर्ष को बढ़ानेवाला राजा दूसरा नहीं हुआ। उसी के समय में पेशवों ने राज्य की उन्नति में राजा के प्रति स्वामिभक्ति का सच्चे अर्थों में परिचय दिया था। शाहू के समय में शाहू वास्तव में शाहू रहा और पेशवे, अपने पदानुसार पेशवे रहे। किंतु बाल्यावस्था के मुगल संस्कारों के कारण उसके मन में मुगलों के प्रति विरोधी भाव कभी उस तीव्रता के साथ नहीं उठा जिस तीव्रता के साथ शिवाजी के मन में उठा था। उसने कभी दिल्ली की सत्ता को समाप्त करने की बात सोची ही नहीं। इस संबंध में उसकी मानसिक अवस्था का वर्णन करते हुए सरदेसाई लिखते हैं — 'सच तो यह है कि जब उसने (शाहू ने) इस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बात की प्रतिज्ञा की कि वह सदैव दिल्ली के अधीन रहकर उसके प्रति राजभक्ति दिखाता रहेगा और आवश्यकता पड़ने पर सम्राट की आज्ञाओं का पालन करेगा, तभी उसे मुक्ति मिली और उसे नर्मदा पार अपने देश को लौट जाने की आज्ञा मिली (यहाँ ध्यान रखने की बात यह है कि उसने ७ वर्ष से २५ वर्ष की अवस्था तक युवाकाल के महत्वपूर्ण १८ वर्ष का जीवन मुगलों के कारावास में बिताया था और उसके मन में उनकी महत्ता की छाप पड़ गई थी, जिसे वह जीवन भर नहीं भूल सकता था)। शाहू स्वभाव से धर्मभीरु और ईश्वर से डरनेवाला था, अतः उसने सचाई के साथ अपनी प्रतिज्ञा का पालन किया और इसके बाद जब कभी उसके सलाहकारों ने मुगल साम्राज्य के विरुद्ध खुल्लमखुल्ला लड़ाई छेड़ने का लालच दिखाया या उससे प्रार्थना की तो उसने दृढ़ता के साथ सबका अवरोध किया। उसके पितामह शिवाजी ने डंके की चोट मुसलमानी शासन का विरोध करके अपना जीवनकार्य आरंभ किया था और इस बात की पूरी आशा व्यक्त की थी कि उसका दमन करके वह अपने स्वतंत्र राज्य की स्थापना कर लेगा। शाहू ने दूसरी ओर, इस स्थिर सिद्धांत को बिल्कुल ही छोड़ दिया जिसके लिये उसके पिता और चाचा सम्राट के साथ पचीस वर्षों तक लड़े थे। उसने अपने सेनापतियों तथा मंत्रियों को आदेश दिया कि वे केंद्रीय मुगल सत्ता को हानि पहुँचाए बिना, अपने लिये नए प्रभाव एवं क्रिया क्षेत्र स्थापित कर लें।[५२] इसी तरह पेशवों की महत्वकांक्षाओं को भी जानना चाहिए। पेशवे शाहू की तुलना में अधिक महत्वाकांक्षी थे। अनेक मराठा सरदार पेशवों को शिवाजी के आदर्श का स्मरण दिलाते थे और स्वयं पेशवे भी शिवाजी के आदर्शों के अनुसार राज्य की सीमाओं को बढ़ाकर हिंदू-पद-पादशाही की स्थापना का स्वप्न देखते थे। उनकी इन महत्वाकांक्षाओं का ही परिणाम था कि दिल्ली तक में उन्होंने अपना प्रभाव बना लिया था। पेशवों को एक प्रकार से दो कार्य करने थे। एक तो उन्हें शिवाजी के आदर्शों को पूर्ण करने का प्रयत्न करना था और दूसरे उन्हें शाहू के लिये आराम के साधन जुटाना था। यह पहले ही कहा गया है कि शाहू उदारमना और विलासी प्रवृत्ति का था। दूसरी ओर उन्हें अपनी महत्वाकांक्षाओं के अनुसार कार्य भी करना था। पेशवों की महत्वाकांक्षाओं को यदि शाहू का समर्थन प्राप्त होता तो मराठों का इतिहास दूसरे ढंग से लिखा जाता। पेशवे शाहू के आज्ञाकारी थे अतः उन्होंने बीच का मार्ग अपनाया। मराठा साम्राज्य की सीमाओं को बढ़ाते हुए भी उन्होंने शाहू की भावनाओं और उसकी सहृदयता का सदैव आदर किया और उसके प्रति अंत तक ईमानदार बने रहे।

५२. वही, पृ० १६।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऐसी स्थिति में सच्चे कर्ता-धर्ता पेशवा होते हुए भी शाहू के व्यक्तित्व की उनपर अमिट छाप थी। मुगलों के इतिहास में जो स्थान अकबर का है, कुछ उसी प्रकार का ही नहीं, बल्कि और भी महत्वपूर्ण कहें तो अतिशयोक्ति नहीं होगी, मराठों के इतिहास में शाहू का है। वास्तव में मराठों की श्री, समृद्धि और उत्थान को व्यवस्थित ढंग से विकास की ओर मोड़ने का श्रेय भी शाहू को है। सार बात यह है कि पेशवे ऊँचे इरादे रखने पर भी शाहू की मनःस्थिति से प्रभावित थे। उनमें अपने आपको स्वतंत्र घोषित करने का साहस नहीं था। यों कहिए कि शाहू के माध्यम से ही वे शिवाजी के कोल्हापुरवाले वंशजों से लड़ते रहे और मुगलों से भी अपना संबंध सुविधाजनक बनाने में सफल हो सके। शाहू की मृत्यु के बाद परिस्थिति बिल्कुल दूसरी हो गई। शाहू की मृत्यु के बाद पेशवे सर्वसर्वा हो गए और अब वे मनमानी कर सकते थे किंतु इस समय तक परिस्थितियाँ बदल चुकी थीं। यह ध्यान रखने की बात है कि योग्य पेशवे शाहू के काल में ही हुए। बाद में पेशवों की स्वयं की स्थिति भी बड़ी डावाँडोल हो गई। सबसे बड़ा कारण तो यह है कि फूट के कारण स्वयं पेशवों में उत्तराधिकार का झगड़ा था। पेशवे आपस में ही लड़ते रहे और इस बीच मराठा सरदार जिनमें विशेष रूप से होलकर, भोंसले, गायकवाड़ और सिंधिया का नाम प्रमुख रूप से लिया जा सकता है, वे सभी पेशवों के उत्तराधिकार में अपने अपने स्वार्थों को लेकर दिलचस्पी लेते रहे। इनमें भी आपस में फूट थी। अब शक्ति पेशवों में और मराठा सरदारों में बँट गई और मराठा सरदार के प्रबल हो जाने के कारण पेशवे दुर्बल हो गए। इसी बीच अंगरेज भी आ गए। अतः संगठित रूप से अंगरेजों ने भी इन्हें मिलने का अवसर नहीं दिया। वे इन्हें नचाते रहे। शाहू के बाद पेशवों के शासन को बनाए रखने में सबसे बड़ा कार्य नाना फड्नवीस ने किया। अपने समय का वह सबसे बड़ा कूटनीतिज्ञ था। उसके जीते जी अंगरेज अपनी कूटनीति में सफल नहीं हो सके। शाहू के बाद का मराठा शासक एक प्रकार से नाना ही रहा। पेशवे उसी की आज्ञा का पालन करते थे और मराठा सरदार भी उसकी दाद देते थे। एक प्रकार से वह मराठा सरदारों और पेशवों को जोड़नेवाली कड़ी रूप में सिद्ध हुआ है। मराठों के इतिहास में शिवाजी के बाद शाहू और शाहू के बाद नाना ये तीनों व्यक्ति ही ऐसे हुए हैं जो अपने अपने काल में अंतिम शब्द कहने का अधिकार रखते थे। इनमें शिवाजी और शाहू के संबंध में उनकी महत्वाकांक्षाओं का विवेचन ऊपर किया जा चुका है। अब नाना की महत्वाकांक्षाओं का भी संक्षेप में विवेचन करना तो ठीक होगा किंतु उनका संबंध प्रस्तुत निबंध से न होने के कारण यहाँ इतना ही जान लेना पर्याप्त होगा कि शिवाजी और शाहू के समय में लक्ष्य दिल्ली का था किंतु नाना के समय में लक्ष्य मुगलों की ओर से हटकर अंगरेजों की ओर चला गया और यह नाना की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कूटनीति और दूरदर्शिता का ही परिणाम था कि अंगरेज पूना में उसके जीते जी अपना कदम नहीं जमा सके। नाना की सारी शक्ति मराठों को संगठित करने में और अंगरेजों से देश की रक्षा करने में खर्च हुई है। प्रस्तुत विषय पर आते हुए अब हम यह कह सकते हैं कि शिवाजी के समान दिल्ली पर सीधा वार करनेवाला कोई नहीं हुआ। नाना के पास समय नहीं था और वैसी शक्ति भी नहीं थी। परिस्थितियों के कारण लक्ष्य और उद्देश्य बदले हुए थे।

भूषण ने शिवाजी को राम कहा है और ठीक ही कहा है। शाहू के समय में शाहू राम थे और पेशवे हनुमान। यह ऐसा समय था जब राम ने राम का काम किया और हनुमान ने हनुमान का। शाहू के बाद राम राम नहीं रहे सारा कार्य हनुमान ने किया किंतु वे अपने को राम घोषित नहीं कर सके। अर्थात् पेशवे पेशवे ही रहे। वे शाहू के समान स्वयं को खुल्लमखुल्ला सत्ताधारी नहीं कह सकते थे। हर समय जब पेशवों में परिवर्तन होता था तो औपचारिक रूप से नाम मात्र के राम जो सातारा या कोल्हापुर में रहते थे, उनसे आज्ञा लेते थे। पेशवों में फिर नाना नाम के हनुमान हुए जिनमें दो नामों का अंतर पड़ता था अर्थात् एक नाना के राम स्वयं पेशवे थे और पेशवों के राम सातारा में थे। सांस्कृतिक मान्यता यही थी। और इस मान्यता का समर्थन भारतीय जनता कर रही थी। नानारूपी हनुमान के समाप्त होते ही पेशवेरूपी राम जो पहले ही निर्बल थे और कमजोर हो गए। कोल्हापुर और सातारा की तो उससे भी दयनीय अवस्था थी। यहाँ पर एक प्रकार से शासक के संबंध में भारतीय मान्यता का विश्लेषण करने का प्रयास किया गया है। वास्तविक शासक चाहे जो रहा हो नाम राम का ही होना चाहिए। यह भारतीय मान्यता रही है, इसी से हनुमानों ने सारी शक्ति को अपने में समेटते हुए भी राम की सत्ता को भारतीय संस्कृति की रक्षा करने के हेतु बनाए रखने का पूरा पूरा प्रयत्न किया है। राजा लोग भी कठपुतली होते हुए अपने को राजा समझते थे और उनमें राजा होने का स्वाभाविक भाव मनोवैज्ञानिक दृष्टि से और पारस्परिक दृष्टि से बना हुआ था। सातारा और कोल्हापुर के शासकों में शिवाजी के वंशज राज करते रहे और उनमें वह दुर्बल क्यों न हो, राजभावना बनी रही और उस भावना का पूना द्वारा भी सांस्कृतिक अवसरों पर सदैव समर्थन होता रहा। भारतीय इतिहास के इस रहस्य को समझे बिना उसका मूल्यांकन नहीं किया जा सकता। हमारे देश के प्रत्येक राजवंश का इतिहास इसी से मिलता जुलता है।

भारतीय नरेशों के संबंध में प्रचलित सांस्कृतिक मान्यता का संक्षिप्त में विवेचन ऊपर किया गया है। यह विश्लेषण अपने आप में राजाओं की स्थिति का ज्ञान करा सकता है। हमारे देश के कवि और विशेष रूप से मध्यकाल के कवि इन्हीं नरेशों का गुणस्तवन किया करते थे। जब देश की जनता उन्हें नरेश मानती है तो कवि क्यों न

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

माने ? जब नाना पेशवे की मुहर चाहता था और पेशवे सातारा की मुहर चाहते थे तो कवि तो इतने शक्तिशाली थे नहीं। वे तो अंतिम शक्ति का गुण गाना ही उपयुक्त समझते थे और इसी में उनका हित था और चूँकि यह अंतिम शक्ति, भले ही नाममात्र की क्यों न हो, थी तो अंतिम शक्ति ही और देश के हनुमान इनकी अपनी सारी शक्ति लगाकर सहायता करते ही थे। इन हनुमानों को यदि जनभावना का भय न होता तो राजवंशों को अँगरेजों के आगमन तक ज्यों के त्यों बनाए रखने में सहयोग न मिलता और क्या अँगरेजों ने भी इनको खतम किया ? नहीं, क्योंकि भारत में अपनी सत्ता बनाए रखने में वे भी एक माध्यम चाहते थे जो वास्तव में अशक्त और दुर्बल होने पर भी ब्रिटिश सत्ता के लिये आड़ का काम करते थे, व्यवस्था में परिवर्तन करने से संभवतः क्रांति हो जाती और अँगरेज इसे कभी स्वीकार न करते। इसी लिये हम देखते हैं कि सरदार पटेल के सत्ता में आने तक देश में राजाओं की परंपरा यथावत् चलती रही।

सार बात यह है कि भारत में नरेशों को दैवी सत्ता के रूप में स्वीकृति प्राप्त थी और उनका यह अधिकार इतना मान्य था कि अच्छे अच्छे बलशाली भी उनके अस्तित्व को नहीं मिटा सके। यदि राजा से किसी प्रकार वे असंतुष्ट भी रहते तो वे उसे हटाकर या मारकर उसी वंश के किसी दूसरे उत्तराधिकारी को उसके स्थान पर बिठा देते। ऐसी अवस्था में राजाओं की क्या स्थिति हो सकती थी, यह कहने की आवश्यकता नहीं रह जाती। कुछ भी हो राजा राजा ही रहे, मंत्री मंत्री ही रहे और सेनापति अपने स्थान पर सेनापति ही रहे। शासन प्रणाली की दृष्टि से इस संबंध में विचार किया जा सकता है किंतु इसका प्रस्तुत विषय से विशेष संबंध न होने के कारण नरेशों और कवियों के संबंध का सूत्र स्थापित करना आवश्यक होगा। नरेशों का कवियों से बड़ा निकट का संपर्क रहा है। इतिहास में सभी नरेश दुर्बल रहे हों ऐसी बात नहीं है। जो नरेश बलशाली होते थे और जिनका शासन में स्वयं का हाथ होता था और जो समय समय पर रणांगन में जाकर अपने शौर्य का प्रदर्शन भी किया करते थे, ऐसे नरेशों के दरबारी कवि भी उसी कोटि के रहे हैं। इन नरेशों पर लिखे हुए वीरकाव्य पठनीय हैं। किंतु जैसा कि पहले ही कह दिया गया है कि ऐसे नरेश भी रक्षात्मक रूप में ही लड़ते रहे, अपने मूल्यों के लिये बलि हो गए अतः उनसे संबंधित काव्यों में इनके बलिदानों की गाथाएँ ही लिखी गई हैं। कवियों ने गीता के आदर्श को ही दुहराया है—

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौंतेय युद्धाय कृतनिश्चयः।

अ० २।३७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और इसी आदर्श की अभिव्यक्ति हिंदी वीरकाव्यों में हुई है। इसमें 'भोक्ष्यसे महीम्' की बात की अभिव्यक्ति तो संस्कृत कवियों ने की है। हिंदी कवियों ने 'प्राप्स्यसि स्वर्गं' की बात ही अधिक की है।

इस युग के कवियों के संबंध में ध्यान रखने की बात यह है कि वही कवि दरबार में रहने के योग्य हो सकता था, जो राजा के मिजाज को पहचान सकता था और अपने काव्य के द्वारा या अपनी प्रतिभा द्वारा राजा के अहं का पोषण कर सकता था। राजाओं की रुचियों को जानना और उनके अनुसार काव्य की रचना करना आवश्यक था। अतः यदि यह कहें कि कवि एक प्रकार से राजाओं के व्यक्तित्व से निकट संपर्क रखनेवाले व्यक्ति होते थे तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। राजाओं को देखकर कवि का ज्ञान हो सकता है, उसी तरह यह भी कहा जा सकता है कि कवि को देखकर भी राजा का ज्ञान प्राप्त कर लेना उतना ही ही आसान था। कवियों ने राजाओं का व्यक्तिगत कार्य राजनैतिक धरातल पर भी किया है। इस संबंध में अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं। कवि और राजा दोनों में कौन महत्वपूर्ण है, यह कहना कठिन है, वैसे ही जैसे यह कहें कि बीज पहले या पेड़ पहले। यह उक्ति कुछ अत्युक्ति अवश्य लगती है किंतु इसमें पाए जानेवाले सत्यांश को परिस्थितियों को देखते हुए स्वीकार करना ही पड़ता है। एक बात और महत्वपूर्ण है। वह यह कि हनुमानों के बलशाली होने पर नाम मात्र के रामों को अपना समय काटने की समस्या थी। कवि यदि उनका समय काटने की अभिजात और संस्कृत प्रणाली काव्य के आधार पर प्रस्तुत नहीं करते तो राजाओं का समय कैसे बीतता? इस अभिजात और संस्कृत प्रणाली के संबंध में विभिन्न मत हो सकते हैं, जिसकी चर्चा की यहाँ आवश्यकता नहीं है। यहाँ इतना ही कहना अभिप्रेत है कि कवि राजाओं की वैयक्तिक रुचि का ध्यान रखते हुए उनकी सहज प्रवृत्तियों के अनुकूल भावनाओं को संस्कृत वाणी का रूप देकर व्यक्त करते थे। काव्य में सब कुछ क्षम्य होता है क्योंकि कवि स्वयं भारतीय दृष्टि से ऋषि भी रहा है। एक प्रकार से कवियों के काव्य ने ही उनकी असंस्कृत भावनाओं को संस्कृत बनाया है, यह कहें तो अत्युक्ति नहीं होगी। काव्य ने नैतिकता के प्रश्न पर एक बड़ा परदा डालने का कार्य किया है। ऐसी स्थिति में इन कवियों की राजदरबारों में कितनी आवश्यकता अनुभव की जाती होगी यह कहने की आवश्यकता नहीं। अब हनुमानों और कवियों के संबंध को भी समझ लेना आवश्यक है। हनुमान अपने आप में बलशाली और राज्य के वास्तविक शासक होने पर भी जनभावना पर नियंत्रण रखने के लिये (क्योंकि हमारे देश का सांस्कृतिक विश्वास ही ऐसा था) राजाओं के अस्तित्व को कायम रखना चाहते थे। अतः उनके सामने सब से बड़ी समस्या यह थी कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राजाओं को राजनैतिक कार्यों से यदि दूर रखना है (वास्तव में वे चाहते भी यही थे क्योंकि यदि राजा स्वयं राजनैतिक कार्यों में दिलचस्पी लेता तो उनके हाथ में अधिकार न रह सकता) तो उनके आराम और विलास के साधन जुटाए और वास्तव में मंत्रियों ने किया भी यही है। किंतु केवल साधन जुटाने मात्र से भी काम नहीं हो सकता था। अतः जो साधन जुटाए जाते उनका वह अपने अहं के अनुसार सांस्कृतिक समर्थन भी करवा लेना चाहते थे। यह कार्य कवियों को छोड़कर और कोई नहीं कर सकता था। अतः राजाओं की नित्यप्रति की दिनचर्या के अनुसार उनके जीवन के अनुभवों को कलात्मक वाणी की आवश्यकता का अनुभव किया जाता था और इसमें कवि ही समर्थ था। वह सारी अनैतिकता को नैतिक संस्कारों से या कहिए कि कलात्मक संस्कारों से युक्त करने में समर्थ था। अतः मंत्री लोग भी कवियों की अनिवार्यता, इस रामवर्ग की भावनाओं के परिष्कार और संतुलन को बनाए रखने के लिये, आवश्यक समझते थे। एक बात और महत्वपूर्ण है, वह यह कि मंत्री लोग कर्ता धर्ता होने पर भी राजाओं की स्वीकृति के बिना कुछ नहीं कर सकते थे। ऐसी स्थिति में अपनी नीति को मान्य करवाने के लिये मंत्रियों को बड़ा परिश्रम करना पड़ता था। कवि राजाओं की सहज प्रवृत्तियों से अधिक परिचित होता था अतः कई बार राजाओं के मिजाज को संभालने का कार्य कवियों ने ही किया है। ऐसे प्रसंगों में ही नीति कथनों की आवश्यकता होती थी और इसी लिये दरबारी कवियों ने नीति साहित्य की रचना की है। नीति के प्रत्येक कथन में निश्चित रूप से नहीं तो अनेक कथनों में किसी न किसी संदर्भ की बात अवश्य रही होगी। हम संदर्भों से परिचित न होने के कारण नीति के उन मार्मिक और प्रभावपूर्ण कथनों को नहीं समझ सकते। नीति कथन का वास्तविक आनंद उसके उपयुक्त प्रयोग में अर्थात् समयोचित कथन में होता है। बिहारी के कुछ दोहों के संबंध में संदर्भ ज्ञात होने के कारण उन दोहों की मार्मिकता और शक्ति का ज्ञान हम कर लेते हैं किंतु यह बात उन दोहों तक ही सीमित नहीं है। विषयांतर अवश्य हो गया है किंतु इसका प्रस्तुत विषय से भी संबंध है और वह यह कि मंत्री लोग राजाओं पर नैतिक दृष्टि से नियंत्रण रखने के लिये कवियों की अनिवार्यता में विश्वास करते थे। अतः इस युग के कवि को केवल कवि ही नहीं समझना चाहिए। वह कई बार मंत्रियों और राजाओं के संबंधों को सुस्थिर बनाए रखने में सहायक भी हुआ है। इस संबंध में एक बात ध्यान रखने योग्य यह भी है कि राजा लोग भी कवि होते थे, जसवंतसिंह स्वयं कवि था। मारवाड़ का राजा जालिमसिंह भी कवि था (टाड का इतिहास, पृ० ४६९)।

मध्यकाल में कवियों और राजाओं के संबंध में अब तक जो कुछ कहा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गया है, उसका एक प्रकार से सार यह है कि राजाओं का दरबारी कवि, विशेषप्रिय कवि, राजकवि वही हो सकता था जो राजा के व्यक्तित्व से पूर्णतः अवगत होता था, यहाँ तक कि वह उसी की वाणी में बोलते हुए राजा के व्यक्तित्व को मुखरित करनेवाला होता था। यदि राजा वीर होता तो कवि उसकी वीरता का बखान करता और यदि राजा विलासी होता तो ऐसी स्थिति में कवि राजा की मनोवृत्ति के अनुसार रचनाएँ करता। रीतिकाल में शृंगारपरक साहित्य अधिक लिखा गया है, इसी के आधार पर इस युग के दरबार का अनुमान कर लिया जा सकता है। प्रस्तुत निबंध का संबंध इतिहास से होने के कारण शृंगारपरक साहित्य के आधार पर ऐतिहासिक दृष्टि से यदि विचार करें तो इस बात का ज्ञान हो जाता है कि राजाओं का वर्ग किस प्रकार का जीवन व्यतीत कर रहा था। ऐसी स्थिति उस अवस्था में ही होती थी कि जब राजा स्वयं शासन से हाथ खींच लेता था और मंत्रियों के हाथ में कठपुतली मात्र रह जाता था। किंतु यह स्थिति सब राजाओं की नहीं रही है। ऐसे वीरकाव्य जिनमें इतिहास मुखरित हुआ है और जिनके रचयिताओं के मन में देश के प्रति स्वाभिमान की भावना रही है, उन वीरकाव्यों में जिन नायकों का चरित्र चित्रित हुआ है वे योद्धा रहे हैं, शासक के रूप में शासन करनेवाले रहे हैं। जोधपुर के राजा अभयसिंह का राजकवि रतनभाणु ऐसा ही रहा है। इस काव्य को देखकर शिवाजी के दरबारी कवि परमानंद का स्मरण हो जाता है। परमानंद कवि ने संस्कृत में शिवभारत की रचना की है जो ऐतिहासिक काव्य है। विद्वानों का कहना है कि शिवभारत एक साथ इतिहास और काव्य दोनों है। इसी तरह रतनभाणु की डिंगल रचना 'राजरूपक' भी एक साथ काव्य और इतिहास है। इसमें अनेक तिथियाँ भी दी गई हैं, इससे इसका ऐतिहासिक महत्व और बढ़ गया है। इतिहास के प्रति यह कवि कितना सचेत था और इतिहास के लिखने में इसके व्यक्तित्व का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि अभयसिंह जब गुजरात के सूबेदार से लड़ने गया था तो उस समय युद्धस्थल में कवि मौजूद रहा। बाद में इसने काव्य लिखा। कवि समकालीन है, प्रत्यक्ष घटनास्थल पर उपस्थित रहा है अतः इसके लिखने में तथ्यों की भूल की संभावना कम ही है। दूसरी बात कवि स्वाभिमानी भी है। अभयसिंह के दरबार में रहनेवाले दूसरे कवि आल्हावास ग्राम के निवासी करणीदान कवि ने भी 'सूरजप्रकास' नाम का ग्रंथ इसी प्रकार का लिखा। दोनों ही कवियों ने राजा से प्रार्थना की कि ग्रंथ सुना जाय। राजा ने दोनों ही ग्रंथों के विस्तार को देखते हुए कवियों से समयाभाव को प्रकट करते हुए कहा कि इनको संक्षिप्त रूप में लिखकर सुनाएँ। करणीदान ने सूरजप्रकास का सार विड़दसिणगार में लिखा और राजा को सुनाया। महाराजा ने प्रसन्न होकर लाखपसाव दिया और उसका इतना संमान किया कि कवि को हाथी पर सवार कराया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और स्वयं घोड़े पर सवार होकर उसकी जलेब में (हाजरी में) चले। इस संबंध में यह दोहा प्रसिद्ध है —

अस चढ़ियौ राजा अभौ, करि चाड़े कवराज।
पोहर हेक जलेब में, मौहर चले महाराज॥

करणीदान के साथ तो यह व्यवहार हुआ किंतु राजरूपक के रचयिता रतन भाणू ने अपने ग्रंथ का सार बनाने में असमर्थता प्रकट की। स्वाभिमानी कवि ने कहा कि मैंने ऐसा ग्रंथ नहीं रचा है जिसका सारांश लेकर छोटा ग्रंथ बन सके। कहीं गागर का जल कुलिया में आ सकता है? राजा ने फलस्वरूप वह ग्रंथ नहीं सुना और कवि को संमान नहीं मिला। अभयसिंहजी के पाँचवें वंशज मानसिंहजी हुए। वे कविता, गानविद्या और वेदांत में रुचि रखते थे। स्वयं कवि भी थे। उन्होंने रतनभाणू के वंशजों से राजरूपक पूरा सुना वीरभाण के पौत्र को घरोई नामक ग्राम इनायत किया गया। कहते हैं, वह ग्राम अब भी कवि के वंशजों के पास है। इस कथा को इतने विस्तार से इसलिये लिखा गया कि कवियों के स्वाभिमान का इससे परिचय मिलता है। दूसरी बात यह ज्ञात होती है कि राजाओं की जैसे वंशपरंपरा चलती थी वैसे ही कवियों के वंशज भी अपने आप्त लोगों की कमाई को सुरक्षित रखते थे और यदि योग्यता होती तो उस योग्यता को समृद्ध बनाते। यदि ऐसा संभव न होता तो उसी पूँजी पर जीवित रहते। राजरूपक का संमान कवि के मरने के बाद हुआ और उसका फल उसके वंशजों को मिला।

अब विषय का उपसंहार करते हुए सार रूप में बात यों कही जा सकती है। हिंदी साहित्य के आविर्भाव काल से ही हमारा देश आक्रमणकारियों से आक्रांत रहा है। स्वाधीन कवियों की वाणी में ही बल हो सकता है, वह बल हिंदी में वीर कवियों की वाणी में मिला है। यह ठीक है कि हमारे देश के ऐतिहासिक और स्वाधीनता में साँस लेने में विश्वास रखनेवाले व्यक्तियों को अपनी बलि देनी पड़ी है। अपने मूल्यों की रक्षा करने में व्यक्तियों अर्थात् राजाओं को ही नहीं बल्कि देश के नरनारियों को भी अपनी आहुति देनी पड़ी है। इन वीर जनों के आदर्श को कवियों ने अपने काव्य का विषय बनाया है। ऐतिहासिक भूलों के कारण हमारे नेता हार गए। कुछ दूसरे कारण भी हैं, जिनके विस्तार में जाने की यहाँ आवश्यकता नहीं है किंतु स्वाभिमानी पुरुषों ने लज्जा का जीवन नहीं बिताया। उन्होंने मरण को अपना पर्व माना। वीरकाव्यों में ये भावनाएँ व्यक्त हुई हैं। मध्यकाल के वीरकाव्य इतिहास के लिये विपुल सामग्री प्रस्तुत करते हैं। आवश्यकता उनको देखने की है। इसका अवलोकन करने से हमें अपने देश की आत्मा का ज्ञान होगा। यदि देश का पतन हुआ तो पतन का ज्ञान भी प्राप्त करना आवश्यक है। उत्थान का इतिहास

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जितना महत्वपूर्ण होता है, उससे कम महत्वपूर्ण पतन का इतिहास नहीं होता। अपनी ऐतिहासिक भूलों को समझने में ये वीरकाव्य बड़े उपयोगी हैं। यही नहीं इनके आधार पर हमें इस बात का ज्ञान भी होता है कि राजा महाराजाओं की महत्वकांक्षाएँ क्या थीं? इन महत्वकांक्षाओं के आधार पर देश के चिंतन का ज्ञान होता है। ऐतिहासिक पुरुष और विशेषकर राजा महाराजा राजनैतिक दृष्टि से सत्ताधारी पुरुष रहे हैं। इनके चिंतन में जितनी स्वाधीनता हो सकती है उतनी अन्य वर्ग के लोगों में नहीं हो सकती। यदि इनका मन दुर्बल रहा तो देश का पतन अवश्य होगा। राजाओं का मानसिक विश्लेषण हमें वीरकाव्यों में या ऐतिहासिक काव्यों में मिलता है अतः इनका अध्ययन बड़ा उपयोगी सिद्ध होगा। इसी दृष्टि से अध्ययन के प्रयास में कुछ मोटी बातें ऊपर कही गई हैं। पतन के मूल्य को पहचानने से ही उत्थान की दिशाओं को खोजा जा सकता है। यही इन वीरकाव्यों का ऐतिहासिक दृष्टि से उपयोग है।

*

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विष्णुध्वज के अभिलेख

देवसहाय त्रिवेद

दिल्ली के पास मेहरौली के प्रसिद्ध विष्णुध्वज या कुत्बमनार के पाँच खंड हैं। इसके अरबी फारसी अभिलेखों का नीचे से क्रम निम्न प्रकार है। प्रथम खंड के निम्नतम बंध को किसी अज्ञानी ने चौपट कर दिया है। कथित सुधारक ने इसे मनमाने ढंग से उलट पलट कर दिया है। इसमें कुराण के अनेक उद्धरण हैं। ऐतिहासिक महत्व का पाठ इस प्रकार है। मूल पाठ के बाद प्रत्येक का हिंदी रूपांतर दे दिया गया है।

१. अल अमीर अल सिपहसलार अलअ जलल कबीर (कुत्ब)

रूपांतर

सेनापति अमीर महान् यशस्वी (कुत्ब)। ये विशेषण कुतुबुद्दीन ऐबक (१२०६-१२१० ई०) के हैं।

द्वितीय बंध

२. ···रे काबुल वो मम मौला मोलुकिल अरब वल अजम आदलुस सलातीन फिल आलम मोइज्जुद दुनिया वद दीन···अलमुलुक वस सलातीन वासेतुल अद्ल वल एह सान···निलतुल लाह फिल खाले कैन अर राई ले एवादिला···ह अलहा मिले वेलादिल्लाह···अल काएम···असमा अलमनसूर अलल आदा···जलालुल कुम्मैतिल बाहेर फलकुल म आलि···सुलतानुल वर वल वहरे मोहरे ज़ो ममाले किब दुनिया व मजहरो कलेम तिल लाहे हे एल उल या इसकंदर अस्सानि अबुल मोजफ्फर मुहम्मद बिन साय खलदल लाहू मिल कहू व सुलतानहू व तआ ललतहुलजी लाएलाह इल्लाहो वा आलेमुल गैबे वश शाहादते हो वर रहमानुर रहीम।

रूपांतर

जन नियंता, अरब व फारस का स्वामी, विश्व के सभी सुलतानों में सबसे न्यायी, मुअज्जदुनियावद्दीन···सम्राट् व सुल्तान, न्याय व दया का प्रचारक, पूर्व पश्चिम में ईश्वर की छाया, ईश्वर के दासों का चरवाहा, प्रभु के देशों का रक्षक, दृढ़, आकाश, शत्रु विजेता, महाराष्ट्र का यश, गुणों का आकाश, क्षिति जल सम्राट् विश्वराज्यरक्षक, ईश्वर के वचनों का घोषक, सर्वश्रेष्ठ, द्वितीय सिकंदर अबुल मुजफ्फर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मुहम्मद इब्नसाम। ईश्वर उसके राज्य व शासन को बनाए रखे। अल्ला महान् है। उससे परे कोई ईश्वर नहीं। वह गुप्त व प्रकट सब जानता है। वह दयालु तथा करुण है।

तृतीय बंध

१. बिस्मिल्लाहिर रहमानिर रहीम

ईना फतह नालक फतहन मुबीनील यव फेरलक अल्लाहो मातकद्दम मिन जंबेक व माता अरव रव योतिम नेमतहु अलैक व वह देयक सेरातम मुस्तकीम।

वमन सोरकल्लाहो नसरन अजीजा, हो वल्लजी अंज़ल असकीनत फी को लुबिलमो मीन लेयज दादहूँ यीमानन मंयीमा नेहीम वलीलाहे जनूदो समावाते वल अर्दे वकानल लाहो अलीमने हकीमले, युद खेलल मुमेनीन वल मु मेनाते जनतीन तजरीमीन तहतेहल अनहारो खालेदीन फीहा वयो कफ्फेर अनहुम सैयै आते हिम वकान जालेक इंदलाहे फौजन अजीमोवयो अज्ज़ेबल मुनाफेकेीन वल मुनाफे क़ाते वल मुशरेकीन वल मुशरेकातिजानीन विल्लाहे जन्नसवाये अलइहिम दायेरतुसुवे वगजेबल्ला हो अल इहिम वल अनहुम व अद्दलहुम जहन्नम वस्साअत मशीरा।

तृतीयबंध कुराण सुरा (स्वर) ४८ छंद १–६ (जय)

रूपांतर

ईश्वर दयालु सर्वशक्तिमान है।

देखो! हमने तुम्हें पूर्ण विजय दी है। अल्ला तुम्हारे भूत व भविष्य पापों को क्षमा कर दे। तुम्हारे प्रति उसकी पूर्ण कृपा रहे और तुम्हें सत्यमार्ग पर ले चले। वह अल्ला तुम्हें पूर्ण सहायता करे। उसी अल्ला ने भक्तों के हृदय में श्रद्धा व शांति प्रदान की जिसमें वे धर्म की अभिवृद्धि करें। स्वर्ग तथा पृथ्वी में अल्ला के ही सेवक हैं। अल्ला सर्वज्ञ चतुर है। वह भक्त नरनारियों को उस उपवन में ले जाय जहाँ नदी बहती है। वे वही बसेंगे और वहाँ से अपने पाप कर्मों को दूर कर दें। अल्ला की दृष्टि में वही सच्ची विजय है। दंभ नर-नारियों तथा मूर्तिपूजक स्त्री पुरुषों को तथा अल्ला के विषय में दुर्भावनापूर्ण व्यक्तियों को वह दंड दे। उनके चारों ओर पापों का घेरा है। अल्ला उनसे क्रुद्ध है। उसने उन्हें शाप दिया है। उनके निमित्त नरक तैयार है। वहाँ उनका बुरा हाल होगा।

४. चतुर्थ बंध

अस सुलतानुल मो अज्जम शाहनशाहुल आजम मालेको रे काबुल वो मम मौला मोलुकिल अरब वल अजम सुलतानुससलातीन फिल आलम गे या शुद दुनिया वद दीन मोइजजुल इस्लामे वल मुसलेमिन मुहिउल अदले फिल आलमीन अलद दौलतिल काहेरते···अल उम तिज जाहेरते शेहाबुल खेलाफते वा सेतुल ए साने औलेरा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

फते फिस सकलैन जिललुलताहे फिलखा फे कैन अलहामि'''बिन साम वसीमो अमीरुल मोमेनीन अनारललाहो बुरहानहू ।

रूपांतर

महासम्राट्, राष्ट्रसिंहासनाधिपति, अरब फारस के शासकों का बादशाह, विश्व के राजाओं का राजा, धर्म तथा विश्व का सहायक, इस्लाम तथा मुसलमानों का आश्रयदाता, विश्व में न्याय का स्रोत, महान्, उदार, जयंतसाम्राज्य, पूतराष्ट्राधिवास, उच्चराष्ट्रनेता, खलीफा की उज्वल ज्योति, महामधुर, पृथ्वी पर दया का सागर, दो क्षितिजों के मध्य ईश्वर की छाया, सुरनगररक्षक, ईश्वरदासरक्षक, विश्व में देशों का विजेता, दैवीवाणी का प्रकट रूप, विजय का जनक, महम्मद इब्नसाम, भक्तों का नायक। उसके साम्राज्य की वृद्धि हो।

५. पंचम बंध—कुराण सुरा ५९ छंद २२·२३ तथा अल्ला के नित्यानवे विशेषण

रूपांतर

वही ईश्वर है। उससे परे कोई देव[1] नहीं। वही गुप्त व प्रकट का ज्ञाता है। वही रहमान तथा दयालु है। वही ईश्वर है। उससे परे कोई देव नहीं। वह सम्राट् पूत, शांताकार, सर्वरक्षक, योगक्षेमदाता, सर्वसमर्थ, शरणदाता, महाबलिष्ठ, स्वाधीन तथा सर्वमय है। ईश्वर धन्य है। वही सबका मूल है।

६. षष्ठबंध–कुराण सुरा २ छंद २५५–२६०

रूपांतर

वही ईश्वर है। उससे परे कोई देव नहीं। वह सत्य सनातन है। वह अनलस, अनिद्र है। स्वर्ग तथा पृथ्वी में जो कुछ है उसी का है। उसकी इच्छा के बिना कौन उसकी विनती कर सकता है। वह भूत भविष्य सब जानता है। जितना वह दूसरों को बतलाता है उतना ही उससे अधिक कोई नहीं जान सकता। स्वर्ग तथा पृथ्वी में उसकी चौकी बिछी है। वह चौकसी से नहीं थकता। वह अति उच्च व महान् है।

धर्म में कोई जबर्दस्ती नहीं है। भ्रम से सत्यमार्ग स्पष्ट हो चुका है। अतः जो शैतान से विमुख होकर अल्ला में विश्वास करता है उसने दृढ़ डोरी को पकड़ लिया है। वह डोरी टूटनेवाली नहीं है। अल्ला सर्वज्ञ तथा सर्वश्रोता है।

१. यह आयत कुर्सी कहलाती है और मसजिदों के द्वार पर लिखी जाती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ईश्वर श्रद्धालुओं का स्वामी है। वह उन्हें अंधकार से प्रकाश में लाता है। अश्रद्धालुओं का स्वामी शैतान है जो उन्हें प्रकाश से अंधकार में ले जाता है। इनका वासस्थान अग्नि है जहाँ वे सदा रहेंगे।

क्या तू उस मनुष्य को नहीं जानता जिसने अब्रह्म से प्रभु के विषय में तर्क किया था क्योंकि ईश्वर ने उसे राज्य दिया था। जब अब्रह्म ने कहा मेरा प्रभु वह है जो जीवन मरण का कारण है तब उसने कहा—मैं भी जीवन देता हूँ तथा मारता हूँ। अब्रह्म ने कहा—निःसंदेह ईश्वर सूर्य को पूर्व में उदय करता है तो तुम उसे पश्चिम में उदय करो। इस प्रकार वह विधर्मी भौंचक हो गया। ईश्वर दुष्टों का मार्ग दर्शन नहीं करता।

अथवा वह, पुरुष जो नगर से निकला जिसकी छत औंधी पड़ी थी, कहने लगा कि ईश्वर किस प्रकार इसे विनाश के पश्चात् पुनः नगर को बसाएगा। ईश्वर ने उसे मारकर वहीं पर सौ वर्ष तक रखा पुनः उसे जीवित किया और पूछा तू कब तक यहाँ पड़ा रहा। वह बोला मैं दिन भर या कुछ अल्पकाल तक पड़ा रहा हूँ। ईश्वर ने कहा—नहीं तू शतवर्ष तक पड़ा रहा। अब अपने भोजन तथा पेय को देख। वे अब तक उसी दशा में हैं। अब अपने गदहे को देखो। हम तुम्हारे निमित्त चिह्न बनायेंगे। अस्थियों को देखो। किस प्रकार हम उन्हें एकत्र करते हैं और फिर उनपर मांस चढ़ाते हैं। जब उसने ये सब देखा तब उसकी समझ में आ गया कि ईश्वर सब कुछ कर सकता है।

और जब अब्रह्म ने कहा, प्रभो! मुझे दिखावें कि किस प्रकार आप मृतक को जीवित करते हैं। उसने कहा—क्या तुम्हें विश्वास नहीं है। वह बोला—क्यों नहीं। किंतु मैं चाहता हूँ कि मेरे हृदय को शांति मिल जाय। उसने कहा—तुम चार पक्षियों को ले लो। प्रत्येक पर्वत पर उनका एक एक भाग रख दो और उन्हें पुकारो। वे दौड़ते हुए तुम्हारे पास पहुँचेंगे। अब समझ लो कि ईश्वर सर्वसमर्थ तथा धीमान् है।

७. प्रवेश द्वार (प्रथम खंड)

रूपांतर

पैगंबर ने (उसे ईश्वर शांति दे) कहा—जो ईश्वर के लिये मस्जिद बनाता है। उसके लिये ईश्वर स्वर्ग में वैसा ही भवन बनाता है। सम्राट् शमसुद्दीन का मनार भग्न हो गया था। उसका कब्र पवित्र बना रहे। उसे स्वर्ग में स्थान मिले। ईश्वर ने उसे क्षमा दान किया है। बहलोल शाह सुलतान के पुत्र सिकंदर शाह के सुराज्य में। उसके राज्य, शक्ति तथा यश की वृद्धि हो। मसनदे अली खवास खाँ के पुत्र खानजादा फाथ खाँ की अधीक्षता में भग्नांशो को भरा गया तथा उच्च

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

खंडों की मरम्मत की गई। रबी द्वितीय का प्रथम दिन हिजरी ६०६ (= २३ सितंबर १५०३ ई०)।

मूलपाठ

कालन नबीश्रो सल लल ला हो अलैहे व सल्लम मन बना मसजेदन लिल्लाहे त आ ला वनल्लाहो लहुफिल जननते वैतन मिसल हू। एमारत मनारह मोबारक हजरत सुलतानुस सलातीन शमसुदुनियावद्दीन मरहूम मगफूल ताब सराहो व ब अलल जन्नत मसवाहो शिकस्त शुदाबुद मनारा मजकूर दर अहद दौलत सुलतानुल आजम वल मो अजमवल मोकरं सिकंदर शाह बिन बहलोल शाह सुलतान खल्लदल लाहोमुल्कहू व सुलतानहू व आला अमरहू व शानहू अमल खाँजादा फतह खाँ बिन मसनद आली खवासखाँ…वदर्ज बंदी व मरतबाहा वाला मरम्मत कर्द मुरत्तब कुनानीदा अल गर्रा मिन माह रबि उल आखिर सन् तीस अ व तीस अमे अत।

८. प्रवेश द्वार के ठीक दक्षिण भाग में

इस मनार का फज्ल अबुलमाली था (रूपांतर)

इ मनारा फज्ल अबुलमाआली बुदंद (मूल फारसी)

६. द्वितीय खंड निम्नबंध

अस सुलतानुल आजम शहनशाहुल मो अजम मले को रेका बिल ओमम मोफरवरो मोलुकिल अरब बल अजम जिल लुल्लाहे फिल आलम शमसुद्दुनियावद्दीन गेयासुल इस्लामे वल मुसलेमीन ताजुल मुलुके वस सलातीन…फिल आलमीन आलद दौलतिल काहेरते व जलालुल मिल्लतिज जाहेरते अल मो ऐयदो मिनस समा अल मोजफ्फरो अलल आदा शेहावो शमल खेलाफते नाशे रुल अदले वर्रा फ्ते मोहरे जो मम लेकिद दुनिया व मुजहिरो क्ले मतिललाहिल उल मा अबुल मुजफर इल तुतमिश अस सुलतानि नासेरो अमीरिल मोमिनीन खल्लदल लाहो मुल्कहू व सुल्तानहू वा आला अम्रहू व शानहू।

रूपांतर

महाराज, महासम्राट्, विश्वसिंहासनों का अधिपति, अरब व फारस के स्वामियों से संमान्य, पृथ्वी पर ईश्वर की छाया, विश्व तथा धर्म का सूर्य, इस्लाम तथा मुसलमानों का सहायक, राजाधिराज सम्राट, विश्व में न्याय का सागर, जयंत साम्राज्यों की महत्ता, सुराष्ट्र का मूर्धन्य, स्वर्ग से सहायता पानेवाला, शत्रुविजेता, खलीफाओं के जगत् में उज्वल ज्योति, न्याय व दया का प्रचारक, विश्व में देशों का विजेता, ईश्वर का व्यापक रूप, जय जनक, सुल्तान इल्तुत्मिश भक्तों के नायक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का सहायक। उसका देश व राज्य चिरस्थायी हो। उसका आदेश तथा स्थान उच्च हो।

१०. द्वितीय खंड ऊपरी बंध

कुराण सुरा १४ छंद २९-३० तथा सुरा ६२ छंद ९–१०

रूपांतर

वे नरक में जायँगे। वह बुरा स्थान है। वे उसी के भागी हैं। वे ईश्वर का प्रतिस्पर्धी खड़ा करते हैं जिसमें लोग सुमार्ग से भटककर कुमार्ग पर चलते हैं। उनसे कह दो लाभ उठाओ, अन्यथा अग्नि में जाना ही होगा।

हे श्रद्धालु जब शुक्रवार को प्रार्थना की पुकार हो तो ईश्वर को याद करने के लिये दौड़ो। व्यापार छोड़ दो। यह तुम्हारे निमित्त उत्तम है यदि जान लो।

जब प्रार्थना समाप्त हो जाय तब सारी पृथ्वी पर फैल जाओ। ईश्वर का अनुग्रह खोजो। ईश्वर को खूब स्मरण करो जिसमें तुम्हें सफलता मिले।

११. द्वितीय खंड—द्वार

अमर वे इतमामे हाजेहिल एमारह अलमले कुल मो ऐयदो मिनस समा ए शमसुलहकेवद्दीन इलतुतमिश अल बुतबी नसीरो अमीरिल मोमिनीन।

रूपांतर

इस इमारत को पूरा करने का आदेश राजा ने दिया जिसकी सहायता स्वर्ग करते हैं। शमसुलहकवद्दीन इलतुत्मिश कुत्ब का दास, भक्तजनों के नायक का सहायक।

१२. तृतीय खंड

अल सुलतानुल मोअज्जम शाहंशाहुल आजम माले को रेका बिल वो मम मौला मुलूकिल अरब वल अजम सुलतानुस सलातीन फिल आलम हाके जो वेला दिल्लाह नासेरो···खलीफतुल्लाह···अलइस्लामे वल मुसलेमीन गेयासुलमुलूके वस सलातीन अल हामीजे वेलादिल्लाह अरराई ले एबादिल्लाह यमीनुल खेलाफते वासेतुल अदले वर राफते अबुल मोजफ्फर इलतुत्मिश अस सुल्तानी नसीरो अमीरिल मुमीनीन खल्लदल्लाहो मुल्कहू व सुल्तानहू व अम्रहू व शानहू।

रूपांतर

महासुलतान महासम्राट जननियंता, अरब व फारस के राजाओं का स्वामी, विश्व में राजाधिराज, ईश्वर की भूमि का रक्षक, सहायक, ईश्वर का खलीफा, इस्लाम तथा मुसलमानों का···राजा व सुल्तानों का सहायक, ईश्वर के राज्यों का सुरक्षक, ईश्वर के दासों का चरवाहा, खिलाफत का दाहिना हाथ, न्याय व दया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का प्रचारक, अबुल मुजफ्फर इल्तुत्मिश सुलतान (का दास), भक्तनायकों का सहायक, प्रभु उसका राज्य व शासन बनाए रक्खे तथा उसकी शक्ति व पद की वृद्धि हो ।

१३. तृतीय द्वार

अस सुल्तानुल मोअज्जम शहनशाहुल अजम मालेको रेका बिल उमम् । फाखेरो मोलुकिल अरब वल अजम अल मोऐयदो मिनस समा अल मोजफ्फरो अलल आदा सुल्तानो अरजिल्लाह हाफेजो बेल दिल्लाह नासेरो एबादिल्लाह मुहरेजो ममालेकिद दुनिया मुजहेरो कले मतिल्लाहिल उल या जलालुद्दौलतिल काहे रते निजामुलमिल्लतिज जाहेरते शमसुद्दनिया व द्दीन गेयासुल इस्लामे वल मुस्लेमीन जिल्लुलाहे फिल आलम अतताजुल उमम वल खेलाफते मायतुल अदले बराफते सुल्तानुस सलातीन अदौलते वल मिल्लते इलतुत्मिश अस सुल्तान यमीनो खली फतिल्लाह नासेरो अमीरिल मोमीनीन ।

रूपांतर

महासुल्तान, महासम्राट् जननियंता, अरब व फारस के राजाओं से स्पर्धा करनेवाला, स्वर्ग से सहायता पानेवाला, शत्रुओं का विजेता, ईश्वर की भूमि का सुल्तान, ईश्वर की भूमि का रक्षक, ईश्वर के दासों का सहायक, विश्व के राज्यों का प्रतिष्ठाता, महेश्वर के शब्दों का प्रचारक, जयंत शासन की ज्योति, पूत धर्म का शासक, शमसुद्दीनियावदीन, इस्लाम तथा मुसलमानों का सहायक, संसार में ईश्वर की छाया, जन व सम्राट् मणि, न्याय व दया का स्रोत, साम्राज्य तथा धर्म का राजाधिराज, ईश्वर के खलीफा का दाहिना हाथ, श्रद्धालुनायकों का सहायक ।

१४. द्वार भाग में (तृतीय खंड)

तम्मत हाजेहिल एमारतो फिनौबतिल अब दिलमुजनिब मोहम्मद अमीर कोह ।

रूपांतर

यह इमारत तैयार की गई मोहम्मद अमीर कोह, दासों का अधीक्षक, पापात्मा, की देखरेख में ।

१५. चतुर्थ खंड

अमर बेहाजेहिल इमारते कि ऐयामिद दौलतिस सुल्तानिल आजम शाहंशाहिल मोअज्जम मालिके रे काबिल उमम् । मौला मुलुकित तुर्के वल अरबे वल अजम शमशिद्दुनियावद्दीन मोरजजिल इस्लामे वल मुस्लेमीन जुल अम्नेवल अमान वारे सो मुल्के सुलैमान अबुल मुजफर इलतुत्मिश अस्सुल्तान नासिरो अमीरिल मोमनीन ।

रूपांतर

इस इमारत को पूर्ण करने की आज्ञा महासुल्तान महासम्राट् जननियंता, तुर्क, अरब व फारस के राजाओं के स्वामी शमसुद्दनियावदीन के राज्यकाल में दी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गई। जिसने इस्लाम व मुसलमानों को शक्तिशाली बनाया। जो शांति व सुरक्षा प्रदान करता है, जो सुलैमान के राज्य का उत्तराधिकारी है, अबुल मुजफ्फर इल्तुत्मिश सुल्तान (ऐबक) का गुलाम, भक्तनायकों का सहायक।

१६. पंचम खंड – द्वार

दरीन मनारा सुहूर सन् सबईन व सब अमेग्रत व आफते बर्क खललराह यापता बुद् वे तौफीक ख्वानी वर गोजी दए एनायते सुबहानी फिरोज सुल्तानी इन मुकामरा वे एहतेहात तमाम एमारत कर्द खाले के बे चून इन मोकामरा अज जमीं ए आफात मसउन दारद।

रूपांतर

यह मीनार बिजली एवं तूफान से सन् ७७० (१३६६ ई० १२६१ शाके) में भग्न हो गया। परमात्मा के अनुग्रह से फिरोज सुल्तान ने जिसके ऊपर महापूतात्मा की अत्यंत कृपा है, इस मुकाम के अंश को सावधानी से बनवाया। अज्ञात सृष्टिकर्ता इसे आपत्तियों से बचावे।

इन अभिलेखों में केवल प्रथम, सप्तम का आद्यंश, अष्टम तथा सोलहवाँ अभिलेख फारसी भाषा में उत्कीर्ण है। शेष अभिलेख अरबी भाषा तथा तोघरा लिपि में है।

इन अभिलेखों के अध्ययन से स्पष्ट है कि इस विष्णुध्वज बनाम कुत्वमनार पर अरबी फारसी के कुल १६ अभिलेख हैं। इनमें तृतीय, पंचम, षष्ठ तथा दशम अभिलेख कुरान के उद्धरण मात्र हैं। उनका ऐतिहासिक महत्व प्रायेण शून्य है। शेष अभिलेखों में महम्मद गोरी के दो, इल्तुत्मिश के चार, फिरोजशाह तुगलक तथा सिकंदर लोदी प्रत्येक के एक एक अभिलेख हैं। इनके सिवा कुत्बुद्दीन का एक अभिलेख अस्पष्ट है। इसका अभियंता मोहम्मद अमीर कोह तथा स्यात् मुअज्जम फज्ल अबुलमाली था। इन अभिलेखों में कहीं भी संकेत नहीं है कि इसे इल्तुत्मिश ने बनवाया। उसने इसे केवल पूर्ण करने का आदेश दिया। यह एकादश अभिलेख से स्पष्ट है। लेखक के मत से इसका निर्माता समुद्रगुप्त[४] (खी० पू० ३२०-२६६) गुप्त सम्राट् है। यह एक वेधशाला का केंद्रीय ध्वज या स्तंभ था। इसका प्राचीन नाम विष्णुध्वज है।[५]

*

२. हिस्टारिकल मेमायर आव दी कुत्ब, पेज लिखित, आर्कियोलाजिकल सर्वे, संख्या २२, १९२६।
३. विष्णुध्वज, चौखंभा, १९६२।
४. इंडियन क्रानोलाजी, भारतीय विद्याभवन, १९६३।
५. नागरीप्रचारिणी पत्रिका, भाग ६२, पृ० ३०३–११।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नागरकृतागम में राजा और राजव्यवस्था का स्वरूप

कु० देवकी अहिवासी

नागरकृतागम का परिचय--नागरकृतागम जावा के मजपहित् काल[1] का महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक 'कवि'[2] ग्रंथ है। इस ग्रंथ का वास्तविक नाम 'देशवर्णन' है। इस नाम का उल्लेख ग्रंथ के लेखक 'रकवि'[3] प्रपंच ने ९४वें सर्ग में किया है। सर्वप्रथम यह ग्रंथ १८ नवंबर १८९४ में लंबोक द्वीप में स्थित चक्र नगर के राजकीय प्रांगण में विद्वान डा० ब्रांड्स को मिला था। अंत में लिखी परिचयात्मक कंडिका[4] में ग्रंथ का नाम नागरकृतागम लिखा पाया और इसे ही डा० ब्रांड्स ने वास्तविक नाम मानकर इसका प्रकाशन किया। तभी से विद्वानों में यह नाम प्रचलित हो गया। मूल ग्रंथ लायडन् विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में सुरक्षित है।[5]

सर्वप्रथम १९०२ में डा० ब्रांड्स ने बलि लिपि में इसे प्रकाशित किया। १९०३ से १९१४ तक डच विद्वान् कैर्न ने इसका अनुवाद और टिप्पणी सहित उसका थोड़ा थोड़ा भाग प्रकाशित किया। १९१७-१८ में प्रथम बार संपूर्ण ग्रंथ प्रकाशित हुआ। १९१९ में डच् विद्वान् क्रोम ने ग्रंथ को कुछ संशोधन के साथ पुनः

१. मजपहित् राज्य की स्थापना सिंह-सारी राजवंश के अंत के पश्चात् राजकुमार विजय (राजा होने पर कृतराजस् जयवर्धन नाम रखा) ने लगभग १२९४ ई० में की। मजपहित् नगर राजधानी थी। मजपहित् शब्द संस्कृत शब्द 'विल्व तिक्त' का भाषांतर है। नागरकृतागम में इस वंश के शासक ल्यमूवुरूक् (१३५०-१३८९) तक का इतिहास मिलता है। १५वीं शताब्दी के अंतिम चरण में जावा के इस महत्त्वपूर्ण हिंदू राज्य का अंत हो गया।

२. कवि—ओल्ड जावानीज-मध्यकालीन जावा की साहित्यिक भाषा।

३. रकवि-राजकवि की उपाधि (र=आदरार्थं आदिसर्गं)।

४. १८वीं शती के एक बालि के विद्वान ने इस कवि ग्रंथ की बालि भाषा में ताडपत्र पर प्रतिलिपि तैयार की और अपनी ओर से अंत में एक परिचयात्मक कंडिका भी दी।

५. इसकी संख्या सी ओ ई डी एक्स ओ आर ५०२३ है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकाशित किया। १९४८ में श्री थोमस पिरवायड् ने इसके संपादन का कार्य अपने हाथ में लिया और अनुवाद, टीका एवं विस्तृत व्याख्या सहित पाँच भागों में इस ग्रंथ को विद्वत् जगत् के समक्ष प्रस्तुत किया।[६] अन्य समकालीन आवश्यक ग्रंथों और राजादेशों को भी पिरवायड् ने इसके साथ प्रकाशित किया। पाठकों की सुविधा को ध्यान में रखते हुए उन्होंने संपूर्ण नागरकृतागम को विषय की दृष्टि से १५ अध्यायों में विभाजित कर दिया है।

समय—'देशवर्णन' (नागरकृतागम) को १३६३ ई० में प्रपंच नामक राजकवि ने मजपहित् शासक ह्यम् वुरूक् के शासन काल में लिखा। मजपहित् काल राजनैतिक और सांस्कृतिक दृष्टि से जावा का स्वर्णयुग था। इस काल में जावा की चतुर्दिक् उन्नति हुई। राज्य की सीमाएँ दूर दूर द्वीपों तक फैली हुई थीं तथा अनेक पड़ोसी देशों से जावा के राजनैतिक एवं सांस्कृतिक संबंध स्थापित हो चुके थे। जंबुद्वीप (भारत), गौड़ (बंगाल), कर्नाटक, कंबोज, स्याम और चीन से बड़ी संख्या में व्यापारियों, भिक्षुओं, और विद्वानों का आदान प्रदान होता था। इस काल में निर्मित पनतरन के मंदिरों में उत्कीर्ण रामायण और महाभारत के दृश्य कला के उत्कृष्ट नमूने हैं। इस युग का साहित्य एवं दर्शन तो पूर्णतः भारत से अनुप्राणित हैं। राजकवि भारतीय छंदों में संस्कृत काव्य परंपराओं के अनुकूल साहित्य की सृष्टि करते थे। 'आगमों', 'सांख्य', 'नैयायिक' 'वेद' 'साम जप' (सामवेद) और 'सतकर्मसुधा' में पारंगत विद्वान् बोधादित्य, मूतलिसुहृदय, भामन तथा विष्णु आदि कई भारतीय विद्वान् राजा ह्यम् वुरूक् के दरबार में राजा की प्रशंसा में संस्कृत काव्यों की रचना करते थे।

लेखक—ग्रंथ का लेखक प्रपंच भी राजसभा में विद्वत् समाज का एक आदरणीय सदस्य था। वह स्वयं धर्माध्यक्ष था। नागरकृतागम के अंतिम अध्याय में इसके दो नाम मिलते हैं—प्रपंच और विनाद। काव्य में विनाद नाम कई स्थलों पर आया है। संभवतः विनाद कवि का वास्तविक नाम था। प्रपंच नाम का प्रयोग विशेष रूप में राजकीय उपाधि 'रकवि' के साथ हुआ है। अतः यह उपनाम प्रतीत होता है। प्रपंच का पिता नादेंद्र भी धर्माध्यक्ष एवं कवि था। प्रपंच ने अनेक काव्यों की रचना की जिनकी सूची नागरकृतागम के ९४वें सर्ग में दी है।[७]

६. पिरवायड् थियोडोर जी थोमस, जावा इन दि फोर्टींथ सेंचुरी, ५ खंडों में, विद्वेग-मार्टीनस निस्मोफ, १९६०।

७. उसके अन्य ग्रंथों की सूची जो ९४वें सर्ग में दी है इस प्रकार है—
१. शककाल २. लंबङ ३. पर्वसागर ४. भीष्मशरण—महाभारत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कवि ने इस ग्रंथ में इसके 'देशवर्णन' नाम के अनुरूप ही मजपहित् राज्य के इतिहास और भौगोलिक, राजनैतिक, सामाजिक एवं आर्थिक परिस्थितियों का सजीव चित्रण किया है। इसमें वर्णित मुख्य विषय, जिसका स्पष्ट वर्गीकरण डा० पिगो ने किया है संक्षेप में इस प्रकार है—मजपहित् के राजकीय परिवार का परिचय, मजपहित् राजधानी की नगर योजना का विस्तृत वर्णन, मजपहित् और उसके सामंतों और पड़ोसी देशों के बीच संबंध, राजा की राजकीय यात्राएँ, मजपहित् राज्य के धार्मिक क्षेत्रों का वर्णन, सिंहसारी राज्य और उसके आसपास के नगरों और बस्तियों का वर्णन, राजा की सिंहसारी एवं अन्य प्रांतों की राजयात्राओं का वर्णन, राजपत्नी के श्राद्धोत्सव का विस्तृत वर्णन, सिम्पिङ की राजयात्रा का विवरण, प्रधानमंत्री गजमद की मृत्यु एवं नए मंत्रिमंडल की स्थापना का वर्णन, धार्मिक क्षेत्रों और मंडलों (धार्मिक बस्तियों) का वर्णन, धर्मव्यवस्था और राजकीय स्वामित्व का वर्णन तथा वार्षिक राजोत्सव का वर्णन।

यह ग्रंथ यद्यपि शुद्ध रूप से ऐतिहासिक और राजनैतिक दृष्टिकोण को लक्ष्य मानकर नहीं लिखा गया, परंतु प्रसंगवश शासन व्यवस्था, राजा, राजा के कर्तव्यों, अर्थव्यवस्था, सामाजिक एवं धार्मिक व्यवस्था संबंधी जो उल्लेख मिलते हैं वे इस क्षेत्र में महत्वपूर्ण हैं।

द्वीपांतर[८] के प्राचीनतम संस्कृत शिलालेख और यूप प्रमाणित करते हैं कि ५वीं शताब्दी के बहुत पूर्व ही द्वीपांतर में भारतीय शासनप्रणाली स्थापित हो चुकी थी। यहाँ के शासक विष्णु और ब्रह्मा के अवतार माने जाते थे। वे भारत के समान ही संस्कृत मंत्रों के उच्चारण सहित विराट यज्ञ करते थे[९] एवं सुवर्ण मंडित शृंगोंवाली सहस्रों गाएँ दान में देते थे। भारतीय श्रुति और स्मृति यहाँ धर्म और नीति के प्रमुख स्रोत थे।[१०] शताब्दियों तक मनुस्मृति और मानवधर्मशास्त्र के नियमों के

पर आधारित ५. सुगतपर्ववर्णन—बौद्ध जातककथाओं पर आधारित।

८. द्वीपांतर या नूसांतर = द्वीपों का समूह = इंडोनेशिया।

९. बोर्नियों से राजा मूलवर्मा का संस्कृत शिलालेख (५वीं शताब्दी पूर्वार्ध)—

श्री मूलवर्मा राजेंद्र : यष्टा बहुसुवर्णकम्।
तस्य यज्ञस्य यूपोऽयं द्विजेन्द्रैस्संकल्पितः॥

डा० गोंडा, संस्कृत इन इंडोनेशिया, पृ० १६।

१०. सारसमुच्चय श्लोक ४३ '...सं त्यं श्रुति। लवन् संद्यं स्मृति। सिरं जुग प्रमाणाक्न। तूतक्न वरवर: निर। रिं असिं प्रयोजन। यावत् मक्न्

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आधार पर समाज, धर्म एवं न्याय व्यवस्था चलती रही। यह व्यवस्था १४वीं शताब्दी (मजपहित् काल) तक बनी रही, यद्यपि समय की आवश्यकता एवं परिवर्तित परिस्थितियों के अनुकूल कई स्थानीय तत्वों का भी समावेश होता रहा। १५वीं शताब्दी में मुस्लिम सत्ता स्थापित होने के पश्चात् भी द्वीपांतरवासी अपने को धर्म से मुस्लिम परंतु संस्कृति से हिंदू ही मानते रहे।

राजा की शक्ति, योग्यता, एवं कार्य

संस्कृत शब्दों से समृद्ध कवि ग्रंथ नागरकृतागम में अन्य समकालीन कविग्रंथों, शिलालेखों तथा राजादेशों से प्रसंगवश राजा और शासनव्यवस्था संबंधी जो उल्लेख मिलते हैं उनमें एक सुविकसित भारतीय राज्य और शासन प्रणाली की झलक मिलती है, जिसमें सर्वोच्च शक्ति का केंद्र राजा था। नागरकृतागम में राजा के लिये नरेंद्र, राजेंद्र, नृपति, प्रभु, देवप्रभु, महाराजा राजाधिराज, भटार, अनूसनाथ, नरपति, नरनाथ भूपाल आदि संबोधन राजा की सर्वोच्चता के प्रतीक हैं।

राजा का देवत्व—प्राचीन भारतीय मान्यताओं के अनुकूल ही जावा में भी राजा को दैवी शक्तिवाला माना जाता था। राजपरिवार को 'देववंश'[११] और राजा को 'देवमूर्ति', 'दैवी अवतार'[१२] कहा जाता था। महाराजा राजस् को साक्षात् गिरींद्रशिव का पुत्र कहा गया है।[१३] यह भी विश्वास प्रचलित था कि शासक अपनी दैवी शक्तियों द्वारा लोगों के कष्टों का नाश कर सकता है।[१४]

प्राचीन भारतीय ग्रंथों में अनेक उल्लेख मिलते हैं कि राज्याभिषेक के समय राजा के शरीर में विभिन्न सात देवताओं के अंश का समावेश होता है।[१५] नागर-

परिपूरणं हल्दप् सं ह्यं धर्म्मं प्रभृति'। गौतम १।१।२ और मनु १।६ में भी यही विचार दिए है। सारसमुच्चय महत्वपूर्ण कविग्रंथ है, जिसमें 'अष्टादश पर्व' (महाभारत) के श्लोकों का संकलन वररुचि नामक विद्वान् नें किया और उसकी विस्तृत कविटीका भी दी है।

११. नागरकृतागम्, १३।५४—अपन् देव वंशाथवा देवमूर्ति।

१२. वही, ४१।२।४ तथा ४१।५।४!

१३. इूनि शकाब्दि दशन्दु हन् सिर महानाथ युद्धेकवीर। साक्षात् देवत्व-कायोनिजतनय रकस् श्री गिरींद्रप्रकाश। ना० कृ०, ४०।१।१-२।

१४. वही ४६।६।

१५. शुक्रनीति, १।६२, पृ० २१। गंगाप्रसाद शास्त्री द्वारा अनूदित, मानव धर्म शास्त्र में भी इसी प्रकार के विचार मिलते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कृतागम् में भी राजा की तुलना सात देवताओं से की गई है। ये सात देवता हैं—सूर्य, चंद्र, शतमन्यु (वर्षा), पितृपति, वरुण, वायु और पृथ्वी।[१६] वास्तव में सात देवताओं से राजा की तुलना उसके संवैधानिक और लोक हितकारी कार्यों की ओर संकेत करती हैं। सूर्य के रूप में राजा समस्त पृथ्वी पर दिग्विजय करनेवाला तथा 'सकल भुवन' को 'तिमिर रूपी शत्रुओं' से मुक्त करनेवाला है। सूर्य के प्रकाश से ही श्वेत कुमुद रूपी सज्जनों की रक्षा होती है। शतमन्यु के रूप में वह ग्राम और नगरों को धनधान्य से परिपूर्ण करनेवाला और अकाल आदि संकटों से रक्षा करनेवाला है। पितृपति के रूप में वह संसार के दुष्ट व्यक्तियों को दंड देनेवाला और सज्जनों का रक्षक है। वरुण के समान वह देश को समृद्ध करता है तथा वायु के समान दूतों की सहायता से 'सकल लोक' का निरीक्षण कर शांति और सुव्यवस्था स्थापित करता है। पृथ्वी के रूप में वह समस्त प्राणियों का आश्रयदाता है। उपर्युक्त दैवी गुण शासक को राजपद ग्रहण करते समय उपलब्ध होते थे। अतः व्यक्तिगत महत्व की अपेक्षा राजपद का महत्व अधिक था, जिसके ग्रहण करने से वह विशाल राज्य का स्वामी होता था एवं विभिन्न प्रकार के कर्तव्यों और उत्तरदायित्वों का भार उसे सम्हालना पड़ता था।

राजा ही नहीं राजपरिवार के अन्य सदस्यों को भी देवताओं का अवतार माना जाता था। राजपत्नी को राजकार्य में सहायता देनेवाली उसकी बड़ी पुत्री त्रिभुवनोत्तुंगदेवीजयविष्णुवर्धनी को एक अभिलेख में लक्ष्मी का अवतार कहा है।[१७] राजपत्नी को भगवती और लक्ष्मी का अवतार माना जाता था, जो राज्य में सुख और समृद्धि का कारण थी। मरणोपरांत बौद्ध देवी प्रज्ञापारमिता के रूप में उसकी प्रतिमा स्थापित की गई।[१८] नागरकृतागम में कई स्थानों पर राज-

१६. ना कृ० सर्ग ७ के प्रथम ३ श्लोक। प्रयाग प्रशस्ति में भी समुद्रगुप्त की तुलना कुबेर, वरुण, इंद्र तथा अंतक से की गई हैं—'धनदवरुणेन्द्रान्तक-समस्य'। सिलेक्ट इंस्क्रिप्शंस, डी० सी० सरकार, पृ० २५६।

१७. मजूमदार, सुवर्णद्वीप, खंड १, पृ० ३२६।

१८. जावा में मृत्यूपरांत राजपरिवार के सदस्यों की बौद्ध या हिंदू देवताओं के रूप से मंदिरों में प्रतिमाएँ स्थापित करने की सामान्य प्रथा थी। भारत में भी संभवतः मृत्यूपरांत राजा की प्रतिमा बनाकर मंदिरों में स्थापित की जाती थी। इस प्रकार के कुछ उल्लेख कुषाण लेखों, भास के नाटकों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यात्राओं के समय राजा द्वारा चेडियों[१९] में जाकर देवताओं के रूप में अपने पूर्वजों की प्रतिमाओं पर पुष्प तथा भेंट आदि चढ़ाने का उल्लेख है।[२०]

राजा को दैवी शक्तिवाला मानने के मूल में संभवतः यही कारण था कि प्रजा में सर्वोच्च शक्ति के रूप में उसका आदर हो, सभी उसकी आज्ञा का पालन करें तथा राजपद की प्रतिष्ठा स्थापित हो।

राज्याभिषेक संस्कार—राज्याभिषेक के अवसर पर द्वीपांतर के राजा विभिन्न नाम एवं उपाधियाँ धारण करते थे—उदाहरण स्वरूप सिंहोक् (१०वीं श०) का राज्याभिषेक के समय 'श्रीईशानधर्मोत्तुंगदेव' तथा उसके दौहित्र का 'श्री मुकुटवर्धन' नाम रखा गया।[२१] मजपहित् राज्य के संस्थापक राजकुमार विजय का राज्याभिषेक के समय रखा नाम 'कृतराजसजयवर्धन' था[२२] एवं उसके पुत्र जयनगर का नाम 'सुंदर पाण्यदेवाधीश्वरविक्रमोत्तुंगदेव' था। राजकुमार हयम्‌वुरूक् का नाम 'श्री राजसनगर' रखा गया।

यह बात ध्यान देने योग्य है कि जिन जिन देशों में हिंदू राज्य स्थापित हुए वहाँ शताब्दियों तक रीतिरिवाज, उत्सव और संस्कार आदि की परंपराएँ भारतीय रहीं। मलाया और स्याम में अभी तक भारतीय ढंग से राज्याभिषेक संस्कार संपन्न होते थे।[२३] जावा में भी निःसंदेह १४वीं श० में भारतीय परंराओं के अनुसार ही राज्याभिषेक संस्कार का उत्सव संपन्न होता रहा होगा।

अनुवांशिक राजपद—जावा के इतिहास से स्पष्ट है कि प्राचीन काल से वहाँ राजपद आनुवांशिक हुआ करता था। यह प्रथा मध्य युगतक बनी रही। राजा

और कालिदास के रघुवंश में मिलते हैं। यह प्रथा भारत में संभवतः मध्ययुग तक थी। इस बात का संकेत पद्मावत की इस पंक्ति से मिलता है—'तब लगि चित्रसेन सिव साजा", पद्मावत डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० ८१, १७६ की टीका।

१९. चंडी=मंदिर।

२०. ना क्र०, ३७।७, पृ० ११४ चतुर्थ अध्याय।

२१. मजूमदार, हिंदू कालोनीज इन दि फार ईस्ट, पृ० ४४।

२२ वही, पृ० ६१।

२३. डा० खोडा, संस्कृत इन इंडोनेशिया, पृ० २१।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का ज्येष्ठ पुत्र ही उसका उत्तराधिकारी हुआ करता था, परंतु पुत्र के अभाव में पत्नी, पुत्री अथवा अन्य निकट संबंधी राजपद का अधिकारी होता था।[२४]

राजा की योग्यताएँ—राजा पर संपूर्ण राज्य की उन्नति निर्भर होती है। हजारों प्राणियों की सुरक्षा का भार उसपर होता है। अतः शासक के लिये योग्य, अनुभवी, प्रभावशाली एवं कर्तव्यपरायण होना अत्यंत अवश्यक होता है। परंतु शासक के अयोग्य होने पर सर्वत्र भ्रष्टाचार का बोलबाला हो जाता है, जनता में विद्रोह होने लगते हैं तथा देश पर कष्टों का पहाड़ आ पड़ता है। उस समय प्रजा राजा को उसी प्रकार त्याग देती है जिस प्रकार पति अपनी दुश्चरित्र पत्नी को त्याग देता है।[२५]

भविष्य में योग्य अनुभवी और कर्तव्यपरायण शासक बने इस कारण बचपन से ही भावी शासक को राजकार्य, अस्त्र-शस्त्र, धर्म, नीति, व्याकरण आदि विषयों की शिक्षा दी जाती थी। नागरकृतागम में कृतनगर को तर्क और व्याकरण शास्त्र का ज्ञाता कहा है। वह 'षडंग राजनीति' में प्रवीण और 'सुभूतितंत्र' का विद्वान् था। 'पूजा, योग और समाधि' का उसे अच्छा अभ्यास था। तत्वोपदेश पर लिखे ग्रंथों का उसने गहरा अध्ययन किया था।[२६]

द्वीपांतर के प्रत्येक नीतिग्रंथ में राजा के लिये रणवीर होना आवश्यक बतलाया है। अतः स्पष्ट है कि सैनिक शिक्षा भावी शासक को बाल्यावस्था से ही दी जाती थी। श्लोकांतर में कहा है कि राजा को स्त्रियों के मध्य मधुर भाषी, पंडितों की सभा में तत्वज्ञानी और शास्त्रों का ज्ञाता तथा रणभूमि में सिंह के समान साहसी और वीर होना चाहिए।[२७] एक अन्य श्लोक की कविटीका में कहा है कि राजा भूमि का स्वामी, देश का नेता एवं संरक्षक होता है। उसके हाथ में असीम शक्ति, धन तथा साधन होते हैं। असंख्य मंत्री, कर्मचारी और दास उसकी सहायता और सेवा में लगे रहते हैं। इस प्रकार समस्त साधनसंपन्न शासक भी यदि

२४. जावा की राजनीति में यह बात महत्वपूर्ण है कि वहाँ स्त्रियों को राजनीति में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था, जो कुशल शासक के समान राज्य का संचालन करती थीं और राज्य में अनेक उच्चपद प्राप्त करती थीं।

२५. श्लोकांतर, श्लोक ४२।

२६. ना० कृ०, ४३।२,३, ४।

२७. सिंहाकृत्वी रणमध्ये स्त्री मध्ये मधुरं कथः।
मुनि मध्ये तु तत्वज्ञः सयुत्तोनरं गतः।। श्लोकांतर, श्लो० १६।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रणक्षेत्र में शत्रुओं को पीठ दिखाता है तो उसका समस्त गर्व चूर्ण हो जाता है और अगले जन्म में वह विकलांग होता है। अतः राजा को युद्धभूमि में पराक्रमी होना चाहिए।[२८] सारसमुच्चय का लेखक भी इसी प्रकार विचार प्रकट करते हुए कहता है कि कायर और भीरु राजा पाप का भागी है।[२९] उपर्युक्त ये नियम नीति ग्रंथों तक ही सीमित नहीं थे, उनका पालन भी किया जाता था। नागरकृतागम के अनुसार जावा के शासक 'युद्धैक वीर', 'शत्रुंजय', शूरातिदक्ष'[३०] और दिग्विजय के हेतु 'भुवन' को शत्रुओं से रिक्त करनेवाले थे।[३१]

राजकुमारों को ही नहीं राजकन्याओं को भी सभी विषयों की शिक्षा दी जाती थी जिससे वे समय पड़ने पर सफल शासक सिद्ध हो सकें। ना० कृ० से ज्ञात है कि कृतनगर की बड़ी पुत्री राजपत्नी बौद्ध दर्शन और साहित्य की विदुषी थी। बौद्ध भिक्षुणी होते हुए भी उसने अपनी पुत्री त्रिभुवनोत्तुंगदेवीजयविष्णुवर्धनी की सहायता से कुशल शासक के समान राज्य का संचालन किया। उसकी विद्वत्ता और आध्यात्मिक ज्ञान के कारण ही मृत्यूपरांत उसे प्रज्ञापारमिता के रूप में प्रतिष्ठित किया गया। दह की राजकुमारी राजदेवी 'षड्गुण' संपन्न थी।

शासक के लिये एक अन्य योग्यता उच्चकुल का होना थी जो जावा के नीति ग्रंथों से ध्वनित है। जिस प्रकार वेदाध्ययन छोड़ देने पर भी ब्राह्मण समाज में पूज्य होता है उसी प्रकार राजा के पास सेना, कोष, सेवक आदि कुछ भी न होने पर भी केवल उच्चकुल में उत्पन्न होने के कारण ही सब उसका आदर करते हैं।[३२] परंतु कुलीन होना ही राजा होने के लिये पर्याप्त नहीं था। उच्चकुलोत्पन्न, वेदों, सांख्य और पुराणों का ज्ञाता होते हुए भी यदि वह शीलविहीन तथा क्रोधी है तो उपर्युक्त समस्त गुण निरर्थक हैं[३३] और जनता को एवं मंत्रियों को उसे त्याग देना चाहिए।[३४]

द्वीपांतर के नीति ग्रंथों में शासक के धर्मपरायण होने पर बहुत बल दिया गया है। जो शासक धर्मशील है, जिसने अपनी इंद्रियों को वश में कर लिया है,

२८. श्लोकांतर, श्लो० २८।
२९. सारसमुच्चय, श्लो० ६१।
३०. ना० कृ०, ४०।१।
३१. वही, ७।१।
३२. श्लोकांतर, श्लो० ५६।
३३. सारसमुच्चय, श्लो० १७०।
३४. श्लोकांतर, श्लो० ३६।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जो विद्या द्वारा विनीत है एवं जो अपनी पत्नी से तुष्ट है और अन्य स्त्रियों का माता के समान आदर करता है उसके लिये संसार में किसी प्रकार का भय नहीं है।[35] पूर्वजन्म के सत्कर्मों के फलस्वरूप ही शासक राजपद का अधिकारी होता है। यदि वह धर्म का अनुसरण नहीं करता, यज्ञ, दान, वेदाध्ययन और सत्य बोलना त्याग देता है तो वह उसी प्रकार अच्छे फलों की प्राप्ति नहीं कर सकता जिस प्रकार परिश्रम किए बिना एवं अच्छे बीज बोए बिना कृषक अच्छी फसल नहीं प्राप्त कर सकता। यदि राजा धर्मपरायण नहीं है तो मरुभूमि के कटीले वृक्षों के समान ही उसमें 'षड्दोष' उत्पन्न होने लगते हैं।[36] नागरकृतागम से स्पष्ट है कि जावा के शासक स्वभाव से ही धर्मपरायण थे। वे धर्मशास्त्रों के ज्ञाता होते थे। समय-समय पर धार्मिक उत्सवों में वे अपनी प्रतिज्ञाएँ दोहराते थे तथा बड़ी संख्या में ब्राह्मणों को दान आदि देकर तुष्ट करते थे। इतना ही नहीं वे अपने व्यस्त जीवन का निश्चित भाग व्रत पूजा, योग और समाधि में लगाते थे।[37] लोकहित के लिये वे विराट यज्ञ किया करते थे। स्वर्ग की कामना और नरक के भय के कारण सदा धर्मशास्त्रों के बताए नियमों का अनुसरण करते थे।

राजपद का महत्व—शासक राज्य का प्राण समझा जाता था। शासक-विहीन राष्ट्र निर्जीव शरीर के समान माना जाता था।[38] वररुचि तो यहाँ तक कहते हैं कि नृपहीन राष्ट्र उसी प्रकार पाप का भागी होता है जिस प्रकार रानी संन्यासी, मूर्ख वक्ता तथा स्नेहहीन प्रजा पाप की भागी है।[39] राजा का समाज में देवतुल्य आदर होता था। देवप्रभु,[40] नरनाथ, परमेश्वर, गिरींद्रपुत्र, जगत्-संरक्षक एवं द्वापर प्रभु,[41] आदि संबोधन उसके सर्वोच्च स्थान को प्रमाणित करने के लिये पर्याप्त हैं। धार्मिक उत्सवों तथा राजसभाओं में राजा का सिंहासन सर्वोच्च धरातल पर होता था। प्रत्येक कर्मचारी तथा सामंतगण उसे झुककर दंडवत् करते थे। केवल अपतिः (प्रधान मंत्री) स्युध्यक्ष (न्यायाधीश) एवं राजपुरोहित आदि कुछ सर्वोच्च अधिकारियों को ही यह विशेषाधिकार

३५. वही, श्लो० १६।
३६. श्लोकांतर, श्लो० ४१ की टीका।
३७. ना० कृ०, ४३।३।३।
३८. सारसमुच्चय, श्लो० २८६।
३९. वही, श्लो० ६८।
४०. ना० कृ०, ४३।४।४।
४१. वही, ५३।४।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्राप्त था कि वे अंजलि द्वारा राजा का अभिवादन कर सकते थे ।[४२] द्वीपांतर में ही नहीं अन्य देशों के लोग भी राजा का आदर करते थे। अनेक देशों के विद्वान् राजदरबार में राजा के लिये प्रशंसात्मक काव्यों की रचना करते थे। कांचीपुरी (कांजीवरम्) के पंडित् बुद्धादित्य ने 'भोगावली' की रचना राजा हयमूवुरूक् के यशोगान के रूप में की तथा अन्य विद्वान् मूतलि सुहृदय ने कई शुद्ध संस्कृत श्लोक राजा की स्तुति में लिखे। उसी प्रकार गौड़ और कर्नाटक के विद्वानों को भी राजाश्रय प्राप्त था।[४३] इतना ही नहीं राजा ह्यमूवुरूक् तीनों लोकों में पूज्य था।[४४]

आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक तथा धार्मिक सभी क्षेत्रों में राजा की यह सर्वोच्चता व्यक्तिगत कारणों से नहीं परंतु पद के कारण थी। अतः राजपद का महत्व विशेष था। भारतीय धर्मशास्त्रों में तो यहाँ तक कहा है कि राजा के पद पर आसीन व्यक्ति चाहे बालक ही क्यों न हो वह मनुष्यों में आदरणीय है, क्यों कि वह मनुष्य के रूप में देवता है।[४५]

राजा के कार्य--मजपहित् जैसे विशाल साम्राज्य की सुव्यवस्था के लिये राजा को प्रतिदिन असंख्य कार्यों में व्यस्त रहना पड़ता था। राजा ह्यमूवुरूक् के सुकार्यों और प्रयत्नों के कारण ही जावा में स्वर्ण युग की स्थापना हुई और उसकी गणना 'जम्बुद्वीप' (भारत) जैसे 'उत्तम सुदेशों' में की जाती थी।[४६]

प्रजा का पुत्रवत् पालन, दुष्टों को दंड देना और सज्जनों की रक्षा करना द्वीपांतर और भारत दोनों ही देशों के नीति ग्रंथों में राजा का प्रमुख कर्तव्य

४२. नवनाट्य, पिरवायड, खंड ३, पृ० १२३।

४३. सवेनः सं० पंडित अन्य धरणि मडिकत्त काष्टवन् श्री नरेन्द्र श्री बुद्धादित्य सं० भिक्ष्वगव इ सिर भोगाऽवली श्लोक कीर्ष्या। रिं जम्बुद्वीप तोङ्का निरभ्रङरनि कांचिपुरी पङ्विहार। स्वं सं विप्राङ रन् श्री मूतलि सहृदूयावत् स्तुति श्लोक शुद्ध। ना० कृ०, ९३।१।

४४. नहन् हेतुनिकोत्तमन् नृपति कप्रकाशितं पिनुजिं जगतया।
ना० कृ०, ९२।३।१।

४५. बालोऽपि नावमन्तव्यो मनुष्य इति भूमिपः।
महती देवता ह्येषा नर रूपेण तिष्ठति।—मानव धर्मशास्त्र।

४६. मङ्किन् रङ्देकन यवधरणि कपवित्रन्य रिं रात् प्रकाश।
ङिट जम्बुद्वीप क्षावन् यव क्तं इनुचप् कोत्तमन्यन् सुदेश॥ ना० कृ, ८३।२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

माना है।[४७] भारतीय धर्मशास्त्रों में इसे राजा द्वारा संपन्न होनेवाले पाँच यज्ञों में से एक माना है।[४८] कवि ग्रंथ श्लोकांतर का लेखक भी इसी प्रकार के विचार व्यक्त करता हुआ कहता है कि शूद्रों का बल हिंसा, गुणवान् व्यक्ति का बल क्षमा, राजा का बल दंडविधान तथा स्त्री का बल पतिसेवा है।[४९] वास्तव में राजपद की उत्पत्ति में भी यही कर्तव्य निहित है। राजा की उत्पत्ति ब्रह्मा की भुजाओं से मानी जाती है।[५०] भुजाओं से राजा की उत्पत्ति इस बात की सूचक है कि उसका मुख्य कार्य समाज के बुरे तत्वों से जनता की रक्षा करना है।[५०क]

नागर कृतागम में प्रपंच कहता है कि राजा हयम्वरुक् की राज्यव्यवस्था का आधार ही न्याय था। इसी कारण जावा की पवित्रता की चर्चा दूर देशों तक फैली हुई थी। 'ध्यक्ष' (जज) 'सतोपति' (न्यायकार्य में सहायता करनेवाले सात उपपत्ति जिनमें चार शैव और तीन बौद्ध होते थे।) आदि न्याय विभाग के असंख्य अधिकारी न्याय व्यवस्था के कार्य में लगे रहते थे।[५१]

४७. कामंदकीय नीतिसार १४,।५१, १।११; पंचतंत्र १।२४०।

४८. अत्रिसंहिता; २८वाँ श्लोक; हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र, पृ० ५७।

४९. हिंसा बलमनार्याणाम् क्षमा गुणवतां बलम्।
राज्ञः दंडविधिबलम्। शुश्रूषा हि बलं स्त्रीणाम्॥ श्लोकांतर, श्लो० ५०।

५०. देखिये ऋगवेद १०।९०।१२, अथर्ववेद १९।६।६, बाजसनेयी संहिता ३१-११ तथा कविग्रंथ श्लोकांतर का श्लोक ७८वाँ। जावा के एक अन्य कवि ग्रंथ 'तत्वनि व्यवहार' में भी इसी प्रकार का श्लोक है। एच० बी० सरकार, इंडियन इन्फ्लुएंस आन दि लिटरेचर आफ जावा एंड बालि, पृ० ९८।

५०क. प्रजा परिपाल हि राज्ञो यज्ञ सोमदेव पृ० १०९। सार समुच्चय में ६४वें श्लोक की कवि टीका में लेखक कहता है कि वेदों का अध्ययन, यज्ञ, प्रतिदिन अग्निहोत्र करना तथा प्रजासेवक भृत्यों एवं संबंधियों की रक्षा एवं पालन करना क्षत्रिय वर्ग का प्रमुख कर्तव्य है। इन कर्तव्यों का पालन कर वह स्वर्ग प्राप्त करता है।

५१. ना० कृ०, ८३।२।३। जावा की राजनीति के संबंध में यह बात ध्यान देने योग्य है कि यहाँ इस काल में न्याय, व्यवस्था-विभाग पूर्णतः धार्मिक धर्माध्यक्षों के हाथ में था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राजा की सात देवताओं से तुलना उसके विभिन्न संवैधानिक और लोकहितकारी कार्य की ओर संकेत करती है। सूर्य के रूप में अंधकाररूपी शत्रुओं का नाश करनेवाला, शतमन्यु (वर्षा) के रूप में राष्ट्र को धन धान्य से संपंन कर अकाल आदि से मुक्ति दिलानेवाला, पितृपति के रूप में दुष्टों को दंड देने और सज्जनों की रक्षा करने वाला तथा वरुण के समान देश की समृद्धि का कारण है। वायु के रूप में सभी स्थान में गुप्तचरों के माध्यम से प्रकट होकर न्याय और सुव्यवस्था स्थापित करता है एवं पृथ्वी के रूप में सर्वप्राणियों का अन्नदाता है।'[५२]

जनकल्याणकारी कार्यों में भी राजा पर्याप्त ध्यान देता था। ना० कृ० का लेखक प्रपंच कहता है कि राजा ह्यम्‌वुरुक्‌ के यश का कारण 'कीर्ति' (निर्माण कार्य) और 'दानपुण्य' है। राजा की 'कीर्ति' (निर्माण कार्यों) के कारण ही जनता अपने को सुरक्षित समझती थी।[५३] राजा दान और निर्माण कार्यो द्वारा ब्राह्मण वर्ग को तुष्ट रखता था। ब्राह्मणों और पुरोहितों को राज्य की ओर से भूमि प्राप्त थी। चंडियों (मंदिरों) 'कुटि' और विहारों आदि की व्यवस्था राजकोष से होती थी। दान में दी भूमियों से कर नहीं लिया जाता था। शासक समय-समय पर राजादेश प्रसारित कर दान में दी भूमियों की व्यवस्था का उचित प्रबंध करता था। 'राजपतिगुंडल' नामक राजादेश (रायल चार्टर) में दिए 'धर्म' (धार्मिक भूमियों) की व्यवस्था संबंधी नियम दिए हैं.[५४]

'चतुर्जन' (चतुवर्ण) और 'वर्णाश्रम' की व्यवस्था करना भी राजा के सामाजिक कार्यो में से एक था। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र इन चार वर्णों को अपने अपने 'शासन' (कर्तव्यों, नियमों) पर बनाए रखना द्वीपांतर के नीतिग्रंथों में आवश्यक बतलाया है। जब ये अपने नियमों का पालन नहीं करते तो समाज में अव्यवस्था व्याप्त हो जाती है एवं धर्म का नाश होता है। अतः 'सर्वधर्म' और 'राजपतिगुंडल' जैसे राजादेशों को समय-समय पर प्रसारित कर राजा इन वर्णों को अपने कर्तव्यों के प्रति सचेत करता था। 'राजपतिगुंडल' में राजा आदेश देता है कि ब्राह्मण (शैव या बौद्ध) का पुत्र ब्राह्मण, राजा का पुत्र राजा, साधारण मनुः (ममुष्य) का पुत्र मुनः तथा शूद्र का पुत्र शूद्र होगा प्रत्येक को अपने कर्तव्यों का

५२. ना० कृ०, ७।१-२।
५३. ना० कृ०, ८०।३।
५४. पिरवायड जावा इन दि फोर्टींथ सेंचुरी, खंड ३, पृ० १२७ से १३७ तक।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पालन करना चाहिए।[५५] इस प्रकार इन राज्यादेशों द्वारा 'चतुर्द्विज'[५६], चतुर्जन (चारवर्ण) और चतुराश्रम अपनी 'क्रिया' और व्रतों में लगे रहते थे। प्रत्येक को अपने लिये वर्णित 'शासन'[५७] का पालन करना भी आवश्यक था। नागर-कृतागम में एक स्थान पर कहा है कि 'चतुर्जनों' को अपने पद के अनुसार शासनों का पालन करना चाहिए। राजा एवं मंत्रियों को भूपालन के कार्य में निपुण होना चाहिए, वैश्य को क्रय विक्रय के कार्य में विनम्रता और शील के साथ यत्न करना चाहिए और शूद्र को सेवा के कार्य में लीन रहना चाहिए।[५८] आगे 'कुजन्म' (शूद्र) के विभिन्न प्रकार बतलाते हुए कहा है कि 'चांडाल', 'म्लेच्छ' और 'तुच्छ' ये तीन 'कुजन्म' है इन्हें अपने पद के अनुसार अपनी सीमा के भीतर कर्म करने चाहिए।[५९]

संसार से विरक्त हो जंगल और पर्वतों में निवास करनेवाले 'महर्षियों' और 'तप तपी' (तपस्वियों एवं उनकी पत्नियों) के लिये भोजन, वस्त्र एवं सुरक्षा की उचित व्यवस्था करना भी जावा के धर्मपरायण शासक अपने कार्यों का मुख्य अंग मानते थे। राजयात्राओं के समय शासक ऋषियों के आश्रमों में राज्य द्वारा की गई व्यवस्था का निरीक्षण करता था और 'उपभोग' (वस्त्र), अर्थ (धन) आदि भेंट देकर उन्हें तुष्ट करता था।[६०]

राज की ओर से धर्म (रिलीजियस डोमेंस), 'सीमा' (इस्टेट्स), 'वंश' (फैमिली लैंड) और 'हिल हिल हुलुनन' (मृत पूर्वजों की आत्माओं की भूमि) आदि भूमियों की सीमा निर्धारण और व्यवस्था वैधानिक राजादेशों को प्रसारित करके की जाती थी। इनके स्वामियों की प्रत्येक पीढ़ी को वैधानिक स्वीकृति पत्र और प्रमाण पत्र भी राजा की ओर से भेजे जाते थे। इसके अतिरिक्त प्रादेशिक और

५५. पिरवायड, राजपति गुंडल, प्रथम खंड, पृ० ८०; तृतीय खंड, पृ० १३०।
५६. 'चतुर्द्विज' = विप्र, ऋषि, शैव, और बौद्ध ब्राह्मण।
५७. जावा के साहित्य और अभिलेखों में ५ प्रकार के शासनों का उल्लेख हुआ है। इनमें विभिन्न धर्मानुयायियों और वर्णों के नियम वर्णित हैं। ये ५ शासन हैं—शैवशासन, ऋषिशासन, ब्रतिशासन, देवशासन और राजशासन।
५८. ना० कृ०, ८१।३।
५९. वही, ८१।४।३-४।
६०. वही, ३३।१-२।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ग्रामीण वस्तियों की व्यवस्था के लिये 'पतिक गुंडल' (नियमावली) भेजकर व्यवस्था की जाती थी।[६१] 'पतिक गुंडल' में राजा हयम्‌वुरूक् राजकीय और स्थानीय कर्मचारियों को आदेश देता है कि गुरुओं, ब्राह्मणों एवं पुरोहितों को किसी प्रकार का कष्ट न दें, उनका अनादर न करें तथा उनसे कर आदि लेकर उनको दुःख न न पहुँचाएँ। कुछ राजादेशों में राजा द्वारा स्वतंत्र भूमियों के सीमानिर्धारण कर आदि संबंधी नियमों का उल्लेख है तथा कुछ अन्य राजादेशों में दान में दी भूमियों की पुनरावृत्ति की गई है।[६२] इस प्रकार 'यव भूमि' और मजपहित साम्राज्य के दूरस्थ द्वीपों तक की जनता राजा द्वारा प्रसारित किए राजादेशों और 'शासनों' का पालन करती थी।[६३] देश ग्राम बदलना प्रतिवर्ष विभिन्न अवसरों पर राजयात्राओं द्वारा देश की राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक और धार्मिक परिस्थितियों का निरीक्षण करना भी राजा का महत्वपूर्ण कर्तव्य था। इस अवसर पर मार्ग में प्रत्येक वस्तियों के प्रतिनिधि और वृद्धजन राजा से प्रत्यक्ष मिलते थे और अपनी कठिनाइयाँ सुनाते थे एवं उपज का निश्चित भाग वस्त्र, भोजन एवं अन्य वस्तुएँ भेंट करते थे। इन यात्राओं से एक लाभ यह भी होता था कि देश में विद्रोह आदि की संभावना कम रहती थी। राजकोष के लिये भी राजयात्राएँ लाभकारी थीं। मनोरंजन, शिकार तथा धार्मिक स्थलों की पूजा इन राजयात्राओं के अन्य उद्देश्य थे। इनमें राजा को प्रजा के अधिक निकट जाने का अवसर मिलता था। मजपहित् शासकों की ये राजयात्राएँ मौर्यकाल की धर्मयात्राओं और गुप्तकालीन राजयात्राओं का स्मरण दिलाती हैं।

राज्य की ओर से शिक्षा के प्रचार पर भी पर्याप्त ध्यान दिया जाता था। अनेक कवियों और विद्वानों को दरबार में संरक्षण देकर प्रोत्साहित किया जाता था। इस काल की कविभाषा का विस्तृत साहित्य इस काल की उच्च शिक्षा का द्योतक है। अर्जुन विवाह, सुतसोम, कुटार मानव, नागरकृतागम, एवं रामायण और महाभारत पर अनेक ग्रंथ १४वीं शताब्दी में लिखे गए। विहारों एवं विद्यालयों आदि का निर्माण और संचालन का कार्य संभवतः राजकोष से होता था।

६१. ८८।३ और ८९।१ तथा ७९।२-३ सर्गों में दूतों द्वारा 'पतिकगुंडल' (नियमावली) भेजकर ग्रामीण बस्तियों 'मंडलों' (धार्मिक बस्तियों) तथा धर्मग्रामों आदि की व्यवस्था स्थापित करने का उल्लेख है।

६२. वही ८०।३।

६३. हे तुन्यं यव भूमि अतुतुरिं डलः अनूत शासन श्री नरेंद्र। ना० कृ०, ७९।२।४।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राजा पर नियंत्रण

राजा के लिये प्रजा और मंत्रियों के इच्छानुसार कार्य करना आवश्यक था। जावा का इतिहास प्रमाणित करता है कि जब जब शासक ने निरंकुश और स्वेच्छाचारी होने का प्रयत्न किया तब तब राज्य में उसके विरुद्ध विद्रोह उठ खड़े हुए। 'पररतन' नामक ऐतिहासिक कविग्रंथ में कृतनगर को ऐसा ही स्वेच्छाचारी और अयोग्य शासक बताया है जिसने जनता की इच्छा के विरुद्ध चलने का प्रयत्न किया। अतः उसे राजपद से ही नहीं प्राणों से भी हाथ धोने पड़े।

जावा के नीतिग्रंथों में अयोग्य शासक को त्याग देने का अधिकार जनता और मंत्रियों का दिया है।[६४] द्वीपांतर के विस्तृत नीति साहित्य राजा के कर्तव्यों संबंधी वर्णनों से स्पष्ट है कि ये धर्मग्रंथ ही राजा के लिये एक प्रकार से नियंत्रण थे। राजा को इनके बताए मार्ग पर चलना आवश्यक था। यहाँ के धर्मपरायण शासक प्रजा के विरुद्ध कार्य करके धर्मविरुद्ध कार्य नहीं करना चाहते थे। अपने सुखों को त्यागकर भी वे प्रजा को हर प्रकार की सुविधा प्रदान करने को सदा तत्पर रहते थे। पाप और नरक की कष्टकारी यातनाओं का भय उन्हें सदा सत्मार्ग पर चलने को प्रेरित करता था। नीतिग्रंथों में कहा है कि पूर्व जन्म के सुकर्मों के फलस्वरूप ही राजा राजवैभव का उपभोग कर प्रजा पर शासन करता है। पूर्व जन्म के सत्कर्मों का प्रभाव समाप्त होने पर उसे राजवैभव से हाथ धोना पड़ेगा। अतः राजा को चाहिए कि वह इस जन्म में भी सत्कर्म करे तभी वह स्थायी रूप से प्रजा पर शासन कर सकता है।[६५]

सत्ता का विकेंद्रीकरण राजा की स्वेच्छाचारिता को सीमित करने को पर्याप्त था। साम्राज्य प्रांतों, जिलों, ग्रामों, मंडलों (धार्मिक बस्तियों) आदि में बटा होता था। प्रत्येक इकाई के शासक आंतरिक विषयों में राजा के प्रभाव और हस्तक्षेप से मुक्त थे। विशाल मंत्रिमंडल भी राजा की शक्ति को नियंत्रित करने में सहायक था। ना० कृ० से स्पष्ट है कि शासक हयम् वुरुक् प्रधानमंत्री गजमग का बहुत आदर करता था और प्रत्येक विषय पर मंत्रिमंडल और राजदरबार के सात सदस्यों की उच्च समिति की सलाह लेकर ही कोई कार्य करता था।

६४. सारसमुच्चय, श्लो० ४२।

६५. श्लोकांतर, श्लो० ४१ की कविटीका।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जनता और राजा के संबंध

राजा और प्रजा के बीच पिता पुत्र के समान स्नेहपूर्ण संबंध था। जनता सदा अपने 'प्रभु' और लोकनायक पर सर्वस्व न्योछावर कर देने को तत्पर रहती थी तथा राजा भी प्रजा के सुखों के लिये अपने समस्त सुखों को त्याग करने को तत्पर रहता था। राजयात्राओं और सार्वजनिक उत्सवों के आयोजनों का प्रमुख उद्देश्य प्रजा से निकट संपर्क स्थापित करना ही प्रतीत होता है। राजयात्रा के समय प्रत्येक गाँव और बस्ती की जनता मार्ग के दोनों ओर घंटों धूप में बैठकर अपने 'प्रभु' की प्रतीक्षा करती थी और राजा के दर्शन कर अपने को धन्य समझती थी।[६६] प्रत्येक बस्ती के प्रतिनिधि और ग्रामसभा के वृद्धजन अपनी बस्ती की ओर से राजा का संमान करते थे और स्नेह स्वरूप विविध प्रकार के उपहार भेंट करते थे। इतना ही नहीं संसार के मोह माया से विरक्त तपस्वी और उनके परिवार के व्यक्ति भी राजा के आश्रम से लौटने पर सामान्य व्यक्तियों के समान अश्रु बहाते थे।[६७]

*

६६. ना० कु०, १८।७।१ चतुर्थ, खंड, पृ० ६२।

६७. वही ३३ और ३४।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वज्जिका भाषा और साहित्य

अजित शुकदेव

वज्जिका उत्तर बिहार के उस क्षेत्र की भाषा है जहाँ भगवान् महावीर और बुद्ध की जन्मभूमि एवं कर्मभूमि थी तथा प्रथम गणतंत्रात्मक वज्जिसंघ का राज्य था। अतः वज्जिका की प्राचीनता एवं गरिमा वैशाली गणतंत्र के साथ जुड़ी हुई है और शायद इसका पतन भी वैशाली के पतन के साथ ही साथ हो गया। तब से यह भाषा लोककंठ में ही जीवित रही है, लिखित साहित्य के रूप में नहीं। ऐसा भी संभव है कि इसका लिखित साहित्य विनष्ट हो गया हो, जैसा कि प्राकृत-अपभ्रंश के बहुतेरे ग्रंथों के साथ हुआ। प्राकृत एवं अपभ्रंश के साहित्य के अनुशीलन से कितने ही ऐसे शब्द मिलते हैं जिनके रूप ज्यों के त्यों आज भी अक्षुण्ण हैं और परवर्ती भाषाओं में उस रूप में वे नहीं मिलते। इसलिये वज्जिका के स्वरूप का दर्शन बौद्ध-जैन-साहित्य से लेकर संत साहित्य तक देखा जा सकता है।

इस भाषा के स्वतंत्र अस्तित्व की ओर संकेत करनेवाले राहुल सांकृत्यान थे, जिन्होंने अपने लेख 'मातृभाषाओं की समस्या'[1] में भोजपुरी, मैथिली, मगही और अंगिका के साथ साथ वज्जिका को भी हिंदी के अंतर्गत जनपदीय भाषा के रूप में स्वीकार किया। इसके बाद रामपदार्थ शर्मा के चिंतन मनन के फलस्वरूप इस भाषा के नामकरण, स्वरूप, क्षेत्र आदि पर मौलिकतापूर्ण विचार किया गया।[2] लेकिन इनके पहले इस भाषा के संबंध में विद्वानों के बीच द्विधापूर्ण स्थिति रही। ग्रियर्सन ने कभी तो इसे 'पश्चिमी मैथिली'[3] कहा तो कभी 'मैथिली-भोजपुरी'[4]। ठीक इसी प्रकार की धारणा डा० सुभद्र झा[5] एवं डा० जयकांत मिश्र[6] की भी रही। ग्रियर्सन

१. एल० एस० आई० खं० ६ भा० २, पृ० १४।
२. वही, पृ० १६।
३. तुरकी वैशालीदर्पण, १९६४।
४. वही, १९६४।
५. पुरातत्व निबंधावली पृ० १२, २४७।
६. ए हिस्ट्री आव् मैथिली लिट०, पृ० ५५, ६०, भा० १।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के अनुसार यदि यह 'मैथिली भोजपुरी है' तो दोनों भाषाओं का संमिश्रण भौगोलिक सीमा पर, कुछ निश्चित क्षेत्र में, होना चाहिए--विस्तृत भूभाग में नहीं। लेकिन इस भाषा का क्षेत्र डा० सियाराम तिवारी के अनुसार ५२०५.६ वर्गमील है और इसके बोलनेवालों की जनसंख्या ७० लाख १३ हजार ४६७ है।[७] दूसरी बात यह है कि ग्रियर्सन ने स्थूल दृष्टि से वज्जिका के क्रियापदों में 'छ' देखकर इसे मैथिली समझ लिया। लेकिन वज्जिका और मैथिली के इस क्रियापद में अंतर है। जैसे—आवि रहल अछि (मैथिली), अबइछी (वज्जिका) और जहाँ इस क्रिया पद का प्रयोग मैथिली में भूत और वर्तमान काल में होता है वहाँ वज्जिका में केवल वर्तमान काल में ही। पुनः क्रियापदों का छ-युक्त रूप से भिन्न रूप देखकर उन्होंने भोजपुरी मान लिया। लेकिन उन्हें कहाँ पता था कि भोजपुरी भाषा में बहुवचन बोधक चिह्न या प्रत्यय नि, न, न्ह होते हैं परंतु वज्जिका में नि के स्थान पर 'नी' का प्रयोग होता है तथा अन्य दोनों चिह्न एकदम नहीं पाए जाते। फिर वे आगे लिखते हैं—'मैंने सेवेन ग्रामर्स आफ दि बिहारी लैंग्वेजेज़, भाग दो में इसे भोजपुरी का एक भेद बताया था, किंतु वर्तमान सर्वेक्षण से इसे मैथिली की विभाषा इसलिये बता रहा हूँ कि जिस क्षेत्र में वह बोली जाती है, वह ऐतिहासिक दृष्टि से प्राचीन मिथिला राज्य के अंतर्गत है।' लेकिन ध्यातव्य है कि सोलह जनपदों में वहाँ वज्जि महाजनपद का नाम लिया गया है और संपूर्ण मुजफ्फरपुर जिले जिसके अंतर्गत था,[८] वहाँ मिथिला का नाम नहीं आया है। अतः ग्रियर्सन का यह आधार कोई तुक नहीं रखता। बात यह है कि भोजपुरी और मैथिली के अतिरिक्त भी कोई भाषा हो सकती है, इतनी दूर तक ग्रियर्सन का ध्यान गया ही नहीं। जिन भाषाओं और बोलियों का नाम पहले से ज्ञात था उन्हीं भाषाओं के क्षेत्र को निर्धारित और उनको उदाहृत मात्र करने का काम उन्होंने किया। ऐसी स्थिति में उनके लिये संभव नहीं कि वे पूर्वोक्त कारणों से परस्पर संकुचित वज्जिका, मैथिली, अंगिका और भोजपुरी इन भाषाओं के बीच विभाजक रेखा खींच सकते।

पुनः डा० जयकांत मिश्र और डा० उदयनारायण तिवारी ने क्रमशः मैथिली और भोजपुरी में चार चार रूपों को स्वीकार किया है—अतिह्रस्व, ह्रस्व, अतिदीर्घ, दीर्घ जैसे घोर, घोरा, घोरवा और घोरउआ। लेकिन वज्जिका में अतिह्रस्व और अतिदीर्घ दोनों ही रूप नहीं पाए जाते हैं। इस प्रकार इस भाषा की प्रकृति परवर्ती भाषाओं के साथ कुछ मेल खाते हुए भी एकदम भिन्न है। इस भाषा के स्वतंत्र

७. डा० सियाराम तिवारी, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् में पठित निबंध।
८. एल० एस० आई०, खं० ५; भा० दो, पृ० १०७।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अस्तित्व और सत्ता को स्वीकार करते हुए जगदीशचंद्र माथुर[9] और गणेश चौबे[10] ने तो यहाँ तक कहा है कि थारू भाषा भी वज्जिका ही है। भाषाविज्ञान की दृष्टि से विचार करनेवाला डा० सियाराम तिवारी का लेख बहुत ही खोजपूर्ण और वज्जिका भाषा के विभिन्न अंगों पर काफी प्रकाश डालता है। उनके अनुसार वज्जिका क्षेत्र के उत्तर में नेपाल, दक्षिण में गंगा नदी, पश्चिम में सारण और चंपारण के भाग और पूर्व में दरभंगा जिला है। उन्होंने व्याकरण की दृष्टि से भी इस भाषा के विभिन्न क्रियारूपों, वचन, लिंग, काल आदि पर तर्कसंमत विचार व्यक्त किया है। इस संदर्भ में, डा० योगेंद्र मिश्र[11], डा० अजितनारायण सिंह तोमर[12] और राधावल्लभ शर्मा[13] भी कम महत्वपूर्ण नहीं हैं, जो इस भाषा के संबंध में सतत खोजपूर्ण कार्य करते रहे हैं। अभी अभी, इस भाषा की विभिन्न शाखाओं पर शोधपूर्ण कार्य करनेवालों में डा० कामेश्वर शर्मा, रामइकबाल सिंह 'राकेश', प्रो० जयकांत शर्मा, योगेंद्र नारायण शर्मा, रामपदार्थ शर्मा, प्रो० उमाकांत वर्मा, राम रीझन रसूलपुरी, श्रीरंग शाही, प्रो० विनोदिनी शर्मा, डा० अवधेश अरुण आदि के नाम उल्लेख्य हैं।

साहित्य

सम्यक् शोध एवं खोज के अभाव में अभी इस भाषा में लिखित साहित्य प्राप्य नहीं है। फिर भी गयाधर[14], हलधरदास[15] मँगनीराम[16] आदि की कुछ रचनाएँ प्राप्त हुई हैं, जहाँ से वज्जिका भाषा का साहित्य प्रारंभ होता है। गयाधर का रचनाकाल १०४५ ई० माना जाता है। ये वैशाली के रहनेवाले थे और बौद्ध धर्म के प्रचारार्थ तिब्बत गए थे। इनकी कोई ठोस रचना अभी तक नहीं मिली है। हलधरदास का समय १५६५ ई० ठहरता है, जिनका लिखा हुआ एक खंड काव्य 'सुदामाचरित्र'[17] प्राप्त है, जो संपूर्ण वज्जिका में लिखा गया है। कहा जाता है, इन्होंने बहुतेरी रचनाएँ वज्जिका में की थीं लेकिन सुदामाचरित्र

९. तुरकी वैशाली दर्पण, मार्च, १९६४, पृ० ६१।
१०. वही।
११. वही, १९६३।
१२. लोक संस्कृति के तृतीय अधिवेशन उज्जैन में पठित तोमर जी का निबंध।
१३. वही।
१४. वज्जिका, प्रवेशांक १९६०।
१५. वही।
१६. वही, १९६७।
१७. वही।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के अतिरिक्त इनकी और कोई रचना अभी तक नहीं मिली है। मँगनीराम का जीवन काल उमाशंकर जी[१८] के अनुसार १८१५ ई० के आस पास माना जाता है। जिनकी तीन पुस्तकें—मँगनी राम की साखी,[१९] रामसागर पोथी[२०] और अनमोल रतन[२१] मिली हैं। इनके अलावा इनके भजन और साखियाँ जनता में भी प्रचलित हैं, जिनका संकलन संपादन अभी नहीं हो पाया है।

वज्जिका भाषा के साहित्य का दूसरा अध्याय २०वीं शताब्दी से शुरू होता है। इस काल में बहुत सीं रचनाएँ साहित्य के विभिन्न अंगों पर लिखी गई हैं और लिखी जा रही हैं।

रामसंजीवन सिंह द्वारा लिखित बुद्ध वैशालिक,[२२] वज्जिका भाषा का संमुन्नत एवं सफल काव्य है, जो वज्जिका भाषा की काव्यात्मकता की सफलता का द्योतक है। डा० अजित नारायण सिंह तोमर का कहानी संग्रह—'परछुत के परमाण की'[२३] वज्जिका भाषा साहित्य की कहानी विधा को गौरवान्वित करता है। इनके अलावा नगेंद्रनाथ,[२४] उमाकान्तु वर्मा,[२५] सत्यनारायण अष्ठाना,[२६] सुरेशचद्र 'सुम्न', कुमुदिनी[२७] शर्मा,भूपेंद्र अबोध,[२८] दीनेंदु भारती[२९];शिवदेव शर्मा 'पथिक',[३०] अजित शुकदेव,[३१]; वीरेंद्र वेनोपुरी[३२] आदि वज्जिका भाषा साहित्य के समर्थ साहित्यकार है।

❀

१८. वही।
१९. वही।
२०. वही।
२१. वही।
२२. वही, प्रवेशांक, द्वितीय, तृतीय पुष्प।
२३. प्रकाशक राष्ट्रभाषा परिषद, पटना, १९६२ ई०
२४. वज्जिका, १९६३ ई०
२५. वही, १९६३ ई०
२६. वही, १९६३ ६४
२७. उत्तर विहार, पटना १९६६-६७।
२८. वज्जिका, १९६३, १९६४ ई०
२९. वहा।
३०. उत्तर विहार, तुरकी वैशाली दर्पण, १९६४, १९६५,६६।
३१. वज्जिका, १९६५,६६
३२. उत्तर बिहार, तुरकी गैशाली दर्पण १९६४, १९६५, ६६, ६७।
३३. वल्जिका, १९६५, १८६६।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पौराणिकी

लोक वेद व्यापार को, त्याग कहात निरोध।
आपुहिं कर्म पलात सब, होत जबै बर बोध ॥४३५॥

श्रीहरि माँहिं अनन्यता, अहै भक्ति फल जान।
तासु बिरोधी कर्म मैं, उदासीनता आन ॥४३६॥

सब आश्रय को त्यागही, है अनन्यता मीत।
होइ एक भगवान को, भक्त सु होत पुनीत ॥४३७॥

उनहीं के अनुकूल धरि, लोक वेद आचार।
तिन विरोधि कर्मन बिषैं, उदासीनता धार ॥४३८॥

जबलौं निश्चय दृढ़ नहीं, होत, तबहिं लौं जीव।
शास्त्र विहित सत कर्म कौं, करै सहेत अतीव ॥४३९॥

दृढ़ निश्चय बिन जो तजै, शास्त्र विहित सत्कर्म।
पतित होत जग जीव वह, बिन जाने यह मर्म ॥४४०॥

लोक वेद व्यापार सब, दृढ़ निश्चय लगि मान।
किंतु भोजनादिक सकल, जीवन लौं जिय जान ॥४४१॥

नाना मत तें भक्ति के, कहे विभेद अनेक।
पूजादिक अनुराग जहँ, भेद कहावत एक ॥४४२॥

होय कथादिक में जहाँ, अमल अचल अनुराग।
भेद दूसरो जानिये, जग जाहिर जिय जाग ॥४४३॥

होय आतम रति के जहाँ, जो अविरुद्ध अथाह।
सो भी जो है भक्ति को, भाव पियूष-प्रवाह ॥४४४॥

चौथी श्री भगवान में, सकल समर्पण मीत।
भक्ति अलौकिक जनिये, पावन करत पुनीत ॥४४५॥

जहँ लीला संयोग मैं, होत अनंद अपार।
प्रति छिन हूँ की विस्मृती, देत दुसह दुख भार ॥४४६॥

साँची सोई बखानिए, भक्ति अपूरब मित्र।
जैसे श्री व्रज गोपिका, चरित विचित्र चरित्र ॥४४७॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जदपि नाहिं माहात्म्य को, ज्ञान कोयिका हीय।
तदपि परावधि प्रेम की, तिन मैं ही (रही) कमनीय ॥४४८॥

क्षणिक ज्ञान माहात्म्य कौ, होत कबहुँ तिन मात!
पैं ताकौं उन भूलि कै, कियो प्रेम को नात ॥४४९॥

अहो अखिल ब्रह्मांड मैं, ध्वजा प्रेम की धन्य।
श्री हरि हित अनुराग मैं, गोपी भईं अनन्य ॥४५०॥

नहिं उनकौं सो प्रेम कोउ, कियो न करिहै कोय।
श्री माधव अनुरक्ति को, बीज गईं ते बोय ॥४५१॥

है महात्म्य के ज्ञान बिन, प्रेम जार सब जान।
पै यह दोष न गोपिका, माँहि दिखात सुजान ॥४५२॥

भई निछावर प्रेम करि, हरि रत परम अनन्य।
गोपिन सौं या विश्व मैं, दीखत नाहिं सुजान ॥४५३॥

जो निज प्रिय के सुख सुखी, स्वीया ताही बखान।
यह लक्षण गोपीन मैं, दीखत नाही सुजान ॥४५४॥

जो निज सुख ही मैं सुखी, कछु प्रिय सुखहू चाह।
परकीया सो जानिये, इनको कठिन निबाह ॥४५५॥

... ... ।
... ... ॥४५६॥

... ... ।
... ... ॥४५७॥

... ... ।
... ... ॥४५८॥

... ... ।
... ... ॥४५९॥[1]

छिन वियोग मैं कल्पशत, कोटि दुसह दुख मान।
अहो अनोखी प्रेमिनी, इन सम को जग आन ॥४६०॥

१. ४४५ दोहे के बाद का १४२वाँ पत्र मूल हस्त लेख में नहीं है अतः क्रमशः ५६, ५७, ५८ तथा ५९ संख्यक दोहे अप्राप्य हैं।—संपादक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्यौं प्रिय छिन संयोग मैं, पाइ परम आनंद।
कोटि कल्प सत स्वर्ग सुख, मानत है अतिमंद ॥४६१॥

इन समान जग को अहै, प्रेममयी कछु मीत।
इनकी गाथा जगत कों, पावन करति पुनीत ॥४६२॥

श्रीमुख तें श्रीहरि कह्यौ, दाँतन तृन धरि धीर।
रिनी तुम्हारे हम सखी, हाजिर सहित शरीर ॥४६३॥

तुम समान संसार मैं, मेरो प्रिय नहिं आन।
सदा तुम्हारे [illegible] रिनी, रहिहैं सुनहु सुजान ॥४६४॥

ऐसी प्रेमिन को कहै, जो परकीया नार।
तिन पैं जम द्वारे परैं, मार मार पैं मार ॥४६५॥

बंदौं श्री ब्रज गोपिका, चरण कमल मकरंद।
जेहि लहि परमानंद सुख, पायो परमानंद ॥४६६॥

इनकी समता जगत मैं, को करि सकत सुजान।
चरन कमल जिनके सदा, सेवत श्री भगवान ॥४६७॥

हरि माहात्म्य ज्ञान की, विस्मृति को अपवाद।
नाहिं गोपिका जन विषैं, यही भक्ति कृत बाद ॥४६८॥

वस्तु शक्ति नहिं होत है, कबहुँ अन्यथा देख।
जो जामैं गुण ताहि मैं, रहत समायो पेख ॥४६९॥

बिन जानेहूँ विष भखे, होत प्राण की हानि।
होत सुधा चखि अमरता, यही वस्तु गुण जानि ॥४७०॥

यदपि ब्रह्म को ज्ञान नहिं, रह्यौ गोपिका हीय।
पै उन पाई परम गति, रति करि अति कमनीय ॥४७१॥

जाने अनजाने करै, जो रति हरि मैं जीव।
जो हरि गुण माहात्म्यवश, शुभगति लहत अतीव ॥४७२॥

बिन जाने माहात्म्य के, प्रेम जार को होय।
यही जगत व्यवहार है, जानत यह सब कोय ॥४७३॥

निज पति तजि पर पति भजै, सोई जारिखी नार।
पै गोपिन मैं यह कहाँ, है तुम करहु विचार ॥४७४॥

निज पति तजि पर पति नहीं, भजी गोपिका मीत!
नैन खोलि उनकी कथा, पढ़िये परम पुनीत ॥४७५॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अंग संग भगवान तें भयो, न कहुँ व्यभिचार।
खोलि भागवत बाँचिये, कहाँ कलुष व्यापार ॥४७६॥

वह तो अति अनुराग की, परम विमल रति मीत।
जो वह कथा विचारिकै, पढ़ै सु होय पुनीत ॥४७७॥

कर्म ज्ञान अरु योग तें, भक्ति बड़ी यह जान।
या की निज मुख तें कही, महिमा श्री भगवान ॥४७८॥

कर्मादिक साधन अहैं, भक्ति अहै फल रूप।
ऐसो साधन सहज लहि, परहु न तुम भवकूप ॥४७९॥

सदा द्वेष अभिमान तें, करत सुमुख भगवान।
त्यों दीनन पैं नेह नित, अविचल अचल समान ॥४८०॥

केवल ज्ञानहिं भक्ति को, साधन मानत एक।
आश्रय ज्ञानरु भक्ति को, कहत परस्पर एक ॥४८१॥

'स्वयं भक्ति फलरूप' यह, कहत कुमार उदार।
जैसें भोजन आदि अरु, प्रगट राज दरबार ॥४८२॥

भोज्य वस्तु के ज्ञान तें, भूख मिटत नहिं मीत।
राज तुष्टि नहिं होति बिन, किये यथोचित प्रीत ॥४८३॥

यातें जो जन सिद्धि शुभ, चाहत परम पुनीत।
सो केवल हरि भक्ति मैं, पगैं, छोड़ि अनरीत ॥४८४॥

याके साधन विविध विधि, गाये बहु आचार्य।
भव सागर तें तरन मैं, वेई हैं अनिवार्य ॥४८५॥
विषय त्याग सतसंग अरु, भजन निरंतर मीत।
साधन श्रीहरि भक्ति के, जानहुँ परम पुनीत ॥४८६॥

श्री हरि के गुण श्रवण अरु, कीर्तन मैं अनुराग।
साधन साँची भक्ति को, जग जाहिर रस पाग ॥४८७॥

कृपा महत जन की तथा श्रीहरि की जब होय।
तब ऐसो संयोग जग, पावत है नर कोय ॥४८८॥

दुर्लभ है सतसंग जग, वहाँ न पहुँचै कोय।
जो भागनि पहुँचै मनुज, तौ मन चीतो होय ॥४८९॥

पाइ अलभ सतसंग कोउ, खाली फिरत न मीत।
भक्तिरूप वह फल परम, पावत सुजन पुनीत ॥४९०॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साधु संग नहिं मिलत जग, बिन हरि भये दयाल।
जो वह भागनि तें मिलै, तौ नर होत निहाल ॥४६१॥

श्रीहरि अरु हरि भक्त में, भेद भाव जनि जानु।
साधु रूप ते हरि प्रगट, यह मन मैं अनुमानु ॥४६२॥

सतसंगति को खोजिये, भजिये हरि पद कंज।
करिये भक्ति सहेत नित, तरिये भव जल खंज ॥४६३॥

एक भक्ति ही साधिये, सब भाँतिन मन मीत।
श्री हरि में करिये सदा, अचल अनूपम प्रीत ॥४६४॥

सदा कुसंग तजौ भजौ, दुष्ट जनन तें तात।
इनके फंदन मैं परें, भवबंधन नहिं जात ॥४६५॥

दुष्ट संग तें होत हैं, काम क्रोध अरु लोभ।
यही नरक के द्वार हैं, तीन अमोघ असोभ ॥४६६॥

इनतें उपजत मोह पुनि, होत बुद्धि को नाश।
सर्वनाश तब होत है, साँचो सोई प्रकाश ॥४६७॥

बिंदुमात्र हू होत ये, सागर सरिस महान।
इनमें पतित उबारले, केवल श्री भगवान ॥४६८॥

होत रजोगुण ते प्रगट, काम क्रोध रिपु रूप।
इनके वल जोई परै परै सोई भवकूप ॥४६९॥

है भवसागर तरन की, तरी अपूरब भक्ति।
सबै कामना रहित जो, श्रीहरि मैं अनुरक्ति ॥५००॥

उबरत माया तें अहो, कहौ भाग्य भट कौन ?
माया मय संसार मैं, तजत कुसंगति जौन ॥५०१॥

महत जनन के चरण शुभ, सेवत सादर जौन।
माया के मुख लात हनि, उबरत सुकृती तौन ॥५०२॥

माया मय संसार की, ममता त्यागत जौन।
भव बंधन सब जोड़ि कै, तरत सुजन जन तौन ॥५०३॥

सतत रहत एकांत मे, गुण वृत्तिन तजि तात।
लौकिक बंधन तोड़ि सब, सोई तरत दिखात ॥५०४॥

असन बसन चिंता रहित, राग द्वेष तें दूर।
काम क्रोध रिपु हनि तरत, भक्ति विभव भरपूर ॥५०५॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सकल कर्म फल तजत जो, सकल कर्म जो त्याग।
तरत होई निर्द्वंद्व नर, अनिकेतन बड़ भाग ॥५०६॥

सकल वेदहूँ तजि सतत, निरत परम अनुराग।
तरत मनुज तारत जनन, धृत संतोष विराग ॥५०७॥

अहो अनिर्वचनीय है, प्रेम स्वरूप पुनीत।
मूकास्वादनवत कही, जासु कहन की रीत ॥५०८॥

लहि सुपात्र कबहूँ कोऊ, सज्जन करत प्रकाश।
प्रेमरूप अति सूक्ष्म तर, अनुभव सिद्ध विकास ॥५०९॥

त्रिगुण रहित सब कामना, हीन अदीन महान।
बर्द्धमान प्रतिदिन सतत, अविच्छिन्न भगवान ॥५१०॥

जेहि लहि प्रेमी जन सदा, अवलोकत पगि ताहि।
सुनत ताहि चिंतत तेही, मन मन अतिहि सराहि ॥५११॥

गौणी भक्ति बखानिये, तीन भेद करि मीत।
कही सात्विकी राजसी, त्यों तामसी पुनीत ॥५१२॥

जिज्ञासू पुनि आर्त्त त्यों, अर्थार्थी यह तीन।
भजत कामना सहित ये, नित नव भाव नवीन ॥५१३॥

ज्ञानी कर्मी त्यों सतत, भजत विरागी दीन।
ये तीनौंहुँ भक्त नहिं, कबहुँ कहात प्रवीन ॥५१४॥

इनमें श्रेष्ठ वही अहै, जो सात्विक शुभ भाव।
जिज्ञासा अरु ज्ञान को, जहाँ प्रकाश प्रभाव ॥५१५॥

राजस तामस भक्त जब सात्विक होत सुजान।
तबै भक्त की पंक्ति मैं, गिनत ताहि भगवान ॥५१६॥

जे सब साधन मोक्ष के, कहे शास्त्र मैं तात।
उन सबही मैं सुलभ अति, भक्ति मार्ग दिखरात ॥५१७॥

या महँ नाहिं प्रमाण की, नेक अपेक्षा मीत।
आपुहि महाप्रमाण को, रूप अहै यह मीत ॥५१८॥

कारण, यामें शांति अरु, परमानन्द अतीव।
पाइ कृतारथ होत है, सबै भाँति यह जीव ॥५१९॥

सर्व धर्म तजि ईश की, शरण गहो सब भांत।
लोक बिगड़िबे की नहीं, चिंता करिये तात ॥५२०॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रेमी जन को धर्म यह, सुनहु खोलि जुग कान।
सब तजि जो हरिभजत तेहि, अपनावत भगवान ॥५२१॥

आत्म, लोक अरु वेद सब, श्रीहरि पद में तात।
करत समर्पण भक्त जन, यही परम कुशलात ॥५२२॥

सकल समर्पण हरिहिं करि, ह्वै निर्द्वन्द्व सुजान।
भक्त परम पुरुषार्थ लहि, पावत धाम महान ॥५२३॥

याही तें सब तजि हरी, निरत सुभाव अनन्य।
या जग में सब भाँति ब्रज, गोपी कहियत धन्य ॥५२४॥

इनकी रुचिर कथा सरस, सुनि सहृदय सुचिभाव।
निरत होत श्रीहरि चरण, चरचित चित चुभि भाव ॥५२५॥

तौ लौं कबहुँ न छोड़िए, लौकिक वैदिक कर्म।
जौ लौं परम न पाइये, भक्ति विहित स्वधर्म ॥५२६॥

किंतु कामना सहित नहिं, कबहूँ करिये कर्म।
जो कछु करिये, फल रहित, करिये सादर धर्म ॥५२७॥

कर्म करै फल रहित नर, हरिपद रत मतिमान।
तबहीं अपनी देत हैं, रीझि भक्ति भगवान ॥५२८॥

सकल कर्म फल रहित करि, साधै भक्ति सुजान।
यों करि पावत प्रेम पर, महामुदित मतिमान ॥५२९॥

स्त्री धन नास्तिक वैरि शठ, पापी चरित सुनैन।
करै द्वेष नहिं काहु सें, बोलै परुष न बैन ॥५३०॥

अहंकार अभिमान मद, दंभादिक कौ त्यागि।
रहै एक रस मुदित मन, लोभादिक मग भागि ॥५३१॥

अखिल कर्म भगवान के, अर्पण करि सब भाँति।
छूटि अखिल भव बंध तें, लहै भक्त जन पाँति ॥५३२॥

काम क्रोध अभिमान हठ, करै हरिहिं में मीत।
गोपीजन सों प्रेम लहि, जग महँ होय अभीत ॥५३३॥

प्रेम, तथा प्रेमी अरु, प्रेम पात्र यह तीन।
भेद भूलि सब भाँति हरि, भक्त होय तल्लीन ॥५३४॥

सखा दास वनिता सरिस, करै प्रेम अनिवार।
तबै गोप गोपो सदृश, भक्त होय भवपार ॥५३५॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एकांती है मुख्य जग, भक्त कही मुनिराज।
गौण भक्त बहु भाँति के, जोरे फिरत समाज ॥५३६॥

अव्यभिचारी भक्त हों, मुख्य कहावत तात।
व्यभिचारी बहु जन्म मैं, पावत हरिहिं दिखात ॥५३७॥

करत परस्पर प्रेम की, बात भक्त जन मीत।
निज कुल सह संसार कों, अतिशय करत पुनीत ॥५३८॥

लक्षण उनके देखिये, प्रेम मगन वे भक्त।
कंठ रोध रोमांच अरु, अश्रुकला कुल रक्त ॥५३९॥

करत तीर्थ को तीर्थ वे, सहज कर्म को कर्म।
शास्त्र शास्त्र कों रीति कों, रीति धर्म को धर्म ॥५४०॥

कारण, उनको जानिये, श्रीहरि रूप सुजान।
इनके ही वश होत हैं, करुणाकर भगवान ॥५४१॥

वे तन्मय हरि भक्त जन, जीवन मुक्त कहात।
उनकी सतसंगति किये, यह भवबंधन जात ॥५४२॥

ऐसे हरिजन के सकल, पितर मगन ह्वै जात।
नचत देवगन भगवती, धरणी पुलकित गात ॥५४३॥

कुल धन विद्या रूप गुण, क्रिया जाति को भेद।
भक्तन मैं नहिं होत है, जातें उपजत खेद ॥५४४॥

हैं तदीय हरिभक्त जन, लगैं परस्पर तात।
वयसादिक को भेदहूँ, इनमैं नाहिं लगात ॥५४५॥

सदा भक्ति रस पगि सुजन, तजिये वाद विषाद।
मधुर वस्तु मैं लवण तें, उपजत अति कुस्वाद ॥५४६॥

सार नहीं कछु वाद में, राजस तामस होय।
सात्विक धर्म नसात निज, सहज सरस रस खोय ॥५४७॥

भक्ति शास्त्र को मनन करि, करै सदा हरिकर्म।
और विडंबन है सकल, यही सनातन धर्म ॥५४८॥

वही कर्म नित कीजिये, जातें उपजै भक्ति।
प्रेम माधुरी पीजिये, करि हरिपद अनुरक्ति ॥५४९॥

सुख दुख इच्छा लाभ यश, आदि बिसारि सहेत।
क्षणहु व्यर्थ न खोइये, भजिये रमानिकेत ॥५५०॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जौ लौं श्री हरि ढरत नहिं, तौ लौं चित हित धारि।
भजन बिना नहिं खोइये, एकहु छन अनमारि ॥५५१॥

सत्य अहिंसा शौच शुभ, करुणा दया उदार।
आस्तिकता नहिं छोड़िये, ये गुण भव भय तार ॥५५२॥

अति उत्तम आचर तें, रीझत बेगि दयाल।
चरण शरण तल राखिके, निजजन करत निहाल ॥५५३॥

सर्व भाव तें सर्वदा, निश्चित चित हित धार।
भजन करहु भगवान को, होन चहहु जो पार ॥५५४॥

भजन करत हित सहित नित, जो हरि भक्त उदार।
तिनके हिय जिय नैन में, प्रगटत फल दातार ॥५५५॥

हिय में वा प्रत्यक्ष है, प्रगट तुरत भगवान।
निज भक्तन को देत हैं, परमानंद महान ॥५५६॥

अनुभव प्रेमानंद को, करि हरि लहि तव जीव।
मनुज जन्म साफल्य को, सुकृती लहत अतीव ॥५५७॥

कहत कछुक ह्याँ भक्ति के, गुप्त भेद रसखान।
जिनके साधन करत ही, वश्य होत भगवान ॥५५८॥

श्रीहरि गुण माहात्म्य में, जो आसक्ति अनूप।
एक भक्ति तेहि जानिये, अमल धवल नवरूप ॥५५९॥

दूजी रूपासक्ति है, भक्ति अलौकिक तात।
जो यामें रमि जात तेहि, कछु नहिं और सुहात ॥५६०॥

पूजासक्ति बखानिये, तीजो भक्ति सुजान।
यामें जो जन लगि रह्यो, मिलत ताहि भगवान ॥५६१॥

स्मरणासक्ति बखानिये, चौथी भक्ति सहेत।
जो हरि सुमिरत तेहि मिलत, तुरतहि रमानिकेत ॥५६२॥

भक्ति पाँचवीं जानिये, दासासक्ति अनूप।
निज सेवक कों ना तजत, कबहूँ अग जग भूप ॥५६३॥

सख्यासक्ति बखानिये, छठीं भक्ति कमनीय।
या भावनि में जो रम्यो, सो जन अति रमनीय ॥५६४॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भक्ति सातईं जानिये, वात्सल्यहि आसक्ति।
कहो कौन कवि कहि सके, या रस की आरक्ति ॥५६५॥

कांतासक्ति बखानिये, भक्ति आठईं मीत।
या रस में जो रमि रह्यो सो कन परम पुनीत ॥५६६॥

आत्मनिवेदन की कही, जो आसक्ति अनन्य।
नवीं भक्ति यहि जानिये, या रसधारो धन्य ॥५६७॥

है तन्मय आसक्ति यह, दसवीं भक्ति सुजान।
ऐसें भक्तहिं जानिये, मूर्तिमान भगवान ॥५६८॥

परम विरह आसक्ति है, एकादसवीं भक्ति।
उदाहरण ह्यौं जानिये, गोपिन की अनुरक्ति ॥५६९॥

अहै परम संयोग की, द्वादशवीं आसक्ति।
महाभाग पावत कोऊ, या रस की भुवि भक्ति ॥५७०॥

याही भाँति अनंत है, भक्ति भेद सुनु मीत।
काहू विधि कौ कीजिये, हरि में प्रेम पुनीत ॥५७१॥

करि त्रिसत्य भाखत रसिक, सुनहु सकल दै कान।
परे भक्ति के नाहिं कछु, यही कही भगवान ॥५७२॥

है गरीयसी भक्ति ही, या जग में सुनु तात।
यातें परे हमैं नहीं, कोऊ कर्म दिखात ॥५७३॥

जाने सिरजो ताहि के, पावन की यह रीति।
छोड़ि सबै जंजाल कौ, तासों करिये प्रीति ॥५७४॥

वाही तें सब भाँति को, करिये साँचो हेत।
वही मूल संसार को, वही मुक्ति शुभ देत ॥५७५॥

निर्भय ह्वै जन जल्पतें, सदा एक मत रीत।
कह्यौ भक्ति सर्वस्व को, परम रहस्य पुनीत ॥५७६॥

शिव सनकादिक चार त्यों, व्यास गर्ग शुक विष्णु।
आरुणि त्यों शांडिल्य मुनि, बलि हनुमत भ्राजिष्णु ॥५७७॥

उद्धव शेष वशिष्ठ त्यों, राम विदेह महीश।
भरत विभीषण गरुड़ अरु, कौंडिन्यादि ऋषीश ॥५७८॥

भक्तिमाल मणि के भये, नारद परम सुमेरु।
शिव शासन तें विश्व में, दियो भक्ति रस गेरु ॥५७९॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करिहैं यामें जो मनुज, अचल अमल विश्वास।
तिनको सहजहिं होइहै भवतें तुरत निकास ॥५८०॥

यामें करिहैं जो सुजन, श्रद्धा अटल सदैव।
तिनको कबहुँ सताइहैं, नाहिं नेकु दुर्दैव ॥५८१॥

यातें तुरतहिं होइकै, भक्तिमान नर धन्य।
दास पंक्ति में पाइहै, ठाम अनूप अनन्य ॥५८२॥

परम श्रेष्ठ भगवान को वह लहिहै छिनमाहिं।
यातें परमानंद है, परे जगत में नाहिं ॥५८३॥

भजौ सदा सब भावतें, हरिहि हमारे मीत।
यही सनातन धर्म है, जग में परम पुनीत ॥५८४॥

यातें परे न अन्य है, मारग कोऊ महान।
भक्ति भावतेंई सदा, रीझत हैं भगवान ॥५८५॥

सब तजि जो हरि भजत जन, साँचे मन नित मीत।
तिनके सब सत्कर्म हरि, पूरन करत पुनीत ॥५८६॥

भक्तन के निज कर्म को, आपु करत भगवान।
यातें ह्वै निश्चिंत मन, भजत हरिहिं मतिमान ॥५८७॥

प्रभुवर सब समर्थ हैं, यातें चिंता त्यागि।
सब तजि भजिये हरिहिं नित, प्रेम रंग अनुरागि ॥५८८॥

जो हरि हित सब धर्म को, तजत भक्त मतिमान।
ताके त्यागे कर्म सब, पूर्ण करत भगवान ॥५८९॥

जा हरि हित हम सब, तज्यो, सो नहिं तजिहै मोहि।
तजै हमारे कर्म सब, आपुहि करिहै वोहि ॥५९०॥

धर्‍यो हिये यदि हरिहिं धरि, सब भाँतिन मम तात।
तब तातें का अधिक है, लौकिक वैदिक बात ॥५९१॥
लौकिक वैदिक कर्म सब, बिना भक्ति के व्यर्थ।
भक्ति भये पैं कर्म ये, होत आप असमर्थ ॥५९२॥

उभय भाँति तें कर्म ये, व्यर्थ लखात सुजान।
सो नर सब कछु करि चुको, जो धार्‍यो भगवान ॥५९३॥

हरि विमुखन के हेत हैं, लौकिक वैदिक कर्म।
हरिहि लखावन रीति यह, विहित सनातन धर्म ॥५९४॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धर्म कर्म तें होत जब, निर्मल मति अति पीन।
तब श्रीहरि पद जुगल नर, लेत सहज ही चीन्ह ॥५९५॥

श्रीहरि शरणागत भये, लौकिक वैदिक व्यर्थ।
सकल दुरित निज भक्त के, मेटत आप समर्थ ॥५९६॥

यातें सब विधि नित्य ही, श्रीहरि पद जलजात।
स्मरण कीरतन प्रेम तें, कबहुँ न तजिये तात ॥५९७॥

यातें परे दिखात नहिं, अपर लाभ कोउ मीत।
भक्ति भाव तें अधिक को; धर्म कहात पुनीत ॥५९८॥

सब योगिन में श्रेष्ठ वह, जो मन भरि सब भाँति।
श्रद्धा सहित भजे हरिहिं, लहत भक्त जन पाँति ॥५९९॥

दैवी माया गुणमयी, यह सहजहिं नहिं छूट।
जो हरि चरनन गहि रह्यो, तेहि माया नहि लूट ॥६००॥

एक चित्त ह्वै सतत जो, भजत हरिहिं मतिमान।
तिन योगिन कों जानिये, परम सुलभ भगवान ॥६०१॥

जामें सब कछु, सबन मैं, जो व्याप्यो अज मीत।
एक भक्ति ही ते मिलत, सो हरि परम पुनीत ॥६०२॥

वेद यज्ञ तप दान व्रत, माहिं पुण्य जो आहिं।
तिन सबहीं को जीति हरि भक्त परम पद पाहिं ॥६०३॥

राजस तामस प्रकृति के राक्षस असुर अपूत।
बार बार भवसिंधु में परत कुचाल कपूत ॥६०४॥

दैवी प्रकृति पुनीत जो, सात्विक जन जग माहिं।
भजि अनन्य मन हरिहिं ते सुखद परम पद जाहिं ॥६०५॥

यत्नवान कीर्तन निरत, परम दृढ़व्रत धन्य।
नित्य युक्त वंदत चरण, भक्त कहात अनन्य ॥६०६॥

जो अनन्य चित हरिहिं नित भजत रहत मतिमान्।
रक्षत तिनके योग कों आप सदा भगवान् ॥६०७॥

पत्र पुष्प फल तोय जो, हरिहिं भक्तिसह देत।
तिनहिं परम संतोष तें सादर प्रभुवर लेत ॥६०८॥

जो कछु करहु जहान मैं, जो खावहु जो देहु।
जो होमहु सो सब हरिहिं, करहु समर्पण एहु ॥६०९॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तबै शुभाशुभ कर्मकृत बंधन तें छुटि जीव।
हरिप्रसाद लहि मुक्त ह्वै, आनंद लहत असींव ॥६१०॥

यदपि दुराचारी मनुज दृढ़ अनन्य मति होइ।
भजत हरिहिं, तेहि जानिये परम साधु सब कोइ ॥६११॥

श्री हरि शरणागत भये, वेगिहिं होइ पुनीत।
दुराचार जन होत हैं परम धर्म कृत प्रीत ॥६१२॥

दुराचार तजि, होइ के धर्मात्मा जग जीव।
परम शांति सुख पाइकै हर्षित होइ अतीव ॥६१३॥

करी प्रतिज्ञा निज मुखहिं गीता में भगवान।
नाश होत नहिं भक्त को जानहु चतुर सुजान ॥६१४॥

श्री हरि पग गहि तरत जग पाप योनिहू जीव।
स्त्री विश शूद्र प्रधान गति गाहत मुदित अतीव ॥६१५॥

पुनि ब्राह्मण क्षत्रिय महा पुण्य भक्त सिरताज।
हरि शरणागति पाइकै तरत न करत अकाज ॥६१६॥

बिना भये अनुकूल हरि भव बंधन नहिं जाय।
यातें चाहौ मुक्ति तौ भक्ति करहु मन लाय ॥६१७॥
बिना भक्ति सब व्यर्थ हैं जप तप व्रत मख दान।
धर्म कर्म सब धूर हैं, जो न मिलें भगवान ॥६१८॥

शुद्ध भाव तें होत बश वंशीधर गोपाल।
निज जन हेरत ही करत सब विधि तुरत निहाल ॥६१९॥

यातें जो चाहो सुगति भक्ति करहु चित चाहि।
हरि शरणागति होइ कै पुलकि कहहु 'प्रभु त्राहि' ॥६२०॥

श्री हरि में मन लाइ दृढ़ होइ भक्त अनुरक्त।
नमन करत तरि जात नर माया बंधन त्यक्त ॥६२१॥

तरत सोई संसार तें सरल चित्त धीमान्।
जो सब भाँतिन ते सुहृद, जान्यो श्री भगवान् ॥६२२॥

सब हरि तेई जानिये अग जग संसृति मीत।
यह जो जानत विमल मति भजत सोई गत भीत ॥६२३॥

सतत रहत रत हरिहि मैं जो जन चित हितलाइ।
ताके कल्मष धोइ हरि, निर्मल बुद्धि बनाइ ॥६२४॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पाइ सुनिर्मल मतिहिं नर, भजन करत सब भाँति।
तुरत तरत भवसिंधु तें पावत हरिजन पाँति ६२५॥

जप तप मख व्रत दान तें वेदहुँ ते नहिं ईश।
कबहुँ होत वश नहि कह्यौ, आपुहि श्री जगदीश॥६२६॥

होइ जबै सब भाँति दृढ़ भक्ति अनन्य अखंड।
तबै दूर यह होत है, माया विभव प्रचंड॥६२७॥

करहुँ कर्म भगवानहित परम भक्त सब काल।
संगरहित निर्वैर दृढ़ होगे तबै निहाल॥६२८॥

क्यों चौरासी भ्रमत मन माया में लपटाइ।
भव सागर के पार अब, चलहु ईश गुन गाइ॥६२९॥

ऐसो स्वामी पाइ कै, क्यों भव भ्रमत अबोध।
माया विभव विलास तजि करु उबरन की सोध॥६३०॥

भजत भक्त जे सगुण अरु निर्गुण ब्रह्म सुजान।
तिन दोउन में कौन हैं, श्रीहरि भक्त महान॥६३१॥

श्री हरि चरनन लाइ चित भजन करत जे मीत।
श्रद्धा सहित उदार मन ते हरि भक्त पुनीत॥६३२॥

अरु जे हठ करि भजत हैं निर्गुण ब्रह्म उदार।
ते बहु जन्मावधि सहत क्लेश अनेक अपार॥६३३॥

यह कैसो है क्लेश, तुम, याकौं सुनहु बखान।
अनिर्देश्य निर्गुण परक, होत कबहु थिर ध्यान॥६३४॥

बिना रूप के ध्यान नहिं, होत सुनहुँ मन लाइ।
यामैं निर्गुण ज्ञान पर क्लेशहिं परत दिखाइ॥६३५॥

यातें रुचि अनुसार गढ़ि, सगुन रूप करि ध्यान।
जे ध्यावत ते पावहीं, अविलंबहिं भगवान॥६३६॥

श्रीहरि मैं मन बुद्धि अरु चित्त लगाइ सुजान।
भजै प्रेमतें जो मनुज, ताहि भजत भगवान॥६३७॥

यदि हरि मैं स्थिर चित्त नहिं, होइ सके सुनु तात।
तौ अभ्यास करौ सदा, पावन हित कुशलात॥६३८॥

यदि अभ्यास समर्थ नहिं, तो हरि हित शुभ कर्म।
सदा करौ सब भाँति यह सुखद सनातन धर्म॥६३९॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हरि कर्महुँ मैं नहीं, लगै चित्त जो मीत।
तौ सब कर्मन के सदा, फल त्यागो करि प्रीत ॥६४०॥

श्रेष्ठ ज्ञान अभ्यास तें ध्यान ज्ञान तें जान।
ध्यानहुँ ते सब कर्म फल, त्याग महान बखान ॥६४१॥

त्यागहि है जग मैं परम, मूल शांति को मीत।
याही तें जानी परै, प्रभु मैं परम प्रतीत ॥६४२॥

करै काहु तें बैर नहिं, मित्र रहै निरद्वंद।
राखै करुणा दीन पैं, तौ काटे भव फंद ॥६४३॥

जग तें ममता रहित ह्वै, अहंकार तजि जीव।
श्रीहरि शरणागत भये, पावत शांति अतीव ॥६४४॥

सुख दुःख सम करि मानिये, क्षमा धारिये मीत।
याही तें छुट होइगो, भव बंधन अपनीत ॥६४५॥

निर्मम निरहंकार नित, योगी नित संतुष्ट।
यत्नशील निश्चय सुदृढ़, भक्त प्रेम रस पुष्ट ॥६४६॥

श्रीहरि मैं मन बुद्धि अरु, कर्म समर्पित नित्य।
भक्त सहज ही दूर कर, यह भव बंध अनित्य ॥६४७॥

जातें कोउ अकुलात नहिं, जो काहू तें मित्र।
सो नर जीवन मुक्त है, निर्मल चारु चरित्र ॥६४८॥

हर्ष अमर्ष विहीन भय, रहित विगत संदेह।
सदा शून्य उद्वेग तें मानव मुक्त सदेह ॥६४९॥

भक्त होत अनपेक्ष जग, उदासीन शुचि दक्ष।
सदा गतव्यथ प्रेममय, श्रीहरि पद कृत लक्ष ॥६५०॥

सर्वारंभहि त्यागि कै, हर्ष द्वेष ते दूर।
नहिं कांक्षा नहिं शोच कछु, प्रेम माधुरी चूर ॥६५१॥
सदा शुभाशुभ कर्म को, परित्याग जहँ होइ।
भक्ति भावना भरित जग, भक्त कहावत सोइ ॥६५२॥

शत्रु मित्र मैं सम सदा, शीत उष्ण मैं एक।
तुल्य मान अपमान मैं, सम सुख दुःख विवेक ॥६५३॥

संग रहित निंदास्तुती, हीन मौन व्रत लीन।
सदातुष्ट सम भाव मैं, हरि पद निरत अदीन ॥६५४॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनिकेतन स्थिरमति सुधी, भक्ति भाव गंभीर।
तत्वज्ञान प्रसन्न चित, भक्त कहावत धीर ॥६५५॥

यह धर्म्यामृत सहित हित भक्ति शास्त्र को जोय।
पियत प्रेम तें, सो मनुज, निश्चय निज जन होय ॥६५६॥

ब्रह्म भूत नर भाग्य तें ह्वै प्रसन्न मन मीत।
आकांक्षा अरु शौच तें रहित सदैव पुनीत ॥६५७॥

सब प्राणिन मैं सम सुमति श्रीहरि की विख्यात।
परा भक्ति पावत सुभट, बुद्धि विभव, नर तात ॥६५८॥

जाने जात अचिंत्य अज भक्तिहि तैं भगवान।
यहाँ न ज्ञान न कर्म को बल बूझहु मतिमान ॥६५९॥

जानि तत्त्व करि हरिहि नर, पहुँचत जिनके पास।
वहो सगुण निर्गुण प्रभू अखिल गुणन की रास ॥६६०॥

अज अशेष कल्याण गुण राशि अनिर्वचनीय।
अखिल चराचर भजत जेहि माया गुण अपनीय ॥६६१॥

करै कर्म सब फल तजै हरि चरनन आधीन।
भाव भक्ति मैं पगि करै भव बंधन सब छीन ॥६६२॥

श्री हरि के आधीन ह्वै लहै मुक्ति तत्काल।
करै कृपा जब वह तबै, मानव होय निहाल ॥६६३॥

बिना दया हरि की भये लहै परम पद कौन।
बिना प्रयास मिलै मुकति रीझे करुणा भौन ॥६६४॥

चित हित करि सब कर्म नर हरिहिं समर्पै तात।
माया तें तबहीं छुटै लहै परम कुशलात ॥६६५॥

जो चाहौ भवबंध ते छूटन सहजहिं मीत।
तौ सब तजि हरि चरन जुग भजहु सहेत पुनीत ॥६६६॥

जाको चित हरि तें रम्यौ सो हरि रूप कहाय।
कीट एक पर ध्यान तें ताकौ रूप धराय ॥६६७॥

श्री हरि मैं मन बुद्धि करि संतत करै प्रणाम।
छूटि भक्त भव सिंधु ते गति गाहत अभिराम ॥६६८॥

सबै धर्म हैं एक दिसि भक्ति एक दिसि मीत।
जो तुम समझौ सो करो कर्म सुजान पुनीत ॥६६९॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जो चाहौ उबरन करो श्री हरि भक्ति विलास।
सब संशय तजि सहित हित धारहु हिय विश्वास ।।६७०।।

अहै अकथ हरि भक्ति रस पीयत रसिक अनूप।
निर्भय ह्वै विचरत रहैं अखिल चराचर भूप ।।६७१।।

चाखि सरस हरिभक्ति रस रसिक न रस चह अन्य।
पै कोऊ बिरलौ मनुज यह सुख लहत अनन्य ।।६७२।।

श्री हरि सुमिरत सकल भव भय भागत भय भान।
निज जन कौं निज चरण में राखत श्री भगवान ।।६७३।।

भक्ति दीप मानस अजिर हरत सकल तम मीत।
जाके परम प्रकाश मैं चमकत बुद्धि पुनीत ।।६७४।।

होय बुद्धि निर्मल जबै तबै सकल भ्रम खोय।
मानस होय प्रसन्न अति भक्ति बीज चित बोय ।।६७५।।

भक्ति भाव रवि उर अजिर उदय होत जब मीत।
तब माया कृत तम सकल छिन्न होत अपनीत ।।६७६।।

जानै धारी सहित हित भक्ति सुमन की माल।
सो नर जीवन मुक्त ह्वै तुरतहिं होत निहाल ।।६७७।।

भक्ति सदन सुख जो चहै लहै सरन सो जाय।
श्री हरि बिनु नहिं मुक्ति को दूजो तात उपाय ।।६७८।।

भक्ति सुधा चखि होत जो अमर कर्म फल धोय।
व्यथा प्रलय की सर्ग को जन्म न पावत सोय ।।६७९।।

भक्ति रूप आदर्श मैं दीख परै निज रूप।
मिटै सकल दुःख द्वंद्व अरु भेंटे श्री व्रजभूप ।।६८०।।

भक्ति कुसुम उद्यान मैं विचरत जो स्वच्छंद।
सो पावत श्री हरि चरण कमल मधुर मकरंद ।।६८१।।

भक्ति सरोज समूह मधु मत्त भृंग मन मीत।
श्री हरि कमलाकर निकर निकट बसत जगजीत ।।६८२।।

सुखद भक्ति आराम मधि प्रेमानिल मन खेद।
मेटत, भेंटत सुख सकल परि हरि माया भेद ।।६८३।।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भागनि तें जो जन लहै भक्ति बसंत बहार।
ताको माया पाश तें तुरत होय उद्धार ॥६८४॥

अहो सुधाहू तें मधुर रसमय भक्ति रसाल।
जो याकों चाखे, लहै श्री हरि धाम विसाल ॥६८५॥

श्री हरि पद जल जात मधु मन मधु कर चख मीत।
यातें भव बाधा कटै हटै सकल भव भीत ॥६८६॥

श्री हरि भक्ति रसाल रस चख मन शुक भरपूर।
मिलै अचल पद परम करि भव बंधन सब दूर ॥६८७॥

मानस सर तजि हंस तुम चलो छीर निधि तीर।
भक्ति भाव मोती चुगो पय पीवो मतिधीर ॥६८८॥

हृदय गगन पूरन उदित भक्ति चंद्र अकलंक।
मेटि मूढ़ता तम सुकृत सुधा देत निश्शंक ॥६८९॥

खिलै सुरभि मय मन सुमन भक्ति बसंत बयार।
लहि बितरै आमोद शुभ मुक्ति रूप मधुसार ॥६९०॥

भक्ति सुधा सागर सरस अवगाहहु मतिमान।
करुणासागर देहिंगे चरण सरण भगवान ॥६९१॥

भक्ति भावना जासु हिय भई भाग्यवश मीत।
तरत बेगि भव सिंधु सों करि निज कुलहिं पुनीत ॥६९२॥

हृदय गगन मैं भक्ति रवि उदय होत जेहि काल।
नसत सकल तम तुरत ही होत प्रकाश विशाल ॥६९३॥

मानस अंबर मैं जबै उदय भक्ति शशि होत।
तम परिहरि मति कुमुद पै स्रवत सुधा को स्रोत ॥६९४॥

लखौ भक्ति आदर्श मैं आतम रूप मतिमान।
तबै जानि परिहै तुम्हैं तुमको अरु भगवान ॥६९५॥

भक्ति भाव को सुरभिमय शीतल मंद समीर।
पाइ होत अतिशय मगन मति कोकिल चित कीर ॥६९६॥

भक्ति नीर घनश्याम मति बरसत जब करि छोह।
हरी भरी ह्वै जात तब मन बसुधा तजि मोह ॥६९७॥

श्री घनश्याम सनेह उर, भक्ति दामिनी चारु।
चमकत जबै तबै करै, तमहरि जगत उवारु ॥६९८॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भक्ति कुसुम मधु चाखि चित, मधुकर परम उदार।
गुंजत विचरत मत्त ह्वै, श्रीमाधव आगार॥६९९॥

भक्ति मंजु मंदाकिनी, यम अनीकिनी मारि।
मुक्ति मुक्त की माल उर, पहिरावति हिय हारि॥७००॥

भक्ति गंग की जब हिये, झलकति तुमुल तरंग।
तब लहि परमानंद जन, विजय करत भव जंग॥७०१॥

भक्ति कुसुम आराम मैं, विचरहु रसिक सहेत।
याही मैं तुम कहँ कबौं, मिलिहैं रमानिकेत॥७०२॥

भक्ति गेह मैं जो रहत, कहत ताहि सब धन्य।
वही जु जीवनमुक्त है, वही जु भक्त अनन्य॥७०३॥

भक्ति भाल मैं लिखि रही, मुक्ति विधायक रेखु।
जौ तू चाहै तरन तौ, या दिसि हित करि देखु॥७०४॥

भक्ति भुवन महँ भाग्य भट, जो विचरत हितमान।
ताकों सुलभ बखानिये, रमारमन भगवान॥७०५॥

भक्ति भावना मैं पगो, रहत जासु मन मीत।
ताको करुणाकर तुरत, अपनावत करि प्रीत॥७०६॥

भक्ति सिता को स्वाद वह, जानत रसना पूर।
जो हरि नामामृत निरत, रहत प्रेम मैं चूर॥७०७॥

मन कोकिल जानत सुभग, भक्ति वसंत बहार।
हरि नामावलि कूक को, प्रतिछिन करत उचार॥७०८॥

भक्ति भाव भावित हृदय, गत श्री चरण ललाम।
सबै काम पूरन करत, वितरत अविचल धाम॥७०९॥

भक्ति सतसई कुसुम कृत, सुरभि भरित नवमाल।
अरपी श्री हरि चरण मैं, सुकवि किशोरीलाल॥

इति श्री तदीय जन दासानुदास सुकवि किशोरी लाल गोस्वामी कृत
भक्ति सतसई समाप्ता॥

हरिः ॐ तत्सत्॥

॥ ॐ श्री कृष्णार्पणमस्तु।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विमर्श

'ढोलामारू रा दूहा'[1] के कतिपय संदेहास्पद प्रसंग : पुनर्विचार

महावीरप्रसाद शर्मा

राजस्थानी लोक साहित्य की अमूल्य निधि 'ढोलामारू रा दूहा' के कतिपय संदेहास्पद स्थलों को लेकर विद्वानों में काफी विचारविमर्श होता रहा है। इधर पठन पाठन करते समय मुझे अभी तक कुछ संदर्भ अस्पष्ट से जान पड़े हैं।

१— **सारीखी जोड़ी जुड़ी, आ नारी अउ नाह।**
राणी राजा सूं कहइ, कीजइ अउ वीमांह ॥ ६ ॥

अर्थ—रानी ने राजा से कहा कि यह बड़ी अनुरूप जोड़ी बनी है (अर्थात् वय, रूप, गुणादि की दृष्टि से दोनों समान हैं)। यह (मारवणी) पत्नी और वह (ढोला) पति। अतः आप उसका विवाह कर दीजिए।

ऊपर लिखे दोहे के अर्थ में विद्वान् एक मत नहीं है।

संपादकत्रय—'रानी राजा से कहती है—यह अनुरूप जोड़ी बनी है—यह वधू और वह वर। यह विवाह कीजिए।'[2]

प्रो० शंभूसिंह मनोहर[3]—'रानी राजा से कहती है—यह बड़ी अनुरूप (वय, रूप, गुण आदि की दृष्टि से सर्वथा उपयुक्त) जोड़ी जुड़ी है; यह (मारवणी) वधू और यह (ढोला) वर। अतः आप यह विवाह (संबंध) कर दीजिए।'

प्रस्तुत मत—'अउ' शब्द का अर्थ संपादक त्रय ने 'वह' दिया है (अउ नाह) जब कि प्रो० मनोहर ने 'यह' अर्थ दिया है। हमारे विचार से 'वह' अर्थ ही अधिक उपयुक्त है, क्योंकि पूगल नरेश एवं उनकी पत्नी ही विचारविमर्श कर रहे हैं।

१. ढोला मारू रा दूहा : संपादकत्रय, प्रकाशक, हिं० सा० स०, प्रयाग।
२. वही, पृ० २।
३. ढोलामारू रा दूहा : शंभुसिंह मनोहर, प्रकाशक दी स्टूडेंट्स बुक कंपनी, चौड़ा रास्ता जयपुर, प्रथम संस्करण, पृ० १४७।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मारवणी और ढोला कुछ दूरी पर हैं, वहीं नहीं। अतः वार्तालाप के मध्य वे एक प्रकार से दूरवर्ती अन्य पुरुष हो हैं। 'यह' समीपवर्ती सर्वनाम है, जब कि 'वह' दूरवर्ती। ढोला संभवतः कुछ दूर तो था ही। शायद प्रो० मनोहर ने संपादकत्रय के शब्दकोश से 'अउ' का अर्थ 'यह' लिखा हो, लेकिन प्रयोग की दृष्टि से इस दोहे में 'वह' अधिक समीचीन जान पड़ता है।

२— ढोलउ मारू, परणिया वरदल हुवइ उछाह।
आ पूगलची पदमिणी, अउ नरवर चइ नाह ॥१०॥

संपादकत्रय[4]—संपादकत्रय ने 'वरदल' शब्द के दो अर्थ दिए हैं, १—धूमधाम से हुआ, २—दो श्रेष्ठ कुलों में संबंध हुआ। इनमें से प्रथम अर्थ तो केवल अर्थ के लिये ही है। दूसरे अर्थ में 'दो' की संख्या का 'वरदल' शब्द में कहीं बोध नहीं होता। वैसे संपादकत्रय ने स्वयं भी अर्थ की अस्पष्टता को स्वीकार किया है।

डा० माताप्रसाद गुप्त—डा० गुप्त ने अपने एक लेख में[5] 'वरदल' का अर्थ 'वरपक्ष' के अर्थात् बारात (वर + दल) लिया है। डा० गुप्त के इस शब्दार्थ पर श्री मूलचंद 'प्राणेश' ने आपत्ति की है। 'प्राणेश'[6] जी, 'वरदल' का अर्थ 'उपयुक्त' लेते हैं। श्री मनोहर जी भी डा० गुप्त के मत से सहमत नहीं हैं। उनका कहना है कि 'शाब्दिक दृष्टि से यह अर्थ अधिक संगत है, किंतु यहाँ 'वरदल' शब्द कदाचित् इस अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ है। कारण, इस दृष्टि की दूसरी ही पंक्ति में कवि कहता है कि 'यह पूगल की पद्मिनी है और यह नरवर का अधिपति'। विवाह हो चुकने के बाद यह परिचय कैसा? बारात के उत्सव के साथ इस पंक्ति की क्या संगति है? स्पष्ट है कि कवि का उद्देश्य यहाँ केवल तथ्यकथन करना नहीं है अपितु इस कथन से यह ध्वनि निकलती है कि कवि वरवधू की उपयुक्तता, उनकी जोड़ी की अनुरूपता या सादृश्य की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करना चाहता है। अतः उसी संदर्भ में वरदल शब्द की अर्थसंगति बैठनी चाहिए, जो डा० माताप्रसाद गुप्त द्वारा किए गए अर्थ से नहीं बैठती।[7] इससे स्पष्ट है कि प्रो० मनोहर 'प्राणेश' जी के 'उपयुक्त' अर्थ से सहमत हैं। साथ ही उनके 'उछाह' (उत्सव) शब्द पर आपत्ति

४. ढोलामारू रा दूहा : संपादक त्रय, पृ० ३।
५. ढोलामारू रा दूहा में अर्थसंशोधन विषयक कुछ सुझाव (लेख), ना० प्र० प०, सं० २०१७, वर्ष ६५, अंक १।
६. 'ढोलामारू' के कतिपय संदेहास्पद स्थल : पुनर्विचार (लेख), ना० प्र० प०, सं० २०१ वर्ष ६७, अंक १।
७. ढोलामारू रा दूहा : शंभुसिंह मनोहर, पृ० १४६—५०।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी की है। आपने 'उछाह' शब्द का अर्थ विवाह संबंध लिया है। अपने मत-समर्थन में वे कहते हैं 'उत्सव' शब्द यहाँ 'समारोह' का पर्याय न होकर अपने विशिष्टार्थ में 'विवाह' का वाचक है।[८]

प्रस्तुत मत—हमारे मत में 'प्राणेश' जी के दोनों ही अर्थ उचित जान पड़ते हैं। प्रो० मनोहर के 'उछाह' शब्दार्थ से हमारा मतवैभिन्य है। विवाह हुआ है तभी तो 'उपयुक्त' (तदनुरूप) उत्सव भी हुआ है, अन्यथा ऐसा नहीं होता। अतः अलग से 'उछाह' का अर्थ 'विवाहोत्सव' अथवा 'विवाह संबंध' प्रस्तुत करना पुनरुक्ति सा जान पड़ता है।

अर्थ—'ढोला और मारवणी का विवाह हुआ (इस अवसर पर) तदनुरूप (उपयुक्त) उत्सव हुआ। (क्योंकि) यह पूगल की पद्मिनी है और वह नरवर का स्वामी।'

३- **जिम जिम मन अमलेकिअइ, तार चढंती जाइ।**
तिम तिम मारवणी तणइ, तन तरुणापउ थाइ ॥१२॥

प्रस्तुत दोहे की प्रथम पंक्ति अधिक विवादास्पद नहीं है।

संपादकत्रय--'ज्यों ज्यों मन अधिकार जमाता हुआ ऊँचा चढ़ता जाता है।'

डा० माताप्रसाद गुप्त--'चढंती क्रिया स्त्रीलिंग की है। 'तार चढंती जाइ' का अर्थ कदाचित् होना चाहिए 'तारकमाला चढ़ती जाती थी, अर्थात् उसके नक्षत्र अपने उच्च स्थान पर होते जाते थे।'[९] इस मत की आलोचना श्री **भँवरलाल नाहटा** ने की है। उनके अनुसार इस पंक्ति का अर्थ इस प्रकार होना चाहिए-'अमल का नशा करने पर ज्यों ज्यों मन में तार तरंगें उठती जाती हैं··· ।[१०] डा० माताप्रसाद गुप्त ने इस कथन की प्रत्यालोचना करते हुए कुछ बातें प्रस्तुत कीं जो निम्न प्रकार हैं-

(१) 'नाहटा जी ने 'जिम' और 'तिम' के लगातार दो-दो बार लाए जाने पर ध्यान नहीं दिया है। जिम जिम और तिम तिम भाषा में क्रमवाचक क्रिया विशेषण है, प्रकारवाचक नहीं।

८. वही, पृ० १५१।

९. ढोलामारू रा दूहा में अर्थ संशोधन विषयक कुछ सुझाव (लेख), ना० प्र० प०, सं० २०१७, वर्ष ६५, अंक १।

१०. ना० प्र० पत्रिका, सं० २०१८, वर्ष ६६, अंक १।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(२) 'अमल' अरबी शब्द है, जिसका अर्थ नशा होता है, 'अमल का नशा' अतः संभव नहीं।

(३) 'तार' का नाहटा जी ने जो 'तरंग' अर्थ किया है, वह अनुमान से ही किया है। यह 'तार' फारसी का 'तार' है, जिसका अर्थ होता है, सूत्र, सूत का धागा, या किसी धातु का धागा। यह तार पुंलिंग है, जैसा कि नाहटा जी के द्वारा दिए हुए 'अमल के तार' से भी प्रमाणित है। नाहटा जी इस पर ध्यान न देते हुए उसे स्त्रीलिंग मान लेते हैं और अर्थ तरंग कर लेते हैं।[११]

श्री मूलचंद प्राणेश—'ज्यों ज्यों मन के आधिपत्य से यौवन तरंगें बढ़ती जा रही हैं, त्यों त्यों मारवणी के तन में यौवनावस्था प्रकट हो रही है।[१२]

प्रो० शंभुसिंह मनोहर--'हमारे विचार से यहाँ 'जिम जिम' और 'तिम तिम' क्रमवाचक क्रियाविशेषणों के द्वारा क्रमशः 'वयःप्राप्ति' के साथ 'यौवनागम' का द्योतन करना ही कवि का उद्देश्य है। इस दृष्टि से प्रस्तुत दोहे की अपनी व्याख्या हमें आपेक्षिक दृष्टि से अधिक संगत प्रतीत होती है।'[१३] उनकी व्याख्या इस प्रकार है—'ज्यों ज्यों मन का प्रभुत्व (मन्मथजन्य प्रभाव) प्रकट करती हुई मारवणी (वय के) तारों पर चढ़ती जाती है...'।

प्रस्तुत मत—यदि 'मन अमले किअइ' का अर्थ 'मन की काम भावना' ले लिया जाय तो न तो 'चढंती' क्रिया के स्त्रीलिंग होने की आपत्ति रहेगी और न ही 'अमल का नशा'। इस तरह उपर्युक्त दोहे की व्याख्या इस प्रकार होगी—'ज्यों ज्यों मन की कामभावना प्रकट करती हुई मारवणी वय के तारों पर चढ़ती जाती है (वयःसधि को पार कर यौवन में प्रवेश करती है) त्यों त्यों उसके शरीर में यौवन का ओज प्रकट होता जा रहा है (कामभावना उदय होने लगती है)।'

४— **वाबहिया तर पंखियाँ, तइँ किऊँ दीन्ही लोर।**
मइ जाण्यउ प्रिय आवियउ ससहर चंद चकोर ॥३२॥

प्रस्तुत दोहे की प्रथम पंक्ति का 'तर पंखियाँ' विद्वानों की विवेचना का विषय रहा है।

११. ना० प्र० प०, वर्ष ६६, अंक २-४।
१२. ना० प्र० प०, सं० २०१६, वर्ष ६७, अंक १।
१३. ढोला मारू रा दूहा : शंभुसिंह मनोहर, पृ० १५४।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संपादकत्रय ने 'तर' शब्द का अर्थ 'गहरे रंग का'[१४] तथा 'तर–फारसी = हरा'[१५] दिया है।

डा० माताप्रसाद गुप्त 'तर' शब्द का पाठ शुद्ध न मानकर 'रत'[१६] पाठ मानते हैं, जिसका अर्थ लाल होता है।

श्री भँवरलाल नाहटा 'तर' के 'तरु'[१७] (वृक्ष हरा) पाठांतर की कल्पना करते हैं।

श्री मूलचंद 'प्राणेश' 'तर' का अर्थ 'लाल' मानते हैं[१८]। संपादकत्रय के 'तर' पाठ को भी सही मानते हैं। अपने मत के समर्थन में वे 'वेलि' का निम्नलिखित उदाहरण भी प्रस्तुत करते हैं —

क. कणियर 'तर' करण सेवती कूजा'–वेलि २३७।

ख. कणवीरना फूल राता करण ना फूल धउला···

—वेलि की नारायणवल्ली तथा वनमाली टीका (ह० लि०)

प्रो० मनोहर, प्राणेश जी से बिलकुल असहमत हैं। उनके विचार से डा० माताप्रसाद गुप्त द्वारा सुझाया हुआ 'रत' पाठ ही ठीक है। परिणामस्वरूप उन्होंने अपने संपादित ग्रंथ में 'तर पंखिया' की जगह 'रत पंखिया' (लाल पंखोंवाला) पाठ भी स्वीकार कर लिया है। साथ ही प्राणेश जी के 'तर' (लाल) शब्द पर टिप्पणी करते हुए कहते हैं : 'श्री प्राणेश का यह मत कि राजस्थानी में 'तर' का अर्थ 'लाल' होता है, उपयुक्त नहीं जान पड़ता क्योंकि उनके द्वारा दिए गए उद्धरण में, 'कणिवर तर' के स्थान पर 'कणियर तरु' पाठ है, जिसका अर्थ 'कर्णिकार का वृक्ष' होता है। श्रीयुत रामसिंह द्वारा संपादित 'वेलि' में यही पाठ मानकर टीका में इसका अर्थ 'कर्णिकार के पेड़ में' किया गया है। इसके अतिरिक्त 'वेलि' की संवत् १६७३ में लिखित ढूँढाड़ी टीका में भी इस पंक्ति का अर्थ निम्नोक्त दिया गया है– 'कर्णर वृक्ष करणी सेवंत्री'।

'वेलि' की जिन टीकाओं का उल्लेख श्री प्राणेश ने अपने मत के समर्थन में

१४. ढोला मारू रा दूहा : संपादकत्रय, पृ० ८ (दूहे की व्याख्या में)।
१५. वही, पृ० १६२, (परिशिष्ट)।
१६. ना० प्र० प०, वर्ष ६५, अंक १।
१७. ना० प्र० प०, वर्ष ६६, अंक १।
१८. ना० प्र० प०, सं० २०१६, वर्ष ६७, अंक १।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किया है उनमें 'लाल' वाचक शब्द स्वयं टीकाकारों द्वारा प्रयुक्त 'राता'[19] ही है (कणवीर ना फूल राता), 'तर' नहीं ! 'तर' का अर्थ तो स्पष्ट 'तरु' ही है।

प्रस्तुत लेखक के मत में 'तर' पाठ ही सही है तथा उसका अर्थ लाल नहीं 'हरा' है। मतसमर्थन में निम्नलिखित बातें द्रष्टव्य हैं।

(१) 'तर' शब्द फारसी में विशेषण है। जिसका अर्थ होता है—'आर्द्र, गीला; नवीन, नया; तत्कालीन, ताजा; हाल का, हरा।[20]

(२) जीवविज्ञान की दृष्टि से देखने पर भी यही विदित होता है कि पपीहा (बाबहिया) 'लाल पंख' का नहीं, अपितु 'हरे पंख' का ही होता है। इस संबंध में संपादकत्रय का यह कथन पठनीय है। इसका रंग हरा और काला होता है।[21]

(३) 'तर' का अर्थ तो वास्तव में 'तरु' ही है।[22] 'तरु' का अर्थ 'वृक्ष' होता है। वृक्ष सदा 'हरा' होता है। अतः 'तर पंखिया' का अर्थ भी 'हरी पंखों-वाला' होगा।

(४) 'तर' पाठ को अशुद्ध मानना तो बिलकुल ही गलत है। कारण कि 'तरु' देशी बोली में 'तर' उच्चरित होता है। साथ ही यदि पाठशुद्धि की ही धुन सवार है तो 'तर' का शुद्ध पाठ 'तरु' होना चाहिए। कारण कि प्राकृत भाषाओं में 'उ' का 'अ' होते देखा गया है।[23] यही क्यों, इस संबंध में पुरानी राजस्थानी में भी यही प्रवृत्ति देखने को मिलती है।[24]

(५) श्री शंभुसिंह मनोहर ने अपने संपादित ग्रंथ के दोहा ६१ में 'निल-पंखिया' का अर्थ 'नीले (अर्थात् हरे) पीठ' किया है। हमें मनोहर जी का यह उलट फेर समझ में नहीं आता। एक और आप 'तर पंखिया' का 'रत पंखिया'

१९. ढोलामारू रा दूहा : शंभुसिंह मनोहर, पृ० १६४-१६५।
२०. उर्दू हिंदी शब्दकोश, सं० मु० मुस्तफा खाँ, 'मद्दाह', प्रथम संस्करण, १९५९, पृ० २८०।
२१. ढोलामारू रा दूहा, परिशिष्ट, पृ० १८७।
२२. ढोलामारू रा दूहा : शंभुसिंह मनोहर, पृ० १६४-१६५।
२३. प्राकृत भाषाओं का व्याकरण, रिचर्ड पिशल, अनु० डा० हेमचंद्र जोशी, प्रकाशक, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, पृ० २१५, पैरा १२३।
२४. पुरानी राजस्थानी : तेस्सितोरी, अनु० डा० नामवर सिंह, पृ० २२।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बनाकर 'लाल पंखोंवाला' कहते हैं। दूसरी ओर उसी पपीहे को 'हरे पीठ' वाला कहते हैं। इन दोनों में क्या संगति है? स्पष्टतः 'तर' का अर्थ 'हरा'[२५] ही होता है। उसे 'रत' बनाकर भ्रष्ट नहीं किया जाय तो उचित होगा।

इस प्रकार हमारे विचार में 'तर' का अर्थ 'हरा' ही उपयुक्त है। इस अर्थ को लेने पर प्रस्तुत दोहे का अर्थ होगा—

हे हरी पंखोंवाले पपीहे! तूने क्यों टेर लगाई (पी आव पी आव)। (तुम्हारी टेर सुनकर) मैंने समझा कि चकोरप्रिय शशांकधर चंद्रमा के समान मेरे प्रिय आ गए।

*

२५. ढोलामारू रा दूहा : संपादक त्रय, परिशिष्ट, पृ० १८७।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चयन

पंजाबी की उत्पत्ति : एक विश्लेषण

मूल : प्रेम प्रकाश सिंह

अनुवादः आशानंद वोहरा

पंजाबी एक आधुनिक आर्यभाषा है, इसमें कोई संदेह नहीं, परंतु यह बात अभी तक संदेहास्पद है कि पंजाबी की उत्पत्ति कहाँ से और कैसे हुई। पंजाबी भाषा की उत्पत्ति भाषाविज्ञान के क्षेत्र में एक ऐसी समस्या के रूप में चली आ रही है जिसका समाधान अभी तक नहीं हो सका है। इसके संबंध में विद्वानों ने अनेक विचार प्रस्तुत किए हैं परंतु कोई भी दृढ़ आधार पर आधारित नहीं है, जिसे निर्णय के रूप में स्वीकार किया जा सके। इस विषय में एवं इसके निर्णय में कई विघ्न हैं, कई बाधाएँ हैं जिन के रहते हुए इसकी उत्पत्ति संबंधी समस्या का कोई संतोषजनक समाधान और अंतिम निर्णय नहीं हो सका है।

१. पंजाबी की उत्पत्ति के संबंध में अभी तक किसी प्रकार का भाषा-वैज्ञानिक आधार पर अनुसंधान नहीं हुआ है जहाँ कि बंगाली, मराठी, सिंधी, नैपाली, गुजराती और हिंदी के विषय में पूरी पूरी खोज हो चुकी है।

२. पंजाबी प्रदेश वह स्थान है जहाँ से अभी तक कोई भी प्राचीन शिलालेख प्राप्त नहीं हुआ है जिससे पंजाबी भाषा की प्राचीनता का अनुमान और तुलना की जा सके और न ही प्राचीन नाट्यसाहित्य में इसकी कोई प्रतिनिधि भाषा मानी जाती है।

३. पंजाबीभाषी प्रदेश भारतीय आर्यभाषा क्षेत्र के एक सिरे पर है जहाँ द्राविड़ (ब्रूही, बलोचिस्तान), ईरानी, 'दरदीय' (डर्डिक) और तिब्बत-चीनी (हिमालयाई भाषाएँ) भिन्न रूप की और भिन्न परिवार की भाषाओं का संगम है।

४. इस प्रदेश का राजनैतिक और प्रादेशिक इतिहास बहुत ही अनिश्चित रहा है और यहाँ निरंतर अशांति रही है।

५. यहाँपर शक, हूण, सिथीअन, ग्रीक आदि जातियाँ अपनी निजी विशेष भाषाओं सहित आकर निवास करती रही हैं और परस्पर मिलती जुलती रही हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उक्त समस्त कारण चाहे भारत के अन्य भाषाप्रदेशों में भी प्रभाव डालते रहे हैं परंतु जिस बल और जिस तेजी के साथ इस पंजाबी प्रदेश को इन्होंने प्रभावित किया है वैसा अन्य को नहीं। इन बातों के कारण जहाँ पंजाबियों का आचरण एक विशिष्ट और अपने निराले रूप में विकसित हुआ है वहाँ यहाँ की भाषा भी विचित्र और अनोखी है। विघ्नकारक अंगों के कारण पंजाबी भाषा के मूल, विकास और प्रभाव के विषय में बहुत कम विचार हुआ है। परंतु फिर भी भारतीय और विदेशी अनुसंधानकर्ताओं ने चलते चलते इसके संबंध में कुछ संकेत अवश्य किए हैं जिनका सांगोपांग विवरण देना यहाँ आवश्यक होगा।

१—**श्री पी० डी० गुणे :** पंजाबी और पश्चिमी हिंदी शौरसेनी अपभ्रंश से ही विकसित हुई मानी जाती हैं। लहंदी और कश्मीरी शायद पैशाची अपभ्रंश से विकसित हुई हैं।[1]

२—**श्री दुनी चंद :** शौरसेनी अपभ्रंश से आधुनिक पश्चिमी हिंदी और पंजाबी विकसित हुई हैं। पंजाबी का कैकय (पैशाचिका) के साथ एक घनिष्ठ संबंध है।[2]

३—**ग्रियर्सन :** माझे प्रांत में पहिले पैशाची ही बोली जाती थी, धीरे धीरे शौरसेनी के रिवाज ने पंजाब में भी जोर पकड़ा। पंजाबी की नींव पैशाची है परंतु उसपर इमारत शौरसेनी की खड़ी की गई है।[3]

पंजाबी बिल्कुल भिन्न दो भाषाओं के संयोग से बनी हुई भाषा है—पहली आधुनिक पश्चिमी पंजाबी की भाषा लहंदी की जननी प्राचीन पैशाची और दूसरी पश्चिमी हिंदी की मूलभाषा मध्यदेशीय प्राकृत।[4]

४—**तारापुरवाला :** जिस भाषा से लहंदी और पंजाबी विकसित हुई हैं उस भाषा का प्राकृत साहित्य और संस्कृत साहित्य में कोई वर्णन नहीं है। पर फिर भी इनपर शौरसेनी का प्रभाव अवश्य है।[5]

५—**श्री धीरेंद्र वर्मा :** लहंदा के लिये एक कैकय अपभ्रंश की कल्पना की जा सकती

१. इंट्रोडक्शन टु कंपैरेटिव फिलोलौजी, पृ० २२३।
२. हिंदी और पंजाबी का भाषाविज्ञान, पृ० २५–२७
३. दुनीचंद्र द्वारा उद्धृत।
४. लिंग्विस्टिक सर्वे आव् इंडिया, भूमिका, पृ० १४।
५. एलीमेंट्स आव् द सायंस आव् लैंग्वेज, पृ० ५२।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है...। पंजाबी का संबंध भी कैकय अपभ्रंश से ही माना जाता है, किंतु बाद को इस पर शौरसेनी अपभ्रंश का प्रभाव बहुत पड़ा है।[६]

६—**श्री भोलानाथ तिवारी** : कैकय अपभ्रंश से पश्चिमी पंजाब (पाकिस्तान) की भाषा पश्चिमी पंजाबी या लहंदा का विकास हुआ है...पूर्वी पंजाबी या पंजाबी मध्य पंजाब की भाषा है।...कैकय से इसकी भी पैदाइश है, पर शौरसेनी का प्रभाव अधिक पड़ा है।[७]

७—**प्रो० राम सिंह** : पंजाबी शौरसेनी अपभ्रंश से निकली है।[८]

८—**डा० बनारसीदास जैन** : यह ग्रियर्सन के ही अनुयायी हैं और पंजाबी तथा लहंदा यह दो भेद मानते हैं।

९—**डा० मोहन सिंह** : उज्जैन से लेकर पेशावर तक और सिंध से लेकर कन्नौज तक महाराष्ट्री प्राकृत थी...उससे देशभाषा...मराठी, गुजराती, राजस्थानी डिंगल, सिंधी, पंजाबी आदि विकसित हुई हैं। पंजाबी अपभ्रंश का नाम उस समय (८वीं सदी) पैशाची, अवहट्ट (अपभ्रष्ट) और भूतभाषा था... आभीर भाषा, पैशाच भाषा, भूतभाषा, अवहट्ट, जटकी ये सब पुरानी पंजाबी के नाम हैं।[९]

१०—**प्रो० सुरेंद्र सिंह कोहली** : पंजाबी और पश्चिमी हिंदी जिस अपभ्रंश से विकसित हुई हैं उसे शौरसेनी कहते हैं। तक्षशिला विश्वविद्यालय इस प्राकृत का केंद्र माना जा सकता है।

११—**प्रिंसिपल तेजा सिंह** : उसके (ग्रियर्सन) अनुसार हमारी पंजाबी पैशाची और प्राकृत के मेल से बनी है। 'नहीं...' हमारी भाषा का विकास आर्यों की भाषा से हुआ है। वेद पंजाबी में है, आज से काफी पुरानी पंजाबी में है, परंतु हैं पंजाबी में, संस्कृत में नहीं, संस्कृत तो पीछे जाकर बनी।[१०]

१२—**श्री नलिनीमोहन सान्याल** : बाल्हिकी से पंजाबी का जन्म हुआ है।[११]

६. हिंदी भाषा का इतिहास, पृ० ४६।
७. १—भाषाविज्ञान, (द्वि० सं०, १९५७) पृ० १४२।
   २—वही, (द्वि० सं०, १९५७) पृ० १४२।
८. देखें—शब्द चमत्कार (पंजाबी)।
९. जितिंदार साहित्य सरोवर (पंजाबी), पृ० ७६-८१।
१०. साहित्य दर्शन (पंजाबी) २०, ११७।
११. देखें—'बिहारी भाषाओं का विकास'।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१३—डा० गोपाल सिंह दर्दी : पूर्वी पंजाबी का जन्म शौरसेनी अपभ्रंश से हुआ माना जाता है......पश्चिमी पंजाबी की अपभ्रंश की अभी तक खोज नहीं हो सकी है।[12]

१४—प्रो० कृपाल सिंह, परमेंद्र सिंह : पंजाबी का मूलस्रोत ऋग्वेद की वह भाषा है जो भारत में आने के समय आर्यों की प्रचलित भाषा थी और जो बदलती बदलती पैशाची प्राकृत और अपभ्रंश का रूप धारण करती हुई सिथीअन, हुण, गुजरों, जटों, अहीरों आदि अनार्य जातियों की भाषा के प्रभाव द्वारा सातवीं आठवीं शताब्दी में देशी भाषा का रूप धारण कर चुकी थी।[13]

उपरोक्त समस्त विचारों का सारांश देते हुए चार सिद्धांत या मत पंजाबी भाषा के विकास के संबंध में स्थापित किए गए हैं —

(१) पंजाबी और लहंदा दो पृथक् पृथक् भाषाएँ हैं--पंजाबी का विकास शौरसेनी से हुआ है और लहंदा का पैशाची से।

(२) मूल आधार पैशाची है परंतु प्रभाव शौरसेनी का है।

(३) पंजाबी और लहंदा दोनों ही पैशाची विकसित हुई हैं।

(४) वैदिक संस्कृत से सीधे ही पंजाबी का जन्म हुआ है।

इन मतों पर वैज्ञानिक दृष्टि से विचार करना सबसे पहले आवश्यक है ताकि हम किसी निष्कर्ष पर पहुँच सकें।

सुप्रसिद्ध भाषाशास्त्री डा० जार्ज ग्रियर्सन ने अपने 'भाषा सर्वेक्षण' में अनुमान से ही संकेत कर दिया है कि पंजाबी (पूर्वी पंजाबी) भीतरी उपशाखा से संबंधित है और लहंदा (पश्चिमी पंजाबी) बाहरी उपशाखा से संबद्ध है। इससे उनका भाव पंजाबी और लहंदा दो पृथक् पृथक् स्रोतोंवाली भाषाएँ बताना है। परंतु सबसे पहले तो ग्रियर्सन का यह वर्गीकरण ही ठीक नहीं। इस संबंध में डा० सुनीतिकुमार चटर्जी ने भाषाओं – असमिया, बँगला, उड़िया, मराठी, सिंधी और लहंदा के उदाहरण देकर और तुलना करके ग्रियर्सन के उपरोक्त वर्ग-विभाजन को निर्मूल सिद्ध किया है क्योंकि इन भाषाओं में परस्पर कोई विशेष समानताएँ नहीं हैं।

१२. पंजाबी साहित्य का इतिहास (पंजाबी), पृ० २१।
१३. द्रष्टव्य 'पंजाबी साहित्य दी उत्पति ते विकास'।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्री चटर्जी का यह सिद्धांत अब सर्वस्वीकृत हो गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि डा० ग्रियर्सन ने अपने सिद्धांत (बैंड थ्योरी) की, जो कि पहले डा० ए० एफ० आर हार्नले ने प्रस्तुत किया था, पुष्टि करने के लिये विवशता से पंजाबी को दो भागों में विभाजित किया है। आगे चलकर डा० साहिब ने 'भूमिका' में स्वयं ही स्वीकार किया है कि पंजाबी और लहंदा की सीमाएँ और भाषाई समानताएँ इतनी परस्पर मिली जुली हैं कि दोनों को पृथक् करना और दोनों की सीमा का निर्धारण करना न केवल कठिन ही है अपितु असंभव भी है। इसके अतिरिक्त इन दोनों भाषाओं (लहंदा पंजाबी और पूर्वी पंजाबी) को कई विद्वानों ने स्वतंत्र रूप में एक ही माना है। डा० बनारसी दास जैन ने बताया है कि एच० ए० रोज अपने एक निबंध 'कंट्रीब्यूशन टु पंजाबी लेक्सिकोग्राफी' में पंजाबी को पंजाब की भाषा समझता है और इसमें लहंदा, पहाड़ी, बांगरू आदि को भी संमिलित करता है। डा० हार्नले और अन्य विद्वानों ने लहंदा को 'मुल्तानी' के नाम से पंजाब की बोलियों के अंतर्गत स्थान दिया था, किंतु अब यह एक स्वतंत्र बोली के रूप में प्रमाणित हो चुकी है, जिसका संबंध पंजाबी की अपेक्षा सिंधी से अधिक है।[१४] प्रिंसिपल तेजा सिंह ने इस उपरोक्त मत की कि पंजाबी और लहंदा पृथक् हैं, छानबीन करते हुए यह मत स्थापित किया है कि 'इस (पंजाब) समस्त प्रदेश की भाषा पंजाबी है जिसमें मालवा, दुआबा, माझा, बार, पोठाहार धनी, मुल्तान संमिलित हैं। लहंदा, पंजाबी का अटूट अंग है।' प्रिंसिपल साहिब ने पूर्वी पंजाबी विशेष करके माझी की तुलना लहंदा के साथ करके यह सिद्ध किया है कि ये दोनों भाषाएँ आपस में बहुत मिलती हैं। इसलिये माझी और लहंदा का घनिष्ठ संबंध है। माझी और मलवई जितनी परस्पर मिलती हैं उतनी ही लहंदा और माझी मिलती हैं। 'रकार' को अपने संयोगी अक्षर के साथ समान रूप न दे करके इसको स्थिर जैसे माझी रखती है वैसे ही लहंदा भी। 'पुतर', 'मूतर' 'सूतर', 'त्रै' आदि शब्दों के 'रकार' को माझी और पोठोहारी लहंदा ने सँभाल कर पृथक् ही रखा है परंतु मलवई में यह 'रकार' 'तकार' का रूप हो गया है और 'तकार' का द्वित्व हो गया है—'पुत्त' मूत्त, सूत।

प्रिंसिपल साहिब के ये उदाहरण बिल्कुल अकाट्य हैं और भाषावैज्ञानिक विश्लेषण की कसौटी पर भी ठीक उतरते हैं। इसके अतिरिक्त डा० धीरेंद्र वर्मा

१४. तुलनात्मक भाषाविज्ञान—डा० पांडुरंग दामोदर गुणे : पृ० २१३ (डा० भोलानाथ तिवारी, द्वारा अनूदित)।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी स्वीकार करते हैं कि 'पंजाबी भाषा लहंदा के साथ ऐसी मिली हुई है कि दोनों को अलग करना कठिन है, किंतु पश्चिमी हिंदी से इसका (पंजाबी का) भेद स्पष्ट है।'[१५]

इन विचारों पर एक और विचार करके जब हम भाषा और उपभाषा के संबंधों को और उपभाषाओं के परस्पर संबंधों को सर्वसाधारण नियम के अनुसार 'पूर्वी पंजाबी' और 'पश्चिमी पंजाबी' के मुख्य रूप में परखते हैं तो भी पूर्वी और लहंदा एक ही मूल भाषा की दो आधुनिक उपभाषाएँ सिद्ध होती हैं। यद्यपि 'हिंदी' के नामाधीन बिहारी भाषाएँ......मगही, मैथिली, और भोजपुरी--जिनमें मोहि, तोहि (हिंदी–हम, तुम), देखलन, देखलिन (हिंदी भूतकाल : देखा, देखे) देखबी, देखबी (हिंदी भविष्यत् कालः देखूँगा, देखेंगे) आदि संज्ञाएँ और क्रियाएँ बिल्कुल भिन्न हैं, और राजस्थानी भाषाओं को जो और भी अधिक पश्चिमी हिंदी से अलग हैं, केवल हिंदी की उपभाषाएँ गिना जा सकता है तो थोड़ा सा अंतर रखनेवाली लहंदा भाषा और पूर्वी पंजाबी भाषाएँ कैसे पृथक् की जा सकती हैं।

इस बात पर शायद किसी ने ध्यान नहीं दिया कि भिन्नतावादी (सेपैराटिस्ट) विद्वान् स्वयं दोनों को साधारणतः 'पंजाबी' ही लिखते हैं, जैसे पंजाबी और लहंदा पंजाबी, पश्चिमी पंजाबी आदि। जिस का स्पष्ट अर्थ है कि दोनों को पंजाबी कहना उचित है परंतु उपभाषाई अंतर बताने के लिये 'पूर्वी पंजाबी' और 'पश्चिमी पंजाबी' (जैसे पूर्वी हिंदी और पश्चिमी हिंदी)· कह देना कोई अशुद्ध बात नहीं।

विश्लेषण और तुलना करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि दोनों पंजाबी की भाषाएँ एक ही भाषा के दो रूप हैं या उपभाषाएँ हैं। भाषाविज्ञान ने एक ही भाषा की उपभाषाओं की जो परस्पर समानताएँ बताई हैं, जिनके आधार पर उन उपभाषाओं को एक भाषा में जोड़ा जाता है, वह इन दोनों पंजाबी की भाषाओं में भी मिलती हैं।

(१) दोनों की ध्वनियों में समानता है। संस्कृत 'य' को दोनों में 'ज' होता है, जैसे; यज्ञ—जग्ग, कार्य—कारज। दोनों में व को 'ब' होता है, जैसे : वणिक—बाणीआ, वृत्ति--बिरती, दोनों में मूर्धन्य वर्णों (सेरेब्रल्स ट, ठ, ड, ढ, ण, और ड़) की एक जैसी भरमार है। कोड़ा, मैंठा, तैंढा, दिहाड़ा, डिहाड़ा, डूग्र, कावड़, साडी, साड्डी, कडैहें, अड़ी, सब में मूर्धन्य अक्षर है।

१५. हिंदी भाषा का इतिहास--पृ० ५४ (चतुर्थ संस्करण, १९५३)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२. संज्ञा रूप (डिक्लेसंस) विभक्तियाँ (केस टर्मिनेशंस) और परसर्गों (पोस्ट पोजीशंस) में भी काफी समानता है। 'उधरों' (उधर से), अपादान कारक, 'कुधरे' (कहाँ), अधिकरण कारक आदि पोठोहारी, मुल्तानी, केंद्रीय पंजाबी में समान हैं। परसर्गों में भी समानता है—

'ते' 'नित्त नित्त चषमां तैंडिया राहां ते रखां वे'। (पोठोहारी)

'मखाहू किसे ते जीना एँ ताँ परत मुहार नूँ, मेरे हाणी ढोला ओ।
(मुल्तानी—झंगी)

'सिर धर के तली ते आजा लंघणा यार दी गली।' (मलवई)

'मीहाँ दी उडीक ते सिआड़ कढके। (माझी)

उक्त समस्त पंक्तियों में 'ते' 'परसर्ग' 'पर' का अर्थ देता है। 'दा, दी, दे' संबंध कारक परसर्गों (जेनेटिव पोस्ट पोजीशंस) पोठोहारी को छोड़कर सबमें समान हैं। 'नाल', 'विच', के (कै)--खा के, खाइ के, खाइ कै, ते— अते आदि परसर्ग समान हैं।

३. क्रियारूपों में भी समानता है। दोनों प्रकार की पंजाबी भाषा में वर्तमान काल की क्रियाएँ 'दकार' के साथ अंत होती हैं। कढेद (मुल्तानी), कढदै, कढदा (माझी, मलवई), कढणैं (पोठोहारी)। पोठोहारी में यहाँपर अंतर है।

४. शब्दावली में तो और भी अधिक समानता है। वाल, सस्स, मूँह, धरत रात, त्रिकालां, खड्डां, गल्ल, चिट्टी, धर, दरसण, झल्ली, हल्ल, हच्छा, आदि सब पंजाब के साझे शब्द हैं।

५. दोनों में पंजाबी की विशेष विशेषता द्वित्व की प्रधानता है। अर्थात् संयुक्तवर्ण द्वित्व हो जाते है : मझीआं, खड्डां, हत्थ, रंन।

इन उपरोक्त विचारों और तर्कों से किसी प्रकार का भी संदेह नहीं रह जाता कि पंजाबी और लहंदा दोनों एक ही बोली के दो आधुनिक रूप हैं। इस मत की स्थापना के साथ ही इस सिद्धांत का भी खंडन हो जाता है कि पंजाबी शौरसेनी से निकली है, और लहंदा पैशाची से; क्योंकि एक ही मूल भाषा से निकलने-वाली दोनों भाषाओं के भिन्न भिन्न मूल स्रोत कैसे सिद्ध किए जा सकते हैं। यह तो एक क्षण के लिये कहा जा सकता है कि दोनों प्रकार की पंजाबी भाषाओं का मूल शौरसेनी है या पैशाची है परंतु यह कहना उचित नहीं कि ऊपर से शाखा रूप में काफी समानता रखनेवाली दोनों भाषाओं का मूल भिन्न भिन्न है। आइए इस पर भी विचार कर लें।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाषावैज्ञानिक लहंदा को पैशाची से निकला मानते हैं परंतु यह नहीं बताया गया कि पैशाची और अब की लहंदा में भाषा के किस अंग की समानता है और पैशाची में किस नियम और किस प्रणाली से वह समानता आई है। इससे स्पष्ट है कि इस पैशाची को पंजाबी की या लहंदा की मूल भाषा बतानेवाले विद्वान् कुछ इस संबंध में अनिश्चित विचार रखते हैं और सुनी सुनाई बात पर विश्वास करके अपना मत स्थापित करते हैं। यह ठीक है कि उन विद्वानों की सहायता के लिये कोई पुस्तक या संपूर्ण व्याकरण नहीं है जो पैशाची की आकृति प्रकृति को बताती हो, परंतु फिर भी हेमचंद्र, राम शर्मा, मारकंडेय आदि प्राकृत वैयाकरणों ने पैशाची संबंधी जो थोड़ा बहुत वर्णन करते हुए प्रकाश डाला है उसपर विचार करने और परस्पर तुलना करने से स्पष्ट हो जाएगा कि मानने योग्य कौनसी बात हो सकती है।

यह तो सभी मानते हैं कि प्रत्येक भाषा में उसकी जननी के कुछ न कुछ अंश वर्तमान रहते हैं--वे अंश चाहे व्याकरण संबंधी हों, ध्वनि संबंधी हों या शब्दावली संबंधी हों। अब हमें यह देखना है कि पैशाची के कोई भाषाई तत्व लहंदी के साथ मिलते भी हैं या नहीं।

डा० कृष्णाजी पांडुरंग कुलकर्णी 'मराठी भाषा : उद्‌गम व विकास' में हेमचंद्र के अनुसार बताते हैं कि पैशाची में वर्ग के तीसरे अक्षर (वायस्ड सानेंट) के स्थान पहिला (अन वायस्ड सर्ड) होता है। अर्थात् ग, ज, ड, द, ब के स्थान पर क्रमशः क, च, ट, त, प होते हैं जैसे तमोतर (दमोदर), नकर (नगर), पालक (बालक)। परंतु जब हम यह लक्षण वर्तमान पंजाबी और लहंदा दोनों पर घटाते हैं तो बिल्कुल प्रतिकूल रुचि दिखाई देती है। दोनों प्रकार के पंजाबी रूपों की ध्वनियों में यह विशेष विशेषता है कि इनमें क, च, ट, त, प, के स्थान पर क्रमशः ग, ज, ड, द, ब, होते हैं जैसे, 'जुगती' (युक्ति), मंजा (मंच), कड़ाह (कटाह), पतंदर (पत्यंतर=पति के अतिरिक्त कोई अन्य), कबूतर (कपोत)। अब इस प्रसंग में हमने देख ही लिया है कि पूर्वी पंजाबी और लहंदा पंजाबी दोनों ही पैशाची के मुख्य लक्षणों से प्रतिकूल हैं परंतु परस्पर समान हैं।

डा० श्यामसुंदर दास और कुछ अन्य विद्वान् यह मानते हैं कि पैशाची में मूर्धन्य वर्ण (सेरेब्रल साउंड्स) अर्थात् 'ट, ठ, ड, ढ, ण, ड़' कम हैं, उनके स्थान पर 'त थ, द, ध, न' (डेंटल साउंड्स) हो जाते हैं। संस्कृत के मूर्धन्य वर्ण पैशाची में दंत्य हो जाते हैं, जैसे कुटुंबकम् से कुतुंबकम्। इस अंगसंबंधी कुछ मतभेद हैं पर यह बात तो ठीक है कि पैशाची में मूर्धन्य भाव (सेरेब्रलाइजेशन) इतनी अधिक संख्या में नहीं हो सकता जितना कि पंजाबी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और विशेष करके लहंदा पंजाबी में है। इनकी विशेषता ही इस बात में है कि इनमें शेष भारतीय भाषाओं से मूर्धन्य अक्षर बहुत अधिक हैं। इस पक्ष में पैशाची तथा लहंदा और पंजाबी की कोई समानता नहीं है अपितु विभिन्नता है। पैशाची की यह रुचि ईरानी भाषाओंवाली हैं जहाँ 'ट' को 'त' होता है और जहाँ संस्कृत 'उग्र' को 'उश्तर' या शुतर ही कहते हैं।

पैशाची में 'णकार' के स्थान 'नकार' हो जाता है, जैसे, 'गुण गुण' के स्थान 'गुन गुन' परंतु लहंदा और पंजाबी में बिल्कुल इससे विपरीत रुचि है। यहाँ 'णकार' की बहुत ही प्रधानता है। 'कंपन–कंबण', 'चलन--चलणा', 'खाणा, पीणा, रोणा, हस्सणा', आदि सब में ही 'नकार' के स्थान पर 'णकार' है।

इन उदाहरणों एवं तुलना से स्पष्ट शब्दों में यही सिद्ध होता है कि पैशाची न तो लहंदा की और न ही पूर्वी पंजाबी की जननी है। इस संबंध में प्रिंसिपल तेजासिंह की राय, जिनका जन्म और पालनपोषण लहंदा प्रदेश में ही हुआ है, बड़ी महत्त्वपूर्ण है। उनका तर्क ठीक प्रतीत होता कि हम पश्चिमी और पूर्वी पंजाब के निवासी शुद्ध आर्य संतान हैं, हमारी पंजाबी पैशाची या भूतभाषा से नहीं बनी अपितु सीधे वैदिक भाषा से चली आ रही है। पैशाची को अच्छे अच्छे विद्वानों ने जिनमें जार्ज ग्रियर्सन भी शामिल है, 'दरदीय' (डार्डिक) भाषा कहा है। दरदीय भाषाएँ, निस्संदेह भारतीय भाषाएँ नहीं हैं। इनका संबंध ईरानी मूलभाषा से बहुत है, चाहे वे भी आर्यभाषाओं की ही संतान हैं।

हाँ, यह तो हो सकता है कि पंजाबी के पड़ोस में पैशाची रही होगी जिसकी आधुनिक भाषाएँ डा० श्यामसुंदर दास के अनुसार, कश्मीरी और उसकी पश्चिमी भाषाएँ हैं और जिनमें अब भी पैशाची का लक्षण 'ग' के स्थान पर 'क' होता है। पड़ोसी की हैसियत से उसपर थोड़ा बहुत प्रभाव जरूर पड़ गया होगा परंतु यह प्रभाव सिर्फ इतना ही होगा जितना कि एक पड़ोसी भाषा का दूसरी पर पड़ता है। परंतु प्रभाव किस अंश में, किस अंग में, पंजाबी पर पैशाची का मिलता है, इस विषय पर सब मौन हैं।

यहाँ एक बात और भी विचार करने योग्य है कि सिंधी और लहंदा दोनों पड़ोसी और सीमा प्रांत की भाषाएँ हैं। इनमें समानता भी बहुत अधिक है। जान बीम्स के अनुसार और डा० सर रामकृष्ण गोपाल भंडारकर के अनुसार लहंदा में मूर्धन्य वर्ण--विशेषकर 'ड' और 'ण' की बहुलता केवल सिंधी में ही है जहाँ हर 'द' को विशेष नियमों के अधीन 'ड' होता है। दिवस—दिहु--दिहाड़ा—डिहडु (सिंधी,) देशई--डेई, दुख--डुख आदि कुछ उदाहरण हैं। यह 'ड' की बहुलता लहंदा (मुल्तानी और पोठोहारी) दोनों में ही आम है। मैंडा, तैंडा,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तुहाड़ा, साडा, डूह, (दो), डुख (दुःख) आदि उदाहरणों से यह स्पष्ट है। अब सब विद्वान् इस बात पर सहमत हैं कि सिंधी 'व्राचड़' अपभ्रंश से निकली है। 'व्राचड़' अपभ्रंश, इसके प्रसिद्ध तीन भेदों—नागर, उपनागर, व्राचड़ में एक मानी जाती है जो कि शुद्ध आर्य है और प्रसिद्ध है। जिसकी (व्राचड़ की) व्युत्पत्ति डा० ब्लाश ने व्रज (व्रज, तद्भव रूप) शब्द से मानी है जो मध्यप्रदेश का वाचक है। अब यहाँ यह असंभव सी बात है कि सिंधी को तो 'आर्यभाषा' से निकली मानते हैं परंतु सिंधी की साथिन और आर्य परिवार में रहनेवाली लहंदा कैसे पैशाची से निकली सिद्ध हो सकती है ?

इसके अतिरिक्त दूसरी बात यह भी है कि अशोक के समय (दूसरी शताब्दी बी० सी०) मध्यप्रदेश (पंजाबी और लहंदा पंजाब सहित) में कोई भी शिलालेख खुदा हुआ नहीं मिलता। अशोक के शिलालेख दूर पश्चिम में, जिला पेशावर और हजारा के मानसेरा और शाहबाज गढ़ी में मिले हैं। इसका स्पष्ट अर्थ यही है कि सम्राट् ने पूर्वी और लहंदा पंजाब में इसकी आवश्यकता नहीं समझी क्योंकि यह देश शौरसेनी प्रदेश की भाषा को अच्छी तरह समझता था, या ऐसे कहो कि उसके किसी रूप से संयुक्त और संबंधित था। उसने वहाँ आगे जा के अपने आदेश (अभिलेख) खुदवाए जहाँ इस देश से (पंजाब से) भिन्न भाषा थी। यह हो सकता है कि वहाँ पैशाची का प्रभाव और क्षेत्र आरंभ होता हो। इसका अनुमान उन शिलालेखों की लिपि से भी सिद्ध हो सकता है जो भारतीय ब्राह्मी नहीं है और जो अभारतीय ईरानी लिपि की ही रूपांतर खरोष्ठी है जिसका आधुनिक रूप अरबी फारसी लिपि है।

इस विवेचन से यही भाव स्पष्ट होता है कि भाषाई आधार पर पैशाची और लहंदा या पूर्वी पंजाबी की कोई समानता नहीं है। पैशाची एक दरदीय भाषा या अनार्य प्राकृत रही है। इसका लेनदेन भारतीय भाषाओं के साथ इतना रहा है कि मार्कंडेय जैसे प्राकृत वैयाकरणों ने इसके क्षेत्र को बताते हुए लगभग सारा उत्तरी भारतवर्ष संमिलित कर लिया है और साथ ही कई भेद किए हैं। यहाँतक कि शौरसेनी को भी, जो सबसे उत्कृष्ट और आर्य सभ्यता के केंद्र मध्य देश की प्रतिनिधि भाषा है, पैशाची से ओतप्रोत समझकर 'शौरसेनी पैशाचिका' एक भेद गिन दिया है। यह सब ही जानते हैं कि शौरसेनी बिल्कुल शुद्ध वैदिक आर्य प्राकृत है परंतु भ्रम हो जाना भी कोई बड़ी बात नहीं। इसलिये यह कहना ठीक नहीं प्रतीत होता कि लहंदा पैशाची से निकली है। इस विवेचन से इस मत का भी खंडन हो जाता है कि हमारी पंजाबी का आधार पैशाची है या पंजाबी पैशाची और भूतभाषा में से निकली एक आधुनिक भाषा है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अब इस पहले मत के दूसरे भाग का विवेचन करना उचित होगा जिसके अनुसार पूर्वी पंजाबी का जन्म शौरसेनी से हुआ माना जाता है। 'शूरसेन' मथुरा, बृंदावन, आगरा और देहली के पश्चिमोत्तर भाग के प्रदेश का प्राचीन नाम था। इस शूरसेन प्रदेश की भाषा से संबंधित होने के कारण (तद्धित प्रत्यय लगाकर) 'शौरसेनी' कहा जाता था। इसकी और पंजाबी की रूपरेखा आज भी बहुत मिलती है। परंतु प्राचीन समय में इसके विकास क्षेत्र का कोई संतोषजनक पता नहीं मिलता। इस समीपता में रहनेवाली भाषाओं की समानताएँ भाषा के आधार पर विचार योग्य हैं।

शौरसेनी प्राकृत के विशेष लक्षणों को जब आधुनिक पंजाबी पर घटाते हैं तो लगभग सारे ही पंजाबी में प्राप्त होते हैं।

शौरसेनी की विशेष विशेषता यह बताई जाती है जो वैयाकरणों ने लिखी है, कि इसमें वर्ग के पहले, अक्षर क, च, त, ट, प के स्थान पर क्रमशः तीसरा अक्षर होता है[१६]। यही प्रवृत्ति वास्तविक रूप में आधुनिक पंजाबी में है। न केवल पूर्वी पंजाबी में अपितु लहंदा पंजाबी में भी। इसके उदाहरण हैं—'भगती (भक्ति) अंदर (अंतर), मंज (मंचक), कंबणी, (कंपन) आदि। शौरसेनी की इस विशेषता को संभाल कर रखनेवाली सिर्फ एकमात्र पंजाबी ही है। उसी की सीधी पुत्री या पौत्री उर्दू या हिंदी में इसके कुछ थोड़े ही अंश हैं जो धीरे धीरे मिट रहे हैं। इस अंग में पंजाबी और शौरसेनी की समानता प्रत्यक्ष है।

शौरसेनी में 'यकार' को 'जकार' होता है जहाँ मागधी और अर्द्धमागधी प्राकृत में 'य' ही रहता है बल्कि मूल 'ज' को 'य' कर दिया जाता है। पंजाबी ने अबतक इस प्रवृत्ति को अपनाए रखा है। सूर्य—सूरज, युग—जुग, संयम—संजम आदि। अब चाहे धीरे धीरे कुछ 'य' ध्वनि फिर आ रही है।

शौरसेनी में श, स, दोनों के स्थान पर दंत्य 'स' ही होता है। इस प्रवृत्ति को पंजाबी में प्रायः देखा जाता है। शोक—सोग, दोष—दोस, श्रुति—सुरत आदि।

क्रियाओं में और कृदंतों में शौरसेनी संस्कृत के 'त' के स्थान पर 'द' रखती है जो पंजाबी भाषा में आज भी सुरक्षित है।

१६. 'सर्डंस आर चेंज्ड इंटु सार्नेंट्स।'—वूलनर।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

	संस्कृत	शौरसेनी	पंजाबी
क्रिया	कथ्यति	कथेदि	कहिंदा
वर्तमान काल	पृच्छति	पुच्छदि	पुछदी, दा
भूत	दृष्ट	दीसदि	दिसदा, डिठा
कृदंत	गत	गच्छदि	गच्छदा (जांदा)

इन उदाहरणों में पंजाबी शौरसेनी के 'द' को उसी रूप में रख रही है। पंजाबी की यह विशेषता है कि वर्तमान काल की क्रियाओं में 'द' अवश्य होता है।[१७] जो उस समय से प्रचलित है।

इस तुलना से जो पंजाबी और शौरसेनी अपभ्रंश की समानताएँ मिलती हैं, उससे तो कुछ ऐसा ही प्रतीत होता है कि पंजाबी का मूल शौरसेनी है परंतु इस में भी पूरी स्वीकृति का कोई अधिक अवसर नहीं दिखाई देता। इस संदेह पर और इसके निर्णय के विषय में आगे थोड़ी ही दूर जाकर विचार करेंगे।

अब इस मत की व्याख्या के विषय में भी कुछ चर्चा कर लेनी ठीक है कि 'पंजाबी सीधी वैदिक संस्कृत से विकसित हुई है और वेद पंजाबी बोली में है।' यदि इस सिद्धांत का भाव यह है कि पंजाबी का मूल स्रोत (पेरेंटल स्टाक) वैदिक संस्कृत या ऋग्वैदिक भाषा है और वहाँ से पंजाबी प्राकृतों, अपभ्रंशों से (अर्थात् प्राइमरी सेकेंडरी और टर्शिअरी प्राकृतों से) होती हुई यहाँ पहुँची है तो इसमें संदेह का कोई स्थान नहीं। परंतु यदि हमारा इससे भाव यह है कि पंजाबी सीधे, बिना किसी अन्य परिवर्तित रूप के वैदिक भाषा से ही निकल आई है तो कुछ विचारणीय और चिंतनीय बात अवश्य है।

पाँच हजार वर्ष से चली आती हुई कोई भी भाषा स्थिर नहीं रह सकती। अपितु वैज्ञानिकों का तो यह विचार है कि भाषा हर समय बदलती है। तो फिर ऋग्वेद की भाषा कैसे एकदम आज की पंजाबी का रूप धारण कर सकती है। इसने पालि, प्राकृतों और अपभ्रंशों के अवश्य ही रूप धारण किए हैं।

'ऋग्वेद और शेष वेद पुरानी पंजाबी में ही थे' इसमें कुछ ममता दिखाई देती है। यह तो ठीक प्रतीत होता है कि वेद मंत्र पंजाबी भाषा की धरती पर ही उच्चरित किए गए थे जिसपर पंजाबीभाषियों को गौरव है, परंतु यह कोई बहुत ही तर्कपूर्ण विचार नहीं है कि वेद पंजाबी में है क्योंकि वेदों की भाषा ही पंजाबी की

१७. इन सब विशेषताओं के उदाहरण डा० वूलनर की पुस्तक 'ऐन इंट्रोडक्शन टु प्राकृतज' के आधार पर लिखे गए हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तरह सब आधुनिक भाषाओं—हिंदी, बिहारी, मराठी, गुजराती, सिंधी, बँगला की जन्मदातृ है। वे सब ही वेदों की भाषा को अपना अपना नाम दे सकती हैं। परंतु फिर भी इतनी बात जरूर है कि पंजाबी में अपनी मातृभाषा के प्रति अधिक निष्ठा है।

नलिनीमोहन सान्याल के मत के विषय में दो चार शब्द कह देना आवश्यक है जो पंजाबी की उत्पत्ति 'बाल्हिकी' से मानते हैं। 'बाल्हिक' (सं० बाह्लीक)[१८] आधुनिक बलख (बुखारे) का प्राचीन संस्कृत नाम है। यह देश पंजाब से बहुत ही दूर पश्चिम उत्तर में है। इससे पंजाबी की उत्पत्ति का तो प्रश्न ही पैदा नहीं होता। साथ ही चौथी पाँचवीं शती ए० डी० में सम्राट् चंद्रगुप्त ने सप्तसिंधु को (आधुनिक पंजाब) पार करके इन वाल्हीकों पर विजय प्राप्त की थी। इसका वर्णन उनके एक मेहरौली शिलालेख में पद्यबद्ध रूप में मिलता है--तीर्त्वा सप्त मुखानि येन समरे सिंधोर जिता वाल्हिकाः। अर्थात् जिस चंद्रगुप्त ने सिंध की सात नदियों को पार करके 'वाल्हिक' को जीता है। इसलिये पंजाबी की उत्पत्ति 'वाल्हिकी' से किसी भी स्थिति में नहीं हो सकती और न ही इसके विषय में किसी अन्य ने हठ किया है।

हमारी समस्त विवेचना का सारांश यह है कि पंजाबी की उत्पत्ति पैशाची या भूत भाषा से नहीं हुई है। पंजाबी और लहंदा दो पृथक् पृथक् भाषाएँ नहीं अपितु एक ही हैं। पंजाबी और शौरसेनी का कोई समीप का संबंध है। पंजाबी वैदिक संस्कृत से क्रमशः विकसित हुई है। पंजाबी की उपज वाल्हिकी से संभव नहीं। अब प्रश्न यह होता है कि फिर पंजाबी की जननी कौन सी भाषा है जिससे इसका संबंध जोड़ा जाए। आइए, इसपर विचार करें।

हम पीछे विचार कर ही आए हैं कि शौरसेनी प्राकृत और पंजाबी[१९] बहुत से भाषाई तत्वों और अंशों में समान हैं जिससे कुछ ऐसा ही संकेत मिलता है कि वर्तमान पंजाबी शौरसेनी प्राकृत से उत्पन्न हुई है। परंतु इस सिद्धांत को एकदम स्वीकार नहीं किया जा सकता और न तो इसको अंतिम निर्णय (सिद्धांत) ही स्वीकार किया जा सकता है क्योंकि इन दोनों भाषाओं—शौरसेनी और पंजाबी में कुछ ऐसी भिन्नताएँ हैं जो इस सिद्धांत की सर्वस्वीकृति के मार्ग में बाधाएँ उपस्थित करती हैं और किसी अन्य दिशा की ओर हमारे निर्णय को ले जाती हैं।

हमने पीछे देखा था कि शौरसेनी की एक विशेषता यह है कि क्रियाओं में

१८. देखें : दिनेशचंद्र सरकार की पुस्तक और उसका भारत का नक्शा।
१९. देखें : वूलनर, वही, पृ० ५१।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और क्रिया संज्ञाओं में (जैसे कृदंत, भूत कृदंत जो क्रिया का काम भी देते हैं) 'त' के स्थान पर 'द' होता है और यही विशेषता पंजाबी की क्रियाओं में चली आती है परंतु इसके साथ साथ पंजाबी में कई ऐसे रूप हैं--विशेष करके भूतकालिक कर्मवाच्य कृदंत के, जिनमें 'त' के स्थान पर 'द' नहीं होता अपितु संस्कृत की भांति 'त' ही रहता है ।

पंजाबी	शौरसेनी	संस्कृत
दित्ता	देदि	दत्त ('दा' धातु)
पीता	पिवदि	पीत ('पा' धातु)
न्हाता	......	स्नात ('स्ना' धातु)
धोता	......	......
सीता	......	स्यूत
लीता	......	......
बीती (गल)	......	......

इसके अतिरिक्त प्राकृत में यह भी नियम था जिसको होल्सेल कांसोनेंटल एसीमिलेशन कहा जाता है अर्थात् दो संयुक्त वर्णों को समीकृत किया जाता था, समरूप किया जाता था । विशेष करके दो स्वरूपों के मध्य । यही नियम शौरसेनी में भी प्रचलित था । यही नियम शौरसेनी से उत्पन्न भाषाओं में भी होना चाहिए । परंतु पंजाबी में यह नियम पूरी तरह लागू नहीं होता । कई शब्दों के संयुक्त अक्षर समरूप नहीं होते अपितु 'स्वर भक्ति' (एनैप्टिक्सिस) के कारण अलग अलग रहते हैं । पंजाबी[२०] में दो संयुक्त वर्णों के मध्य किसी स्वर का जुड़ जाना और इसलिये उनको द्वित्व होने से बचाना प्रायः देखने में आता है । इस प्रवृत्ति की ओर कई विद्वानों ने भी संकेत किया है । जैसे—

पंजाबी	प्राकृत	अपभ्रंश	संस्कृत
पुत्तर (मलवई : पुत्त)	पुत्त	पुत्तु	पुत्र
कुधर (मा० म० : किथे)	कुत्तो	...	कुत्र
जिधर	...	...	यत्र
मूतर	...	...	मूत्र
भ्रिष्ट	अवहट्ट	...	भ्रष्ट
सूतर	...	...	सूत्र

२०. आगे 'पंजाबी' में पूर्वी तथा पश्चिमी पंजाबी दोनों संमिलित हैं, क्योंकि हम दोनों प्रकार की भाषाओं को एक ही भाषा सिद्ध कर आए हैं ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसका यह भाव नहीं कि पंजाबी में समीकरण (एसीमिलेशन) होता ही नहीं अपितु काफी अधिक मात्रा में होता है। सैकड़ों शब्द ऐसे भी मिलते हैं :

हत्थ	...	हस्त	चंम	...	चर्म
कर्म	...	कर्म	काज	...	कारज।

परंतु कुछ अपवाद रूप भी इक्के दुक्के मिलते हैं ये प्रकट करते हैं कि पंजाबी का मूल शुद्ध शौरसेनी नहीं है। इसके अतिरिक्त उस युग में प्राकृतों के भेद कोई बहुत गहरे नहीं थे। साधारणतः प्राकृतें – मागधी, महाराष्ट्री शौरसेनी परस्पर समानताएँ रखती थीं, उनमें केवल थोड़ी सी विभिन्नताएँ थीं। उस समय से चली आ रही देशी भाषाओं में थोड़ी सी विभिन्नताएँ, विशेष करके ध्वनियों और व्याकरण के क्षेत्र में, इसके अकाट्य प्रमाण हैं कि किसी देशी भाषा का संबंध उस प्राकृत के साथ नहीं हो सकता जिसके साथ वह व्याकरणिक अंशों में न मिलती हो।

हमारी इस आपत्ति और संदेह को डा० धीरेंद्र वर्मा ने और भी पुष्ट कर दिया है। वे कहते हैं कि 'शौरसेनी प्राकृत तथा अपभ्रंश से आधुनिक पंजाबी, राजस्थानी, गुजराती तथा पश्चिमी हिंदी निकली हो यह समझ में नहीं आता। शौरसेनी प्राकृत तथा अपभ्रंश शूरसेन प्रदेश अर्थात् आजकल के व्रज प्रदेश की उस समय की बोलियों के आधार पर बनी हुई साहित्कि भाषाएँ रही होंगी। साथ ही उस काल में अन्य प्रदेशों में भी आजकल की भाषाओं और बोलियों के पूर्व रूप प्रचलित रहे होंगे जिनका प्रयोग साहित्य में न होने के कारण उनके अवशेष अब हमें नहीं मिल सकते[२१]।' यह बात ठीक भी प्रतीत होती है कि एक प्राकृत से ही चार पाँच शताब्दियों के मध्य (२०० ई०पू० से ६०० ई० तक) चार प्रधान और विशाल क्षेत्र की भाषाएँ सहसा कैसे निकल सकती हैं। अवश्य उस प्राकृत के साथ कोई अन्य स्वतंत्र प्राकृत होगी या उसका ही कोई भेद होगा जिससे यह भिन्न भिन्न भाषाएँ विकसित हुई होंगी।

इसमें कोई संदेह नहीं कि शौरसेनी एक महत्वपूर्ण प्राकृत रही है। जो सीधे ही संस्कृत वैदिक से संबंधित है और जिसको उच्च प्राकृत माना जाता रहा है। शौरसेनी के अतिरिक्त नाटकों में उत्तरपश्चिम भारत (पंजाब) की अन्य कोई प्राकृत नहीं मिलती जिसको हम पंजाबी की पहले की भाषा कह सकें और न ही कोई ऐसे शिलालेख हैं। इस अन्य भाषा (शौरसेनी के अतिरिक्त) के अस्तित्व में होने

२१. डा० धीरेंद्र वर्मा-हिंदी भाषा का इतिहास 'फुटनोट', पी पी ५०।

२३ (७१–३–४)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का यही युक्तियुक्त प्रमाण हो सकता है कि आज के पंजाबी प्रदेश की पहले की भाषा शौरसेनी से कोई बहुत दूर की भाषा नहीं होगी। यदि होती तो उसको भी नाटकों में अवश्य प्रतिनिधित्व मिलता। साथ ही डा० हार्नले ने ईस्टर्न हिंदी ग्रामर की भूमिका में लिखा है कि उत्तर भारत में दो ही भाषासमुदाय थे शौरसेनी समुदाय और मागधी समुदाय। उत्तर की ओर मागधी और दक्षिण की ओर शौरसेनी। इसका भाव यह है कि शौरसेनी का बोलबाला सारे उत्तरपश्चिमी और मध्य भारत में होगा, चाहे यह शौरसेनी सीधे तौर पर लोगों की भाषा होगी या प्रभावशाली रूप में अन्य कुछ भेदवाली भाषाओं को प्रभावित करके। इसके चतुर्दिक् प्रभाव को कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता।

परंतु डा० तारापुरवाला के कथनानुसार पंजाबी और लहंदा की नाटकों में कोई प्रतिनिधि भाषा नहीं और क्षेत्र की विशालता को देखकर यही प्रत्यक्ष दिखाई देता है कि पंजाबी को जन्म देनेवाली कोई शौरसेनी से प्रभावित अन्य प्राकृत रही होगी जिससे आधुनिक पंजाबी का जन्म संभव है। उसको चाहे शौरसेनी का भेद कहा जाय या शौरसेनी से प्रभावित बताया जाय, शौरसेनी के संबंध से पृथक् नहीं रखा जा सकता। तब यह प्रश्न रह जाता है कि वह कौनसी प्राकृत है जो शौरसेनी से संबंधित है या शौरसेनी से प्रभावित है परंतु पृथक् है?'

प्राचीन व्याकरणों से, जैसे 'प्राकृत प्रकाश (वररुचि) प्राकृतसर्वस्व (मार्कंडेय), प्राकृत चंद्रिका, शब्दानुशासन (हेमचंद्र), कुवलयमाला (उद्योतन सूरि), प्राकृत लक्षण (चंड), षड्भाषा चंद्रिका (लक्ष्मीधर) आदि से पता लगता है कि पुराने पंजाब की भाषा का कोई एक निश्चित नाम नहीं था। उन पुस्तकों के अनुसार पंजाब की पुरानी भाषा के कई नाम लिए जाते थे। जिनमें से यह कुछ प्रसिद्ध हैं और जो विश्वस्त रूप में इस प्रदेश की भाषा के ही प्राचीन नाम सिद्ध हो चुके हैं—'(हिमवती) पांचाली, कैकयी, टक्की या ढक्की', परंतु दुःख की बात यह है कि इन भाषाओं या देशी भाषाओं का कोई निश्चित उद्धरण नहीं मिलता जिससे इनकी प्राचीन रूपरेखा को जाना जा सके।

इन भाषाओं के उद्धरण के न होने के कारण यही प्रतीत होता है कि महाराष्ट्री और अवंती या लाटी प्राकृतों की तरह इन हमारी पुरानी पंजाबी प्राकृतों (देशभाषाओं) का भी वर्णन पृथक् रूप में नहीं होता था अपितु इनको शौरसेनी का भेद मानकर इनके स्थान पर 'नाटकीय शौरसेनी' या 'साहित्यिक शौरसेनी' का भी प्रयोग ठीक समझा जाता था। जैसे, आज हमें पता है कि पुरानी गुजराती का नाम 'लाटी' रहा है परंतु फिर भी 'लाटी' को पृथक् प्राकृत न मानकर इस गुजराती को शौरसेनी से ही उत्पन्न हुई मानते हैं। यह कोई अनुचित बात नहीं थी क्योंकि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शौरसेनी के प्रभावाधीन ही यह विकसित हुई थी, चाहे इनके अपने भी कई स्वतंत्र विशेष लक्षण थे। यही कारण है कि पुराने वैयाकरणों, अलंकारशास्त्रियों और साहित्यकारों ने कैकय आदि को स्वतंत्र प्राकृत न मानकर 'देशी भाषाएँ' या 'ग्रामीण भाषाएँ' या 'विभाषाएँ' कहकर ग्रंथों में संकेत किया है।

इनके विषय में व्याकरणों में जो कुछ चलते लक्षण बताए गए हैं उनसे इनके रूप का कोई पता नहीं लगता। डा० कुलकर्णी ने 'मराठी भाषा : उद्गम व विकास' में मार्कंडेय और उद्योतन सूरि के, इनके विषय में यह कथन दिए हैं—

'बाडी बहुला पांचाली, वकार प्राया ढ (ट) क विभाषा स्वीप्सा कैकयी, टाकं टक्क भाषा नागरोपनागरादिभ्योऽवधारणीयम्।'

अर्थात् व, डी की बहुलतावाली पांचाली, 'व' की प्रधानतावाली टक्की नागर और उपनागर के मेल से बनी हुई टक्की और 'स्वीपसा' वाली कैकयी। परंतु इसका अर्थ स्पष्ट नहीं किया गया। इन उद्धरणों के आधार पर कोई बात सिद्ध नहीं हो सकती। अब हमें दूसरी प्रणाली अपनानी चाहिए।

ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर सिद्ध हो चुका है कि कैकय देश आज के पश्चिम पंजाब को कहा जाता है और टक्क पूर्वी पंजाब का नाम रहा है। टक्क के विषय में बूलनर ने स्यालकोट का प्रदेश बताया है, इसके विषय में चाहे न भी निश्चय हो परंतु कैकय के विषय में तो इतना निर्णय है कि कैकय प्रदेश कम से कम पश्चिमी पंजाब अवश्य है। परंतु यह निर्णय सिर्फ उनकी ओर से है जो पूर्वी पंजाबी और लहंदा को पृथक् पृथक् दो भाषाएँ मानते हैं। पांचाल देश सारे विशाल पंजाब को ही कहा जाता होगा। जहाँ पाँच 'जल' अर्थात् दरिया बहते हों। पंचाल, 'पंच + जल' का ही कुछ तद्भव रूप दिखाई देता है : पंचाल < पंचअल < पंच जल। परंतु भाषा के लिहाज से पांचाली नाम प्रसिद्ध नहीं जितना कि केकयी या टक्की (ढक्की) प्रचलित है। इस विवरण से यह ज्ञात होता है कि पंजाबी की जननी प्राकृत (जिनको प्रायः विभाषा कहा जाता रहा है) कैकयी या टक्की ही हो सकती है।

जब हम इन दोनों के विषय में विद्वानों के कथन पढ़ते हैं तो टक्की से कैकयी की महानता ही सिद्ध होती है। राम शर्मा ने भी शुद्ध और अशुद्ध पैशाची के भेद बताते हुए कैकयी को ही एक भेद गिना है (कैकयी पैशाचिका) परंतु टक्की को नहीं। हो सकता है टक्की शौरसेनी के दबाव में आकर, बहुत समीप होने के कारण अपना अस्तित्व या पृथक्ता को खो बैठी हो, जो भी थोड़ी बहुत इसमें थी। परंतु यह बात कैकयी पर लागू नहीं हो सकती थी। या दूसरी बात यह भी हो सकती है कि कैकयी, शौरसेनी प्राकृत के साथ ईसा की पहली शताब्दियों में पंजाब

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की भाषा की प्रतिनिधि हो और अपभ्रंश के समय टक्की नाम ही कैकयी नाम के साथ साथ पड़ गया हो जैसे ऊपर के उद्धरण में बताया गया है कि नागर अपभ्रंश और उपनागर अपभ्रंश से टक्की समझनी चाहिए। इससे स्पष्ट है कि पंजाबी की पहली प्राकृत या अपभ्रंश या विभाषा 'कैकयी' है जिससे पंजाबी (पूर्वी और पश्चिमी पंजाबी) का जन्म होता है।

इस संबंध में श्री धीरेंद्र वर्मा ने लिखा है कि 'लहंदा के लिये एक कैकय अपभ्रंश की कल्पना की जा सकती है। पंजाबी का संबंध भी इस कैकय अपभ्रंश से ही माना जाता है किंतु, बाद को इसपर शौरसेनी अपभ्रंश का प्रभाव बहुत पड़ा है।[२२]

श्री भोलानाथ तिवारी ने भी इस बात की पुष्टि की है कि 'कैकय अपभ्रंश' से 'पश्चिमी पंजाब (पाकिस्तान) की भाषा पश्चिमीपंजाबी या लहंदा का विकास हुआ है।' 'पूर्वी पंजाबी या पंजाबी मध्य पंजाब की भाषा है। कैकय से इसकी भी पैदाइश है'।[२३] तिवारीजी ने अन्यत्र भी लिखा है कि 'टक्क और मद्र प्राकृत भी इसी (कैकयी) की शाखाएँ थीं। इन सभी का क्षेत्र पश्चिमी पंजाब था[२४] ...... 'कैकय एक प्राकृत थी,......कैकय एक अपभ्रंश भी है'।[२५]

श्री दुनीचंद भी लिखते हैं—'पंजाबी का कैकयी अथवा कैकय पैशाचिका के साथ घनिष्ठ संबंध हैं'।[२६]

श्री श्यामसुंदर दास ने लिखा है कि जिस प्रदेश में यह लहंदा बोली जाती है, वह लगभग प्राचीन कैकय देश है।

भाषावैज्ञानिकों की इन उपरोक्त उक्तियों से जो नवीनतम खोजों पर आधारित है, यह स्पष्ट हो जाता है कि आधुनिक पंजाबी की उत्पत्ति 'कैकयी' प्राकृत से ही होती है।'

इसका समर्थन और पुष्टि भाषाई तत्वों की तुलना के आधार पर भी निस्संदेह सिद्ध हो जाती है। हम पीछे देख आए हैं कि पंजाबी शौरसेनी प्राकृत के साथ

२२. हिंदी भाषा का इतिहास, पृ० ४८-४९।
२३. भाषाविज्ञान, पृ० १४८ (द्वितीय संस्करण, १९५७)।
२४. वही, पृ० १३८।
२५. वही, पृ० १३८।
२६. हिंदी और पंजाबी का भाषाविज्ञान, पृ० ८५।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

काफी समानता रखती है अपितु दोनों में एक महत्वपूर्ण समानता है। परंतु साथ ही हमने यह भी देखा था कि शौरसेनी के 'द' के स्थान में कहीं कहीं 'त' है और शौरसेनी के समीकृत शब्दों के स्थान पर पंजाबी में कहीं संयुक्त वर्ण पृथक् भी प्रचलित हैं। शौरसेनी की यह अनियमितता 'कैकयी' में भी मिलती है जहाँ 'द' के स्थान पर अधिकतर 'त' होता है। श्री श्यामसुंदर दास ने पुरानी खोज के आधार पर लिखा है कि 'इनकी भाषा (कैकय देशवासियों की भाषा, कैकयी) में दो स्वरों के मध्य एक 'त' हुआ करता था जो अब तक पश्चिमी पंजाबी मिलता है। इस 'त' के उदाहरण 'कीता' (कदा), 'पीता', 'सीता' आदि हम पीछे देख आए हैं।

श्री श्यामसुंदर दास का यह कथन केवल लहंदा के लिये है परंतु इसमें पूर्वी पंजाबी भी शामिल की जाती है, क्योंकि एक तो हम पहले पूर्वी पंजाबी और लहंदा पंजाबी को एक ही भाषा सिद्ध कर आए हैं और दूसरा यही 'त' पूर्वी पंजाबी में भी स्पष्टतः प्राप्त है। इसलिये पूर्वी पंजाबी और पश्चिमी पंजाबी (कुछ सिंध का भाग भी) की उत्पत्ति इस 'कैकयी' से ही है।

यदि यहाँ यह शंका की जाय कि राम शर्मा और मार्कंडेय ने पैशाची के स्थानीय भेद करते हुए कैकयी के साथ पैशाचिका जोड़कर कैकयी को पैशाची का ही उपभेद माना हो, तो यह तर्क कोई वजनदार नहीं। मार्कंडेय ने न केवल कैकयी को ही पैशाची से संयुक्त किया है प्रत्युत शौरसेनी को भी। अब यह बात तो सब ही जानते हैं कि शौरसेनी एक शुद्ध आर्य प्राकृत है, इसको किसी ने भी पैशाची के साथ संयुक्त नहीं किया, और न ही इसपर पैशाची का कोई प्रभाव ही माना है परंतु फिर भी मार्कंडेय ने पैशाची का उपभेद शौरसेनी पैशाचिका अंकित किया है। जैसे आर्य प्राकृत शौरसेनी को पैशाची के साथ घसीटकर जोड़ दिया है, उस तरह कैकयी को भी पैशाची के साथ जोड़ देना कोई बड़ी बात नहीं। इन लेखकों का भाव इससे यह हो सकता है कि शौरसेनी आदि पर समीपता के कारण पैशाची का कुछ प्रभाव पड़ा होगा जो 'कैकयी' पर भी संभव है।

इस 'कैकयी' के आर्यभाषा और उत्तम भाषा होने के बारे में कोई संदेह नहीं रह जाता जब हम देखते हैं कि 'कैकयी' प्रदेश के किसी उच्च परिवार की सुपुत्री के साथ कोशल जनपद के राजा दशरथ ने अपना विवाह करना स्वीकार किया था। रामायण में दशरथ की पत्नी और भरत की माता 'कैकेयी' का नाम प्रसिद्ध है। यह 'कैकेयी' नाम इसी कैकय प्रदेश में उत्पन्न होने का प्रमाण है जैसे 'द्रुपद' की पुत्री 'द्रौपदी' और जनक की पुत्री 'जानकी'। इससे यह भी संकेत मिलता है कि कैकय देश और उसकी प्राकृत 'कैकयी', रामायण के समय ज्ञात थी क्योंकि इसका वर्णन रामायण में बाल्मीकि ने किया है। रामायण का रचनाकाल डा० विंटरनित्ज़ के अनुसार तीसरी चौथी सदी ई०पू० है, जब 'पालि' से अन्य प्राकृतें निकल रही थीं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तो फिर इसका भाव यह है कि पंजाबी की जननी कैकयी प्राकृत तीसरी दूसरी सदी ई० पू० में अपनी पृथक्ता के कारण विकसित हो रही थी। ईस्वी पूर्व तीसरी चौथी सदी में 'कैकयी' नाम के प्रचलित होने की सूचना पाणिनि की अष्टाध्यायी के एक सूत्र [७-३-२] में होती है जहाँ यही नाम आता है। पाणिनि का काल निस्संदेह ई०पू० चौथी पाँचवीं सदी माना जाता है। अतः यह प्राकृत शौरसेनी की तरह पुरानी सिद्ध होती है, परंतु इतनी प्रसिद्ध नहीं। यह शौरसेनी की एक ग्रामीण बहन कही जा सकती है परंतु जिसका संबंध शौरसेनी की तरह 'पालि' के साथ ही है और सीधे रूप में कैकयी के विकसित होने का मत इन भाषाई तत्वों से ही पुष्ट होता है कि कैकयीवाला 'त' पालि में भी 'त' ही है।

पंजाबी	पालि	शौरसेनी	महाराष्ट्री
कीता	कत	कद, कड	अक

पालि के साथ सीधे संबंध की पुष्टि कुछ इस बात से भी होती है, यदि डा० सुनीतिकुमार चटर्जी के अनुसार पालि का विकासस्थान मध्यप्रदेश मान लिया जाय और दूसरी ओर तक्षशिला की प्रसिद्धता मानी जाय तो पालि की समीपता में कोई संदेह नहीं रह जाता।

इससे यह बात सिद्ध होती है कि कैकयी दूसरी प्राकृतों की भाँति सीधे ही पालि से आ गई है, शौरसेनी या अन्य समकालीन भाषाओं से नहीं। यह तो ठीक है कि बहुत देर तक सातवीं, आठवीं शताब्दी ए० डी० तक इसे कोई विशेष प्रमुखता नहीं मिली।

कैकयी जैसे जैसे बढ़ती गई तैसे तैसे इसका नाम और रूप भी परिवर्तित होता गया। हो सकता है, जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है कि बाद में इसका नाम टक्क अपभ्रंश ही पड़ गया हो या प्राकृत से अपभ्रंश रूप में परिवर्तित होते समय इसको 'टक्क अपभ्रंश' भी और 'कैकयी अपभ्रंश' भी कहा जाता हो। यहाँ यह भी संभव है कि कैकयी की अपभ्रंश रूपरेखा को 'उपनागर' अपभ्रंश का नाम दिया गया हो क्योंकि उपनागर, नागर और व्राचड़ अपभ्रंश के मेलवाली एक अपभ्रंश की शाखा बताई जाती है। नागर (गुजरात, मध्यदेश, राजस्थान) और व्राचड़ (सिंधु) के मध्य और समीप पंजाब ही पड़ता है जहाँ 'उपनागर अपभ्रंश' नाम वाली बोली वैयाकरणों ने कल्पित कर ली होगी।

यहाँपर यह संदेह भी किया जा सकता है कि पंजाब में आभीरी, गुर्जरी भाषाओं का प्रफुल्लित एवं समृद्ध होना भी काफी प्राचीन समय से बताया जाता है। यहाँतक कि कई विद्वान् आभीरी को अपभ्रंश का मूल और पहला रूप मानते हैं जिसने सारे उत्तरी भारत में विजय प्राप्त कर ली थी। यह संदेह ठीक है परंतु

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह आभीर और गुर्जर पंजाब के आदि निवासी नहीं थे, सप्तसिंधु की धरती पर तो केवल उच्चवंशीय आर्य ही राज्य करते थे, निम्न जातियों का मिलन तो बाद में ही होता है। आभीर और गुर्जर (आहीर और गुज्जर–पंजाबी रूप) विदेशी थे और शायद दरद (पैशाच) जाति के वंशज थे। इसके विषय में डा० कीथ[27] का कथन मानने योग्य है कि आभीर जाति, मालूम होता है, १५० बी० सी० में भारत में प्रविष्ट हुई। इसका कथन पतंजलि ने भी किया है। इनके पड़ोसी गुर्जर थे। ये दोनों जातियाँ दक्षिण, बिहार, उत्तरप्रदेश तक फैल गईं और राज्य करने लगीं। दोनों गुर्जर और आभीर जातियों का संबंध, शायद, भारतीय 'दरदीय' जाति से है। इससे सिद्ध होता है आभीरी तथा गुर्जरी पंजाब के सीमाप्रांत में बोली जाती थीं। परंतु विदेशी भाषाएँ होने के कारण पंजाबी भाषा के प्रारंभिक और मौलिक तत्वों को प्रभावित नहीं कर सकीं, चाहे इनका प्रभाव पंजाब की भाषा पर बहुत ही गंभीर हुआ होगा। न केवल पंजाबी पर, पुरानी पंजाबी, प्राकृत पर आभीरों और गुर्जरों ने प्रभाव डाला अपितु कुशानों, हूणों, सिथीअन और शकों ने भी अपनी अपनी भाषाओं का प्रभाव डाला, जो बाद में अन्य भी विदेशी जातियों के साथ बढ़ता ही गया। परंतु इन सब भाषाओं का प्रभाव शब्दावली और ध्वनियों तक ही सीमित रहा, व्याकरण पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा प्रतीत होता, जैसा कि यह नियम सर्वत्र लागू है।

यहाँ एक अन्य प्रश्न भी उठ सकता है कि पंजाबी को 'कैकयी' प्राकृत के साथ ही अधिकतर क्यों जोड़ा जाता है, 'टक्की' या 'टाकी' के साथ क्यों नहीं, जो पूर्वी पंजाबी की बोली बताई जाती है? इसका उत्तर यही दिया जा सकता है कि पहले तो किसी विद्वान् ने पंजाबी की उपज टक्की से बताई ही नहीं है। दूसरी बात यह है कि टक्की मध्यदेशीय शौरसेनी के बहुत समीप थी जिसके कारण उसके उतने स्वतंत्र विकास की संभावना नहीं हो सकती जितनी कैकयी की हो सकती है, जो शौरसेनी से काफी दूर थी। इसके अतिरिक्त कैकयी का कथन पुराने ग्रंथों में भी आता है जैसा कि हम ऊपर बता आए हैं। एक और अन्य बात भी इस मत की पुष्टि के लिये यह है कि पंजाबी का असली निखार जो पुराने से पुराने समय में मिलता है, वह पंजाब के पश्चिम की भाषा में ही अधिक है। झनाँ (एक नदी विशेष) और

२७. १—कीथ, : हिस्टरी आव् संस्कृत लिटरेचर।
२—'अपभ्रंश और आभीर जाति' देखिए : हिंदी भाषा का उद्गम और विकास, पृ० १२७ (द्वितीय संस्करण, सं० २०१८ वि०), डा० उदयनारायण तिवारी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रावी से जैसे जैसे पूर्व की ओर आएँ पंजाबी की पंजाबियत कुछ कम होती जाती है। इसलिये इन आधारों को मुख्य रखते हुए यही ठीक प्रतीत होता है कि पंजाबी की जन्मदातृ 'कैकयी' ही है; जिसका विस्तार सारे आधुनिक पंजाब के क्षेत्र में होगा और जिसपर शौरसेनी का प्रभाव पड़ता होगा तथा जिसके अपभ्रंश रूप को कैकयी अपभ्रंश, टक्की अपभ्रंश या उपनागर अपभ्रंश कहा जाता होगा।

इस प्रसंग में एक और भी संकेत होता दिखाई देता है कि पंजाबी का स्वतंत्र मूल आज के पश्चिमी पंजाब की भूमि में ही दृढ़तापूर्वक स्थिर है—इसके संबंध में हम अभी संकेत कर आए हैं। इस संकेत की पुष्टि हमें दो तीन विचारों से भली-भाँति मिलती है। सबसे पहले, हमारे पंजाबी की उत्पत्ति संबंधी निर्णय के अनुसार पंजाबी की जन्मदातृ वह कैकयी प्राकृत है जिसका प्रचार और प्रसार अधिकतर आधुनिक पश्चिमी पंजाब के भाग में ही होता है। इससे तो यह स्पष्ट हो ही जाता है कि पंजाबी की जन्मभूमि लहंदा पंजाब है। इसके अतिरिक्त दूसरी बात जो इस संकेत को पुष्ट करती है, वह ऐतिहासिक प्रमाण है। कुछ ऐतिहासिक पक्ष से हम देखते हैं कि फरीदजी (ग्यारहवीं बारहवीं शताब्दीवाले) लहंदा पंजाबी के कवि हैं। कई विद्वानों के अनुसार फरीद पंजाबी भाषा और पंजाबी साहित्य के प्राचीनतम अग्रणी और उच्चतम देशी कवि हैं। जब हम इनकी भाषा देखते हैं तो इसमें उस समय की पंजाबी भाषा के विशेष लक्षण विकसित हुए मिलते हैं जिनके आधार पर पंजाबी को अब पंजाबी कहा जाता है। क्रियाओं में (अंत में) 'द' की सत्ता, दा, दी, दे को 'थो', आदि परसर्गों के वियोगात्मक प्रयोग आदि कई ऐसे भाषाई अंश हैं जो अपने भरपूर रूप में उस समय (फरीद के समय) की पश्चिमी पंजाबी में मिलते हैं। फरीद के पश्चात् जो भी और इस पश्चिमी भाग की पंजाबी के लेखक हुए हैं उनकी भाषा में अधिकतर पंजाबीपन है अधिक ठेठता है, और अधिक निजत्व है। उदाहरण के रूप में भी पश्चिमी कवि शाह हुसैन की भाषा में (१४वीं १५वीं शताब्दी) जो पंजाबी की ठेठता है वह उसके समकालीन गुरू साहिबान की भाषा में नहीं है जो पूर्वी पंजाब के अधिकतर निवासी थे। चाहे इसका कारण कोई भी हो पर सत्य यही है। इस मत के पक्ष में एक बात और भी आती है कि दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी में सूफी मुसलमानों ने पंजाब में आकर अपने मत का जब प्रचार करना चाहा था और साधारण लोगों के साथ संपर्क स्थापित करना आरंभ किया था तब उन्होंने पंजाब के उस प्रदेश की भाषा को ही अपने विचारों का माध्यम चुना होगा जो सारे पंजाब की प्रतिनिधि भाषा हो, जो एक प्रकार से उस समय की केंद्रीय भाषा हो और जो व्रज भाषा से पृथक् स्वतंत्र रूप में विकसित हो रही हो। यह भाषा लहंदा पंजाबी ही थी जिसको उन्होंने इस योग्य समझा और अपनाया। इन संक्षिप्त विचारों से यही सिद्ध होता है कि पंजाबी का उद्भव वास्तव में पश्चिमी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पंजाब की धरती पर ही होता है जहाँ इसने अपनी शौरसेनी प्रदेश के छोरों तक स्थापित कर ली। इस विवेचन से निम्न निष्कर्ष निकलते हैं कि—

१—पूर्वी पंजाबी और पश्चिमी पंजाबी दोनों एक ही भाषा की उपभाषाएँ हैं।

२—पंजाबी की उत्पत्ति पैशाची से बिल्कुल ही सिद्ध नहीं होती।

३—पंजाबी की उत्पत्ति केवल शौरसेनी से भी संभव नहीं।

४—पंजाबी केवल अहीरों, गखड़ों, गुर्जरों की भाषा नहीं है। हाँ, पंजाबी पर अहीरों, गुर्जरों, पिशाचों की और ईरानी भाषाओं का प्रभाव अवश्य है।

५—पंजाबी की उपज वाल्हिकी से भी नहीं होती।

६—पंजाबी सहसा वैदिक संस्कृत से भी विकसित नहीं हुई है।

७—पंजाबी की उत्पत्ति 'कैकयी' प्राकृत से ही संभव है जिसकी उपप्राकृतें टक्की, पांचाली आदि थीं।

८—आधुनिक पंजाबी का उदय अधिकतर पश्चिमी पंजाब की ओर से ही होता है।

❀

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समीक्षा

मानपुरी पदावली--सं० रामचंद्र चिंतामणि ढेरे, प्रा० अशोक प्रभाकर कामत, प्रकाशक--ह० ल० निपुणगे, पुष्पक प्रकाशन, ४१३ ब, शनिवार पेठ, पूना २, मूल्य ३.०० रु० ।

इस पुस्तक के विद्वान् संपादकद्वय ने निवेदन में ही 'मानपुरी-पदावली' को अश्रुतपूर्व कहा है। यह शोधकार्य है। मानपुरी की हिंदी में लिखित पदावली अभी तक ज्ञात और प्रकाशित नहीं थी। डा० विनयमोहन शर्मा ने 'हिंदी को मराठी संतों की देन' नामक प्रसिद्ध शोधप्रबंध में मानपुरी का न तो नाम लिया है और न उनकी रचनाओं की ओर ही कोई संकेत किया है। हिंदी में मराठी संतों पर किए गए अन्य शोधकार्यों में भी मानपुरी संबंधी आवश्यक सूचनाएँ नहीं मिलतीं। इस प्रकार इस पुस्तक में प्रदत्त मानपुरी परिचय संबंधी सामग्री और संपादित पदावली का महत्व स्वतः सिद्ध है। भूमिका में संपादकों ने बताया है कि मानपुरी बाबा कन्नौज (उ० प्र०) की देन हैं। इनका पूर्व संप्रदाय दसनामी था। इनकी मातृभाषा हिंदी थी। अतः मराठी संत कवियों से इनकी एक प्रकार की भिन्नता स्पष्ट है। मानपुरी की मराठी रचनाएँ भी उपलब्ध हैं। मानपुरी का अधिकांश जीवन महाराष्ट्र में बीता और वही उनका साधनाक्षेत्र भी रहा। इनका जीवनकाल १६३० ई० से १७३० ई० तक (१०० वर्ष) माना गया है। वस्तुतः यह महाराज शिवाजी, समर्थ गुरु रामदास, कवि भूषण और बुंदेली संतकवि निपट निरंजन का काल है। संपादकों ने इस संत कवि की दीक्षापरंपरा का विचारकर यह निष्कर्ष निकाला है कि ज्ञानेश्वर की नाथसंप्रदायगत शिष्यपरंपरा में प्रसिद्ध दीनानाथ ही मानपुरी के गुरु रहे होंगे। स्वयं मानपुरी की शिष्यपरंपरा बीसवीं सदी तक जीवित रही है। मानपुरी ने अपनी रचनाओं में संत श्री ज्ञानेश्वर और मराठी भक्त कवि एकनाथ के गुरु श्री जनार्दन स्वामी के प्रति समानभाव से श्रद्धाभिव्यक्ति की है। इनके पदों में पीपा, नामदेव, कबीरदास, मीराबाई, धना, रैदास, सेना, सदन कसाई आदि का भी आदरपूर्वक स्मरण है। इनके संप्रदाय में बहुत से संतकवि हुए जिनका विवरण संपादकों ने अपनी भूमिका में दिया है। प्रसिद्ध देवगिरि या दौलताबाद ही इनके संप्रदाय का प्रमुख केंद्र है।

मानपुरी की रचनाओं का जहाँ तक प्रश्न है, इनकी रचनाएँ कुछ अन्य संत कवियों, जैसे निपट निरंजन के नाम से भी चल पडी हैं। संपादकों ने बताया है कि मानपुरी की पदावली में संगीतात्मकता प्रमुख है। इस पुस्तक में मानपुरी का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जीवनचरित, साधनसंप्रदाय आदि को इतने विस्तृत रूप में रखने का श्रेय तो इन संपादकों को मिला ही है साथ ही इनकी हिंदी पदावली के उद्धार और अनुसंधान का भी श्रेय इन संपादकों को ही मिला है। पुस्तक में प्रकाशित पद भारत इतिहास संशोधक मंडल (पूना), महाराष्ट्र संशोधन मंदिर (पूना), गोपालनाथ मठ (त्रिपुटी, जि० सतारा), समर्थ वाग्देवता मंदिर (धूलिया) तथा राजवाडे संशोधन मंदिर के हस्तलेखों से संग्रहीत किए गए हैं। इसके अतिरिक्त मौखिक परंपरा से भी पदों का संग्रह किया गया है। पाठनिर्णय करने में संपादकों को कठिनाइयाँ इसलिये अधिक उठानी पड़ीं कि उन्हें आवश्यक हस्तलेख पर्याप्त संख्या में नहीं मिल सके। दूसरे, उनको मिले हस्तलेख भी मराठी लेखकों के थे। प्रकाशित एवं संपादित पदवंदना, गुरुमहिमा, परमासक्ति, परमानंद, कृष्णलीला, उपदेश, और चिंतन के शीर्षकों में विभाजित करके रखे गए हैं। किंतु एक बात खटकनेवाली यह है कि इसमें हस्तलेखों के परिचय और पाठभेदों का अभाव है।

संपादकों के अनुसार मानपुरी पदावली की भाषा प्रधानरूप से ब्रजभाषा है जिसपर मराठी भाषा का भी प्रभाव है। मानपुरी की भाषा ब्रजभाषा, मराठी, दक्खिनी हिंदी और खड़ी बोली का समन्वित रूप है। इस पदावली की विशेषता है गीतात्मकता, संगीतात्मकता और रहस्यात्मकता। इन पद्यों का विस्तृत विवेचन किया गया है। पुस्तक के अंत में दो महत्वपूर्ण परिशिष्ट जैसे हैं, १—मानपुरी संप्रदाय के कवियों का काव्य : नमूना-संग्रह : और २—टिप्पणियाँ। वस्तुतः मानपुरी पदावली की ये टिप्पणियाँ दो दृष्टियों से अधिक महत्वपूर्ण हैं—पारिभाषिक और मराठी शब्दों के अर्थ की दृष्टि से और तुलनात्मक अध्ययन और अध्ययनात्मक सूचनाओं की दृष्टि से। इस प्रकार संपादन, शोध और अध्ययन, तीनों ही दृष्टियों से यह पुस्तक लघु आकार की होते हुए भी अत्यधिक उपादेय और महत्वपूर्ण है। इतिहासलेखन के समय भी इसमें संपादित रचनाओं और उपलब्ध महत्वपूर्ण सूचनाओं को ध्यान में रखना हितकर होगा। इस महत्वपूर्ण शोधकार्य के लिये संपादकद्वय साधुवाद के अधिकारी हैं।

—नागेंद्रनाथ उपाध्याय

अपभ्रंश काव्य और साहित्य

ले०—डा० देवेंद्रकुमार जैन, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी–५; मूल्य १०)।

प्रस्तुत ग्रंथ में सामान्यरूपेण अपभ्रंश भाषा की चर्चा के साथ अपभ्रंश के काव्य और साहित्य की पुष्कल चर्चा ग्रंथकार ने की है। इसमें अपभ्रंश के सभी ज्ञात कवि और काव्यों के परिचय प्रामाणिक स्रोत के आधार पर दिए गए हैं। 'परिचय' प्रायेण वस्तुनिष्ठ, अतिरंजनहीन एवं स्पष्ट शब्दों पर आधृत है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

काव्य के विवरण में काव्यगत वस्तुवर्णन, काव्यों की रस सिद्धि, अलंकार और छंद की योजना और प्रकृतिचित्रण ये चार विषय व्याख्यात हुए हैं। काव्यगत समाज और संस्कृति का जो विवरण दिया गया है, वह चाहे कुछ अल्प प्रतीत हो, पर यह विवरण बहुत ही रोचक तथा विशद है। काव्यगत दार्शनिक मतों पर लेखक का संग्रह उचित ही है। यों अपभ्रंश काव्यों में दार्शनिक विशदता प्रायेण नहीं मिलती, अतः लेखक ने दार्शनिक मतों को लेकर गंभीर चर्चा नहीं की है। वस्तुतः यहाँ गंभीर चर्चा करना भी अप्रासंगिक होता।

समालोचक धर्म का अनुसरण कर हम कुछ स्थलों एवं दृष्टियों की आलोचना यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं—

'सांकेतिकी' में जो शब्दानुक्रम है, उसमें अकारादिक्रम से शब्दों को रखना चाहिए, अन्यथा अभीष्ट शब्दरूप के ज्ञान में बाधा होती है। अगले संस्करण में यह दोष दूरीकरणीय है।

पृ० १६१. विष्णुपुराण (४–५) के अनुसार……। यहाँ प्रकृत आकरनिर्देश होगा—विष्णुपुराण ४।५।१२ (जीवानंद संस्करण)। पहली संख्या से अंश, दूसरी से अध्याय और तीसरी से वाक्य समझना चाहिए।

पृ० १६६, टि० १। शब्दस्थापनक्रम की दृष्टि से वाक्य ऐसा होगा—'उपनिषद् में इन्हें अपरा और परा विद्या कहते हैं, बौद्धों में व्यवहार और परमार्थ सत्य कहते हैं और जैनों में व्यवहारनय और निश्चय की कल्पना हैं। यदि ऐसा ददक्रम न रखा जाय तो उपनिषद् के किस शब्द के लिये बौद्ध और जैन का कौन शब्द है, इसमें भ्रम होने की संभावना रहती है।

पृ० २०४, पं० ११–१२। लेखक की यह वाक्यरचना असाधु है—'इसके दो कारण हैं— १-सामंतवाद की उस युग में बहुपत्नी प्रथा थी; २–धर्म की महिमा बताने के लिये'। वाक्य यों होना चाहिए—सामंतवाद की उस युग में बहुपत्नी प्रथा का होना; २–धर्म की महिमा का ख्यापन। मैं समझता हूँ कि हिंदी का विशिष्ट लेखक कभी भी लेखकोक्ति वाक्य सदृश वाक्य का प्रयोग नहीं करेगा। यों प्रथम वाक्य बहुत दोषयुक्त नहीं है, पर द्वितीय वाक्य कथमपि रचना-रीति की दृष्टि से शुद्ध नहीं कहा जा सकता; कारण के निर्देश में 'के लिये' वाक्यांश का प्रयोग प्रयोगरीति विरुद्ध है।

पृ० २७३.—साम, दाम, दंड और भेद (पं० २८)। दाम के स्थान पर दान होगा। प्रायेण हिंदी लेखक नीतिनामों के निर्देश में 'दाम' का प्रयोग करते हैं (साम के सादृश्य के आधार पर) जो दान ही होगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पृ० २७७ टि० १। १० ब० अ० ग्रं० का तात्पर्य किस शब्द से है, यह सांकेतकी में नहीं कहा गया। पृ० २९७ में 'श्रोलेर स्टाइन' कहा गया है; प्रकृत उच्चारण 'अरेल' है।

लेखक अनेक आवश्यक स्थलों में आकरनिर्देश नहीं करते हैं, यथा पृ० २९७ में भरतमुनि के मत के निर्देश में, या पृ० ३०१ में डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी के मत के निर्देश में। ईदृश स्थलों में आकरनिर्देश न करना दोषावह है।

काव्य और साहित्य (अपभ्रंश साहित्य) से संबद्ध इस ग्रंथ में प्रायेण सभी आवश्यक विषयों का समावेश दिखाई पड़ता है। ग्रंथ के अंत में समाविष्ट प्रकीर्णक (१३ विषयों से युक्त) में अत्यावश्यक विषयों का समावेश है, इसमें संशय नहीं। विषय की व्यापकता को देखकर हम लेखक को धन्यवाद देते हैं।

रामशंकर भट्टाचार्य

हिंदी शब्दरचना

लेखक—माई दयाल जैन। प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी, मूल्य ६.००।

व्याकरण, शिक्षा और निर्वचनशास्त्र को ध्यान में रखकर प्रयोगक्षेत्र एवं शब्दनिर्माण को लक्ष्यकर प्रस्तुत ग्रंथ प्रणीत हुआ है। लेखक के विचारों की स्पष्टता सर्वत्र झलकती है तथा यह प्रतिभात होता है कि हिंदी के भविष्यत्कालिक निर्माण को लक्ष्य में रखकर लेखक ने उदार बुद्धि से यह ग्रंथ लिखा है। ग्रंथ में अपने विषय के सभी पक्ष सामान्य विशेष रूप से आलोचित हुए हैं। शब्दस्वरूप संबंधी सामान्य आलोचना के साथ सामासिक (समस्त) शब्द, व्युत्पत्तिलभ्य शब्द, संख्यावाचक शब्द, उधार लिए शब्द, विदेशी शब्द, शब्दों का अनुवाद, अर्थ-परिवर्तन, वर्णपरिवर्तन, सांकेतिक शब्द, विमिश्र शब्द, पारिभाषिक शब्द, भिन्नार्थक शब्द, संज्ञाएँ, क्रियाएँ आदि विषय इस ग्रंथ में आलोचित हुए हैं। लेखक ने व्यवहारक्षेत्र से जो शब्दसंकलन किया है, वह स्तुत्य है; हम इस प्रचेष्टा का अभिनंदन करते हैं, क्योंकि इस पद्धति से ही शब्दसंबंधी सार्थक विचार किया जा सकता है। बोली पर ग्रंथकार का आग्रह कुछ अधिक है, ऐसा प्रतीत होता है, पर बोली संबंधी उनका विचार बहुतों का आकृष्ट करेगा। बोली की शक्ति पर ग्रंथकार ने विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया है, जो आवश्यक था।

ग्रंथकार ने अनेक स्थानों पर कोशकार आदि को लक्ष्यकर जो सावधान वाणी कही है वह दर्शनीय है। विभिन्न पाश्चात्यदेशीय भाषाओं के शब्दों को हिंदी कोशकार 'अंग्रेजी भाषा के शब्द' के रूप में लिखते हैं; यह एक दोष है, जिसका दूरीकरण तत्काल ही करना है (पृ० १०५)। लेखक का यह मत अवश्य ही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वीकार्य होना चाहिए। हिंदी में सुगृहीत पाश्चात्यभाषीय शब्दों का (यथा, इंच, चेयर, गैस, ट्राम, रेल, बिलप, इंजिन आदि) अनुवाद करने की एक प्रथा आजकल दिखाई पड़ती है, जिसका विरोध लेखक ने किया है (पृ० १८६)। ईदृश शब्द भारतीय भाषाओं में मिल गए हैं, यह हम भी मानते हैं। ईदृश शब्दों का बहिष्कार न संभव ही है, न वांछनीय ही, यह मत ग्राह्य होना चाहिए। हम भी इस पक्ष को मानते हैं। विदेश के रीतिरिवाज संबंधी शब्दों के अनुवाद में जिस कठिनाई का उल्लेख किया गया है (पृ० १३५), वह सत्य ही है। ईदृश स्थलों में अनुवादक को टिप्पणी में शब्द को स्पष्ट कर देना चाहिए।

हिंदी (प्रचलित हिंदी तथा जो हिंदी आगामी काल में विकसित होगी) के विषय में लेखक के सुझावों और मतों पर विद्वानों को सोचना चाहिए। हिंदी में नामधातु के प्रयोगों पर लेखक का मत विचारोत्तेजक है। संस्कृत 'नमति' के लिये 'नमन करता है' लिखा जाता है। लेखक का आग्रह है कि 'नमता है' भी हिंदी में चलना चाहिए। उसी प्रकार 'प्रकाशता है', 'प्रकटता है', 'प्रारंभना चाहिए'; 'स्वीकारना चाहिए' (२१वाँ परिच्छेद) आदि प्रयोग भी वांछनीय है, यह ग्रंथकार कहना चाहते हैं। यदि ईदृश प्रयोग स्वीकृत हो जाएँ तो शब्दप्रयोग में लघुता होगी। युक्तितः ईदृश प्रयोगों में कोई बाधक तत्व नहीं है। मुझे ज्ञात है कि कवि माइकेल मधुसूदनदत्त ने बँगला में ईदृश प्रयोगों का प्रवर्तन किया था, पर यह रीति बढ़ी नहीं। हिंदी में यदि यह प्रवृत्ति विकसित हो तो एक अच्छी बात होगी। प्रेषणीय की भेजनीय (पृ० १६७), जी हुजूर के स्थान पर 'ना हजूर' (पृ० १६८) इलेक्ट्रीफाइ के अर्थ में बिजलियाना (पृष्ठ २४६) आदि सुझावों पर विद्वानों को विचार करना चाहिए।

हिंदी के विषय में लेखक के कुछ कथन उदाहार्य हैं—(१) हिंदीवाले जड़ पदार्थों में लिंगभेद अभ्यास से ही करते हैं (पृ० १६); (२) विसर्गों को हिंदीवालों ने उड़ा दिया है (पृ० १४६); (३) हिंदीवालों की सफलता का मापदंड यही होगा कि वे कितने संस्कृत, पाली, प्राकृत, जनपदीय तथा विदेशी शब्दों को हिंदिया कर पचा सकते हैं (पृ० १४८); (४) कापीबुक को कापी कहा जाता है, जो अंग्रेजी में अशुद्ध है, पर हिंदी में शुद्ध (पृ० १८१); (५) शायद इसी लिये हवाई जहाज के लिये वायुयान से छोटा होने पर भी विमान शब्द प्रचलित नहीं हुआ (पृ० २०१) आदि।

हिंदी की प्रकृति को ग्रंथकार ने कैसा समझा है, उपर्युक्त उदाहरणों से यह जाना जा सकता है। जहाँतक मुझे ज्ञात है मैं कह सकता हूँ कि हिंदी के अधिकांश विद्वान् लेखक से सहमत ही होंगे। डिस्पेंसरी के लिये चिकित्सालय शब्द के स्थान

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर दवाखाना-औषधालय शब्द चलना चाहिए (पृ० १७१) इत्यादि कई सुझाव उचित ही प्रतीत होते हैं।

अब हम लेखक के उन मतों पर विचार कर रहे हैं, जो हमारी दृष्टि में संगत नहीं है —

(१) संस्कृत उपसर्ग के निर्देश में 'उत्' को उपसर्ग के रूप में कहा गया है (पृ० ३०)। वस्तुतः प्रकृति शब्द 'उद्' है, 'उत्' नहीं। यह भ्रम अनेक विद्वानों में देखा जाता है। पाणिनि को उदि कूले रुजिवहोः (अष्टा ३।१।३१), उदश्चरः सकर्मकात् (१।३।५३), 'उदः स्थास्तम्भोः पूर्वस्य' (८।४।६१) आदि सूत्रों से उपसर्ग का प्रकृत रूप 'उद्' ही सिद्ध होता है, 'उत्' नहीं।

(२) बहुव्रीहि समास के उदाहरण में 'सप्तऋषि', 'हरिजन' शब्द दिए गए हैं (पृ० ६५)। संस्कृत व्याकरण के अनुसार इन दोनों में बहुव्रीहि समास नहीं है, क्योंकि बहुव्रीहि में अन्य पदार्थ प्रधान होता है, जो यहाँ नहीं है। सप्तऋषि द्विगु-समास है। हरिजन शब्द वस्तुतः गांधी जी (या अन्य किसी के द्वारा) जनसमूह-विशेष में नियमित हुआ है, अतः यह पारिभाषिक शब्द है, वाचक नहीं। अतएव 'हरि का जन' हरिजन—इस अर्थ में यहाँ तत्पुरुष समास ही होगा। बहुव्रीहि होने पर 'हरि जन है जिसका' वह (अन्य व्यक्ति), 'हरिजन' होगा। क्या यह अर्थ अभीष्ट है? क्या 'हरि' किसी का जन हो सकता है?

(३) सशर्त में स को संस्कृत व्याकरण का उपसर्ग माना गया है (पृ० १२६)। वस्तुतः 'स' 'सह' के स्थान पर आया है। शर्त के साथ = सहशर्त = सशर्त। यह उपसर्ग नही है। उसी प्रकार अलिन्द में 'अ' को जो उपसर्ग माना गया है (पृ० १२६), वह भी असंगत है।

(४) असुर शब्द देवतावाचक है (पृ० १३१) यह कथन भी अंशतः सदोष है। प्राचीन वैदिक वाङ्मय में असुर का अर्थ था 'असु है जिसका' (असु+र प्रत्यय)। असु का अर्थ है – प्राण, सत्व, बल आदि। (असुर शब्द वरुण आदि देवों के विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है)। इस दृष्टि से 'असुराः अदेवाः' (ऋग्वेद ८।८५।६) में अदेव के साथ असुर का प्रयोग दृष्ट होता है, जिसका अर्थ है—'वे महासत्वशाली जो देव नहीं हैं।'

(५) हिंदी में 'समासयुक्त' के लिये सामासिक शब्द का प्रयोग ग्रंथकार ने किया है (पृ० ७३)। 'सामासिक' शब्द आजकल खूब चल भी रहा है, पर संस्कृत के ग्रंथों में इस अर्थ में 'समस्त' शब्द ही चलता है। क्या समस्त शब्द (जिन शब्दों में समास हुआ है, उनको समस्त शब्द कहा जाता है) का प्रयोग हिंदी के वैयाकरण नहीं करना चाहते?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(६) अंग्रेजी बंब का हिंदी में बम रह गया है (पृ० १४१), यह कहकर लेखक यह दिखाना चाहते हैं कि यहाँ शब्दांश का लोप हुआ है। पर सच तो यह है कि बंब का उच्चारण बम ही होता है, बंब नहीं। (अंत्य ब का उच्चारण नहीं होता) यह किसी भी कोश से जाना जा सकता है। क्यों न ऐसा समझा जाय कि अंग्रेजी के उच्चारण के अनुसार ही 'बम' शब्द हिंदी आदि में प्रयुक्त होता है।

(७) ग्रंथकार ने अननुवाद्य (जो अनुवाद योग्य नहीं है) के लिये 'अनअनुवाद योग्य' (पृ० १३१) शब्द का प्रयोग किया है। हम इसकी युक्तता को जान नहीं सके। शुद्ध संस्कृत शब्द के साथ व्यर्थ ही यह वैचित्र्य एक खिलवाड़ मालूम पड़ता है। 'अन अनुवाद योग्य' की क्या कोई आवश्यकता है या भाषा प्रकृति के अनुसार यह वांछनीय है ? इसी प्रकार 'दुअर्थक' प्रयोग (पृ० २८३) भी चिंत्य है; जब 'अर्थ' शब्द एवं 'क' प्रत्यय संस्कृत से आप लेते हैं, तो 'द्वि' ही रखें, 'द्वि' के स्थान पर 'दु' न करें।

(८) लेखक कहते हैं कि बौद्ध या बुद्ध शब्द से हिंदी का 'बुद्धू' शब्द बना (पृ० १६३)। यह मूर्खवाची है, यह भी लेखक कहते हैं। लेखक ने इसको भाषावैज्ञानिक पद्धति से सिद्ध नहीं किया, केवल मतमात्र कहा है। हमें इस मत की युक्तता में संदेह है।

अब हम लेखक के कुछ भ्रांत निर्देशों का उल्लेख कर रहे हैं। पृ० १५६ में 'डा० कपिलदेव मालवीय' नाम लिया गया है; मालवीय के स्थान पर 'द्विवेदी' होगा। पृ० १६० में 'तद्धित और कृदंत के प्रकरण में' कहा गया है; कृदंत के स्थान पर कृत् होगा। हिंदी के अनेक यशस्वी ग्रंथकार भी ऐसी गलती करते ही रहते हैं। हिंदी व्याकरणों में 'कृदंती प्रत्यय' शब्द मैंने देखा है। पता नहीं कब हिंदीवाले संस्कृत व्याकरण को ठीक से पढ़कर हिंदी का व्याकरण लिखेंगे। पृ० २५७ में राघव को गोत्र नाम कहा गया है; राघव रघु से बना है। रघु कोई गोत्र नहीं है (गोत्रप्रवर सूची में रघु नाम नहीं है)। पृ० २५७ में कहा गया है कि पतंजलि का नाम 'गोदीर्थ' था। यह गोनर्दीय होगा। महाभाष्य के कई स्थलों में गोनर्दीय नामक आचार्य स्मृत हुए हैं (१।१।२१; १।१।२९; ३।१।९२; ७।२।१०१)। गोनर्दीय = पतंजलि ऐसा पूर्वाचार्य कहते हैं (प्रदीप १।१।२१)। आधुनिक विद्वानों ने इस मत पर संशय व्यक्त किया है। जो कुछ भी हो, 'गोदीर्थ' पाठ भ्रष्ट ही है। पृ० २५८ में वंशों की अल्ल के उदाहरण में लेखक ने 'टैगोर' शब्द (रवींद्रनाथ टैगोर) का उल्लेख किया है। एक भारतीय के जातिनाम की ईदृश विकृति क्षंतव्य नहीं है; प्रकृत शब्द 'ठाकुर' है, 'टैगोर' नहीं। हिंदीवाले यदि टैगोर शब्द का प्रयोग बंद कर दें तो अच्छी बात होगी। पृ० २५८ में 'एक ऋषि का नाम

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यर्वाणस्तर्वाणः' था कहा गया है। महाभाष्य का संदर्भ है—यर्वाणस्तर्वाणो नाम ऋषयो बभूवुः, (पस्पशा)। यहाँ जस् विभक्ति हुई है, यह व्याख्याकार कहते हैं, अतः 'अनेक ऋषियों का नाम' कहना चाहिए। यह संभावना है कि इस ऋषि समुदाय का प्रत्येक व्यक्ति भी इसी शब्द से अभिहित होता था (डा० क्षितीशचंद्र चट्टोपाध्याय ने इस मत को कहा है (द्रष्टव्य तत्संपादित पस्पशाह्निक की टिप्पणी), पर तब भी 'यर्वाणस्तर्वाणः' शब्द बहुवचनांत ही होगा। पृ० २५६ में 'पारिभाषिक संज्ञाएँ जो पारिभाषिक शब्दों को बताने के लिये बनाई जाती हैं', वाक्य है। यहाँ 'पारिभाषिक अर्थों को बताने के लिये...' कहना चाहिए। पृ० १ में वाक्यपदीय १।१२५ का जो श्लोक उद्धृत हुआ है, उसमें 'चोपबंधिनी' छपा है, जो 'चोपबन्धनी' होगा, जो इस ग्रंथ को विभिन्न संस्करणों को देखने से ही ज्ञात होगा।

अंत में हम लेखक से कहना चाहते हैं कि बोली की महिमा से हम सब परिचित हैं। पर सर्वभारतव्यापी शब्दैक्य एवं सूक्ष्म तत्त्व संबंधी चिंतनों का प्रकटन—इन दोनों क्षेत्रों में संस्कृत शब्दों की महत्ता और आवश्यकता को अपलापित नहीं किया जा सकता। बोलचाल की भाषा में 'तिकोन' चल सकता है (पृ० २५२), पर ज्यामिति आदि में त्रिकोण को ही चलाना होगा। शिक्षणीय विषय कष्टसाध्य होते ही हैं। अतएव यदि उपर्युक्त दो उद्देश्यों की पूर्ति के लिये अनेक संस्कृत शब्द उचित रूप से निर्मित हो तो उनको जानने के लिये सभी को कष्ट करना ही होगा। हिंदीवालों के परस्पर व्यवहार में 'बिचौलिया' (लेखकसंमत शब्द) शब्द भले ही चल जाए, पूर्ण भारत में शिक्षणीय शब्द तो 'मध्यस्थ' ही रहेगा। आदर्श की व्याप्ति और सूक्ष्मता को ध्यान में रखकर बोलीप्रेमियों को यह कष्ट स्वीकार कर लेना चाहिए।

रामशंकर भट्टाचार्य

जीवन के कुछ क्षणों में,—लेखक—श्री तनसुख राम गुप्त; प्रकाशक-सूर्य प्रकाशन, नई सड़क, दिल्ली–६; पृष्ठ संख्या—७२+८; मूल्य—२.०० रुपए।

एक साधारण घटना जिसके घटित होने में कुछ क्षण ही लगते हैं, मानव जीवन में महत्वपूर्ण स्थान रखती है। जिस व्यक्ति या व्यक्तियों का उस घटना से संबंध होता है, उनके लिये वह घटना कुछ मूल्य नहीं रखती, पर विचारशील जनों के लिये उस घटना का समाज और जीवनव्यापी मूल्य होता है। उसके आधार पर सामाजिक कुरीतियाँ, मानव की कमजोरियाँ और उसके उदात्त भाव, कथनी करनी का अंतर आदि स्पष्ट होते हैं। वे क्षणिक घटनाएँ मानव मन पर अपनी एक अमिट छाप छोड़कर चली जाती हैं और एक ऐसी शिक्षा दे जाती हैं जिससे वर्तमान

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जनजीवन को सुखद बनाया जा सकता है। ऐसी ही एक साधारण घटना से प्रेरित होकर 'जीवन के कुछ क्षणों में' की रचना हुई है। इसमें जीवन में घटित अथवा देखी हुई ३५ घटनाओं का चित्रण है। इन संस्मरणों के अंत में लेखक ने उन उन घटनाओं से प्राप्त होनेवाले उपदेश को भी स्वतंत्र रूप से दे दिया है। इससे प्रत्येक घटनाओं के साथ उपदेश या उससे मिलनेवाली शिक्षा का लाभ जनसाधारण भी उठा सकते हैं। लेखक ने समाज को जिस दृष्टि से देखा समझा है, वह दृष्टिकोण समाज को, प्रत्येक व्यक्ति को, अनुशासनप्रियता, स्वतंत्रता, उच्च विचार, दया, करुणा आदि से, और भी दृढ़ एवं ऊँचा बनाता है। पुस्तक की भाषा संयत, सरल और शुद्ध है। कहीं करुणा, कही व्यंग्य विनोद, कहीं हास्य, आदि होते हुए भी इसकी सत्यता और उपदेशात्मकता सर्वोपरि है। पुस्तक प्रत्येक दृष्टि से महत्वपूर्ण और उपयोगी है।

—जगदीश शर्मा

हिंदी के आदि मुद्रित ग्रंथ—लेखक—कृष्णाचार्य, प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी, प्राप्तिस्थान—नेताजी सुभाष मार्ग, दिल्ली–६, पृ० सं० २४१; मूल्य ७.०० रुपया।

प्रस्तुत ग्रंथ हिंदी में इस विषय पर प्रकाशित प्रथम कृति है जिसमें ई० १८०१ से ई० १८७० तक की अवधि में मुद्रित हिंदी के ग्रंथों का विवरण वैज्ञानिक दृष्टि से क्रमबद्ध है। विशेषतः हिंदी ग्रंथों के मुद्रण की दृष्टि से यह काल प्रारंभिक रहा है और इस अवधि में लल्लूजी लाल से लेकर राजा शिवप्रसाद सितारेहिंद तक का समय आ जाता है। हिंदी के विकास की दृष्टि से भी यह काल महत्वपूर्ण है अतः हिंदी साहित्य के चिंतकों, मनीषियों एवं अनुसंधानार्थियों के लिये इसकी उपयोगिता निर्विवाद है। हिंदी साहित्य भांडार के लिये यह विवरण एक दुर्लभ उपलब्धि है।

ग्रंथ का क्रमविभाजन निम्नांकित रूप से किया गया है। प्रारंभ प्रास्ताविकी से है जो हिंदी मुद्रणकला का इतिहास है। प्रथम खंड के तीन अंश लल्लू जी युग, मिशन युग और शिवप्रसाद युग के नाम से हैं और तदनंतर पत्रिका साहित्य का विवरण है। द्वितीय खंड में अंग्रेजी के अतिरिक्त अन्य यूरोपीय भाषाओं में हुए कार्य और अंग्रेजी माध्यम के द्विभाषिक, त्रिभाषिक कोश ग्रंथों का विवरण है। अंतिम भाग में परिशिष्ट, ग्रंथ एवं ग्रंथकारानुक्रमणी तथा हिंदी मुद्रण के प्रारंभिक १२ चित्र हैं।

ग्रंथ के प्रास्ताविकी भाग में लेखक ने हिंदी मुद्रणकला का परिचय और उसका क्रमिक इतिहास दिया है। इसमें भारत में मुद्रणकला का प्रवेश और आरंभ, नागरी टाइपों का आविष्कार एवं विकास, तत्कालीन मुद्रणालय और मुद्रणालय संबंधी तत्कालीन राजकीय नियम आदि आ जाते हैं। हिंदी मुद्रण के इस काल का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विभाजन भी क्रमशः लल्लू जी युग, मिशनरी युग और शिवप्रसाद युग के नाम से किया गया है। यह अंश ग्रंथ का अविच्छेद्य अंग है। इससे अनेक ज्ञातव्य सूचनाएँ प्राप्त होती हैं; जैसे,—हिंदी की पहिली पुस्तकें सन् १८०२ में कलकत्ता में छपीं। प्रकाशित उन प्रथम पाँच पुस्तकों में से एक ही पुस्तक अपने देश में प्राप्त है, अन्य नहीं। खड़ी बोली का प्रथम प्रयोग लल्लू जी लाल कृत प्रेमसागर में हुआ; नागरी और बंगला टाइपों का प्रथम निर्माण श्री पंचानन कर्मकार ने किया और सर्वप्रथम १८०५ ई० में मिर्जापुर के रहनेवाले बाबूराम नामक सज्जन ने हिंदी का मुद्रणालय खोला, इत्यादि।

हिंदी के आदि मुद्रित ग्रंथों में श्रीरामपुर प्रेस से मुद्रित बाइबिल के हिंदी अनुवादों का भी प्रमुख स्थान है। लेखक ने इसपर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि सन् १७५४-५८ के मध्य शुल्ज ने हाले से बाइबिल का अनुवाद छपाया और बाद में १८०५ में बाइबिल का हिंदुस्तानी अनुवाद छपा जिसकी भाषा फारसी से बोझिल उर्दू थी। इस अनुवाद के संबंध में विलियम केरी ने जो लिखा वह ध्यान देने योग्य है। हिंदुस्तान की किस बोली को हिंदुई या हिंदी कहा जाता है यह बात उनके कथन से सुस्पष्ट होती है। विलियम केरी का उक्त कथन इस प्रकार है—हम हिंदुस्तान की उस बोली को हिंदुई या हिंदी समझते हैं, जो मुख्यतः संस्कृत से बनी है और जो मुसलमानों के आने से पूर्व संपूर्ण हिंदुस्तान में बोली जाती थी। अब भी यह बहुत व्यापक क्षेत्र में बोली जाती है विशेषकर जनसाधारण के मध्य।

हिंदी के आदि मुद्रित ग्रंथों के विवरण के साथ हिंदी मुद्रण के प्रारंभिक काल पर भी प्रामाणिक विवरण उपस्थित करनेवाले प्रस्तुत ग्रंथ के अंत में परिशिष्ट अंश क्रमशः अंग्रेजी और हिंदी में है जिसमें सन् १८२७ में मुद्रित हिंदी एंड हिंदुस्तानी सेलेक्शन पर विलियम प्राइस का इंट्रोडक्शन और जे० टी० थॉम्पसन के 'ए डिक्शनरी इन हिंदी एंड इंगलिश' का प्रीफेस मुद्रित है। लल्लू जी लाल तथा शिवप्रसाद सितारेहिंद के संबंध में भी एक शोधपूर्ण लेख दिया गया है और अनुक्रमणी तथा प्रारंभिक हिंदी मुद्रण के परिचायक १२ चित्र भी दिए गए हैं जो दुर्लभ हैं। ऐसे महत्वपूर्ण ग्रंथ के लेखक और साथ ही प्रकाशक दोनों धन्यवादार्ह हैं।

—विश्वनाथ त्रिपाठी

हिंदी नाट्य साहित्य : ग्रंथपुटी—लेखक-कृष्णाचार्य, प्रकाशक-अनामिका प्रकाशन; १२६ चितरंजन एवेन्यू, कलकत्ता; पृ० ३६८; मूल्य-२०.०० रुपए।

प्रस्तुत ग्रंथ हिंदी के नाट्यसाहित्य का पूर्ण विवरण उपस्थित करता है और हिंदी के संदर्भग्रंथों में महत्वपूर्ण है। लगभग एक शताब्दी, १८६३ ई० से १९६५ ई० तक के नाट्यसाहित्य का विवरण क्रमबद्ध एवं वर्गीकृत रूप में ग्रंथ में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समाविष्ट है। पूर्णकालिक नाटक, एकांकी, अनुवाद-भारतीय भाषाओं से तथा यूरोपीय देशों से, और इतिहास एवम् आलोचना तथा शास्त्र वर्गों में हिंदी नाट्यसाहित्य से संबद्ध सभी विषय के ग्रंथ आ जाते हैं। पूर्णकालिक एवं एकांकी नाटकों के कुल १११४ लेखकों द्वारा लिखित २५०० के लगभग नाटकों एवम् एकांकी नाटकों का विवरण इसमें आकलित है। इसके अतिरिक्त अनुवाद, इतिहास, आलोचना और शास्त्र के ग्रंथ भी हैं। अंत में अनुक्रमणिका है अक्षरानुक्रमित। कालानुक्रमित अनुक्रमणिका होने से विषय की ऐतिह्य परंपरा और विकासक्रम अपेक्षाकृत सुस्पष्ट होता है। हिंदी के आदिमुद्रित ग्रंथ जैसी महत्वपूर्ण कृति के अनंतर राष्ट्रीय संग्रहालय हिंदी विभाग के पुस्तकाध्यक्ष कृष्णाचार्य की यह दूसरी कृति है। कलकत्ते की प्रमुख नाट्यसंस्था 'अनामिका' द्वारा इसका प्रकाशन सरकारी सहायता के माध्यम से हुआ है। पुस्तक का मुद्रण और कागज उत्कृष्ट है तथा मुखावरण विषय संबद्ध है। प्रस्तुत ग्रंथ हिंदीसाहित्य के अध्येताओं, विशेषत: नाट्यसाहित्य के अध्येताओं, चिंतकों एवम् शोधकों के लिये नितांत ही उपयोगी है।

—जगदीश शर्मा

डंगवै कथा तथा चक्रव्यूह कथा (भीम कवि) —संपादक—डा० शिवगोपाल मिश्र; प्रकाशक–हिंदी साहित्य समेलन, प्रयाग; पृ० सं० २७०; मूल्य ६.२५ रुपए।

भीम कवि की इन कृतियों का यह प्रकाशन हिंदी के लिये प्रथम है। पंद्रहवीं शती के अंतिम चरण का यह कवि और इसकी रचनाएँ अज्ञात रही हैं। कवि की इन दोनों कृतियों का आधार महाभारत के आख्यान हैं, जिनमें रोचकता और सरसता अवधी के माध्यम से व्यक्त की गई है। डंगवै कथा में उर्वशी का दुर्वासा के शाप से घोड़ी होने का और इसी क्रम में घोड़ी और उसके आश्रयदाता दंगी की रक्षा के लिये भीमसेन और कृष्ण के युद्ध का तथा उर्वशी की शापमुक्ति की कथा निबद्ध है। चक्रव्यूह कथा प्रसिद्ध ही है जिसकी परिसमाप्ति जयद्रथ वध से होती है। कवि ने दोनों कथाओं में कुछ परिवर्तन किया है जिससे कथा रोचक और सरस हो उठी है। शृंगार और वीर रस के वर्णन अनुरूप हैं। मूल के प्रारंभ में 'कविपरिचय', 'भाषावैज्ञानिक अध्ययन' तथा 'भूमिका' शीर्षकों से संपादक ने शोधपूर्ण विचार उपस्थित किए हैं जिनसे भीम कवि और उनकी रचनाओं की विशिष्टता व्यक्त होती है। अंत में 'शब्दमाधुरी' के अंतर्गत विशिष्ट शब्दों के अर्थ और यथासंभव व्युत्पत्ति भी दी गई है जो अर्थनिर्धारण में सहायक है। विस्मृत कवि भीम की इन कृतियों का अन्वेषण, संपादन और प्रकाशन हिंदी साहित्य की श्रीवृद्धि में महत्वपूर्ण योगदान है।

—विश्वनाथ त्रिपाठी

*

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

पुस्तकालय
110720
गुरुकुल कांगड़ी वि

वर्ष ७१
संवत् २०२३
अंक ३-४

संपादकमंडल

श्री डा० संपूर्णानंद
श्री कमलापति त्रिपाठी
श्री डा० नगेंद्र
श्री शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र'
श्री करुणापति त्रिपाठी
संयोजक, संपादकमंडल

श्री सुधाकर पांडेय
संयोजक पत्रिका एवं
सहसंयोजक, संपादकमंडल

वार्षिक मूल्य १०.००
एक अंक का २.५०

काशी नागरी प्रचारिणी सभा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वार्षिक विषयसूची

१. पृथ्वीराजरासो में भूगोल —डा० सूर्यनारायण पांडेय ... १

२. मंडन और उनका नयनपचासा—डा० किशोरीलाल गुप्त ... ११

३. नंददास द्वारा संकेतित और व्यवहृत काव्य सिद्धांत —श्री छबिनाथ त्रिपाठी ... १८

४. शिवराजभूषण का रचनाकाल—श्री हरिप्रसाद नायक ... ४१

५. मेहरौली अभिलेख की नवीन व्याख्या और चंद्र की पहचान —श्री दीनबंधु पांडेय ... ६०

६. पूर्वांचलीय रामायणों एवं मानस में सीता — डा० रमानाथ त्रिपाठी ... १२६

७. काव्यादर्श का रचनाकाल—श्री जयशंकर त्रिपाठी ... १४९

८. हिंदी अंगरेजी कोशकार्य और पारिभाषिक शब्दनिर्माण —डा० गोपाल शर्मा ... १७२

९. श्वेतांबर वीरचंद्ररचित मातृका शृंगार गाथाकोश —श्री अगरचंद नाहटा ... १६७

१०. जवाहर राय बिलग्रामी—श्री शैलेश जैदी ... २०२

११. पृथ्वीराज - संयोगिता - विवाह : ऐतिहासिक महत्व —डा० अशोककुमार ... २०७

१२. शुद्ध खड़ी बोली का एक प्राचीन रूप —डा० गोपाल राय २१६

१३. जायसी की रचनाएँ और उनका नामकरण —श्री शहाब सरमदी ... २२३

१४. राघवगीतम् या रामगीतम्—डा० प्रभाकर शास्त्री ... २६३

१५. वैयाकरण कवि मार्कंडेय तथा उनका काल —श्री श्यामनारायणसिंह यादव ... ३०७

१६. अभिनवगुप्त की रससूत्र व्याख्या की दार्शनिक पृष्ठभूमि —श्री रामलखन शुक्ल ... ३२१

१७. वैष्णव अनी अखाड़े—श्री वेदप्रकाश गर्ग ३३४

१८. आई पंथ का आई-उग्रप्रकाश—श्री शिवसिंह चोयल ... ३४६

१९. मध्यकालीन वीरकाव्य और इतिहास—डा० राजमल बोरा ... ३६५

२०. विष्णुध्वज के अभिलेख—डा० देवसहाय त्रिवेद ... ४०१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२१. नागर कृतागम में राजा और राजव्यवस्था का स्वरूप
—कुमारी देवकी अहिवासी ... ४०६
२२. वज्जिका भाषा और साहित्य—श्री अजित शुकदेव ... ४२५

पौराणिकी

भक्ति सतसई—स्व० पं० किशोरीलाल गोस्वामी ६१,२३१ तथा ४२६

विमर्श

'बूढ़े मुँह मुहासे लोग देखें तमासे'—संपुष्टि—रायकृष्ण ... ८६
गूजर 'जाट' और नाग'—श्री किशोरीदास वाजपेयी ... ८६
हिंदी के ऐकार और औकार का उच्चारण एवं लिखन
—श्री ब्रजनंदन ... ६१
संत रेण—श्री बैजनाथ सिंहल ६२
जनमेजय पारिक्षित और उसकी राजधानी : स्पष्टीकरण
—डा० देवेंद्र हांडा ... ६७
कुछ शब्दों का मनोरंजक इतिहास—श्री रूपचंद पारीक ... ६६
प्रतापरासो—एक अवलोकन—श्री सौभाग्यसिंह शेखावत ... २४५
'ढोला मारू रा दूहा' के कतिपय संदेहास्पद प्रसंग : पुनर्विचार
—महावीरप्रसाद शर्मा ... ४४८

विविध

भारतेंदु युग से पूर्व के अध्यापक—लेखक—श्री प्रेमप्रकाश गौतम १०१
हरियाणा की महिला का पहनावा—श्री विष्णुदत्त भारद्वाज २५४
हाड़ौती बोली का स्वरूप—श्री कन्हैयालाल शर्मा ... २५८

चयन तथा निर्देश ... ... १०६, २६५ तथा ४५५

समीक्षा

१. नाथ और संत साहित्य : तुलनात्मक अध्ययन—डा० रामनरेश वर्मा ११६
२. मुर्दा सराय : श्री कृष्णदेव प्रसाद गौड़ १२१
३. साहित्य परिचय : श्री सुधाकर पांडेय १२२
४. अंगरेजी हिंदी पर्यायवाची कोश : श्री लालधर त्रिपाठी 'प्रवासी' १२३
५. रासपंचाध्यायी : श्री राधाविनोद गोस्वामी १२५
६. स्वतंत्र और निष्पक्ष चुनाव : श्री शंभुनाथ वाजपेयी ... १२७
७. सवेरा संघर्ष गर्जन—श्री कृष्णदेवप्रसाद गौड़ ... २७३
८. अस्तंगता ,, ... २७४
६. वह नन्हा सा आदमी ,, ... २७६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१०. अठारह सूरज के पौधे—श्री विप्र त्रिपाठी ... २७७
११ गीतों का ताजमहल ,, ... २७८
१२. पड़ोसी देशों में—श्री विश्वनाथ त्रिपाठी ... २७६
१३. कुछ शब्द कुछ रेखाएँ ,, ... २८०
१४. तार सप्तक—श्री व्रजदा ... २८१
१५ स्मृतियाँ और कृतियाँ—श्री शंभुनाथ वाजपेयी ... २८६
१६ मानपुरी पदावली—श्री नागेंद्रनाथ उपाध्याय ... ४७८
१७ अपभ्रंश काव्य और साहित्य—श्री रामशंकर भट्टाचार्य ... ४७६
१८ हिंदी शब्द रचना— ,, ,, ... ४८१
१६ जीवन के कुछ क्षणों में—श्री जगदीश शर्मा ... ४८५
२० हिंदी के आदि मुद्रित ग्रंथ—श्री विश्वनाथ त्रिपाठी ... ४८६
२१ हिंदी नाट्यसाहित्य : ग्रंथ पुटी—श्री जगदीश शर्मा ... ४८७
२१ डंगवै काव्य तथा चक्रव्यूह कथा—श्री विश्वनाथ त्रिपाठी ... ४८८

*

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी के

नवीनतम प्रकाशन

मानस अनुशीलन—संपादक पं० सुधाकर पांडेय, मूल्य १६·७५

मानस अनुशीलन स्व० श्री शंभुनारायण चौबे द्वारा नागरीप्रचारिणी पत्रिका के विविध अंकों में लिखित लेखों का संकलन है। साथ ही तीन सौ पृष्ठों के अपने परिशिष्ट में संपादक ने मानस पर शोध करनेवालों के लिये अत्यंत उपयोगी सहायक और विशिष्ट सामग्री उपस्थित की है।

लुगदी और कागज—लेखक श्री प्रो० फूलदेव सहाय वर्मा, मूल्य ८-००

प्रस्तुत पुस्तक में ऐसी सामग्री दी गई है जिससे लोगों को यह विदित हो जाय कि कागज क्या है और उसका निर्माण कैसे होता है। साथ ही इसमें कागजनिर्माण के विकास का इतिहास भी दे दिया गया है।

सूत्रशैली और अपभ्रंश व्याकरण—ले० डॉ० परममित्र शास्त्री, मूल्य ८-००

प्रस्तुत शोध निबंध में विद्वान लेखक ने सूत्रशैली का ऐतिहासिक विवेचन प्रस्तुत करते हुए उसकी अत्यंत निष्पक्ष और मान्यमत की स्थापना की है। साथ ही अपभ्रंश व्याकरण की सरल रूपरेखा भी प्रस्तुत कर दी है।

मुगल दरबार—अनुवादक—ब्रजरत्नदास जी, मूल्य ३३-००

प्रस्तुत पुस्तक ५ भागों में है। इसके चार भाग पहिले ही प्रकाशित हो चुके थे। ५वाँ भाग अभी अभी प्रकाशित हुआ है जिसका मूल्य ११-०० है। इसमें मुगलकालीन सामंतों का विस्तृत जीवनचरित्र दिया गया है। पूरी पुस्तक मुगलकालीन इतिहास का दिग्दर्शन कराने में पूर्णतः सक्षम है।

शीघ्र ही प्रकाशित होनेवाली पुस्तकें

धातु और क्रियापद—लेखक श्री पं० करुणापति त्रिपाठी

लालचंद्रिका—सं० श्री पं० सुधाकर पांडेय

हिंदी शब्दसागर भाग ४—संपादक डा० श्यामसुंदरदास

हिंदी विश्वकोश खंड १०—संपादक श्री डा० रामप्रसाद त्रिपाठी

द्विजदेव और उनका काव्य—डॉ अंबिका प्रसाद वाजपेयी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नागरीप्रचारिणी सभा के कुछ विशिष्ट प्रकाशन

हिंदी विश्वकोश—अंग्रेजी इन्साइक्लोपीडिया के ढंग का हिंदी में प्रथम कोश। मूल्य साधारण संस्करण २५–००, विशेष संस्करण—३०–००

भाग १ में 'अं से इले०', भाग २ में 'इलेक्ट्रानकी से काहिरा', भाग ३ में 'किंगलियर से गैजेलगीदो', भाग ४ में 'गैदार से जीव तत्व', भाग ५ में 'जीवदीप्ति से दर्', भाग ६ में 'दरभंगा से न्वेबोलेआन', भाग ७ में 'पंखा से पराग', भाग ८ में 'प्राच्य चर्च से भारतीय जनसंघ' तथा भाग ९ में 'भारतीय जमींदारी' से 'योहन' तक के विषय आ चुके हैं। दसवाँ भाग शीघ्र ही प्रकाशित हो रहा है।

हिंदी शब्दसागर—परिवर्द्धित एवं संशोधित तथा व्याकरणनिर्देश, प्रामाणिक व्युत्पत्ति, अर्थसंग्रह, अर्थच्छाया, सोदाहरण प्रयोगों से संयुक्त संस्करण। शब्दसंख्या ढाई लाख। प्रथम तीन भाग प्रकाशित हो चुके हैं। चौथा भाग शीघ्र ही प्रकाश्य। मूल्य प्रति भाग १८–००

हस्तलिखित हिंदी ग्रंथों का संक्षिप्त विवरण—[सन् १९०० से १९५५ ई० तक] दो खंडों में, मूल्य प्रतिखंड ३०–००
खोज में उपलब्ध हिंदी के हस्तलिखित ग्रंथों का संक्षिप्त विवरण।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Compiled
1999-2000

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri